वर्तमान भारतीय राष्ट्रीय परिवेश में पं० दीनदयाल उपाध्याय के शैक्षिक विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन

卐

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी
की पी.एच.डी. "शिक्षा शास्त्र" उपाधि हेतु
"प्रस्तुत शोध प्रबन्ध"

1996 - 97

卐

निर्देशक-
डॉ० जे. एल. वर्मा
एम.ए., एम.एड., पी.एच.डी.
प्रवक्ता, शिक्षा संकाय
बुन्देलखण्ड कालेज, झाँसी
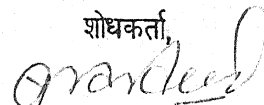
शोधकर्ता-
बाबूलाल तिवारी
एम.ए., एम.एड.
प्रवक्ता शिक्षा संकाय
बुन्देलखण्ड कालेज, झाँसी

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

घोषणा - पत्र

मैं,बाबू लाल तिवारी, घोषणा करता हूँ कि मैनें अपना शोध प्रबन्ध "वर्तमान् भारतीय राष्ट्रीय परिवेश में पं0 दीनदयाल उपाध्याय के शैक्षिक विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन " डा. जे.एल.वर्मा प्रवक्ता, बुन्देलखण्ड़ कालेज, झाँसी के निर्देशन में पूरा किया है । यह मेरी अपनी मौलिक कृति है जो इससे पूर्व अन्यत्र कहीं न तो प्रकाशित हुई है और न प्रस्तुत की गयी है ।

उपरोक्त घोषणा के साथ यह शोध प्रबन्ध बुन्देलखण्ड़ विश्वविद्यालय की पी.एच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत है ।
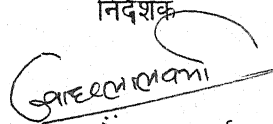
शोधकर्ता,
बाबूलाल तिवारी
एम.ए.,एम.एड.
प्रवक्ता, शिक्षा संकाय
बुन्देलखण्ड कालेज, झाँसी ।

प्रमाण - पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि प्रस्तुत शोधकार्य, " वर्तमान भारतीय राष्ट्रीय परिवेश में पं० दीन दयाल उपाध्याय के शैक्षिक विचारो का आलोचनात्मक अध्ययन " मेरे निर्देशन में सम्पन्न हुआ है । शोधकर्ता प्रो० बाबूलाल तिवारी की लगन एवं परिश्रम का परिणाम यह शोध कार्य पूर्णतया अनूदित है जो भावी शोध कर्ताओं के लिए पथप्रदर्शक का कार्य करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है ।

इनके उज्जवल भविष्य का अशिर्वाद देता हुआ मैं प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के परीक्षण की संस्तुति करता हूँ ।

निर्देशक

डा० जे.एल. वर्मा

प्रवक्ता, शिक्षा संकाय,

बुन्देलखण्ड कालेज. झाँसी ।

" प्राक्कथन "

ओ नीलकण्ठ । हर भेदभाव के कालकूट को पीनेवाले,
सुधा कलश "एकात्मवाद" का जनमानस को देने वाले ।
ओ भारत संस्कृति के मण्डन ।ओ भारत माथे के चन्दन ,
मातृभूमि की पूजा के हित, धूप दीप सा जलता जीवन ।।

× × × ×

था विश्व चकित सुनकर तुझको, लेकिन तू ही नींद ले गया,
हाय । क्रूर कापालिक कोई, तुमको हमसे छीन ले गया ।
तव प्रणीत् "एकात्मवाद " ही मानवता का त्राण हरेगा ,
ओ सपूत । तू रहे ना रहे, तेरा ' वैभव' अमर रहेगा ।।

× × × ×

अंग्रेजो की कुटिल नीति का बोया हुआ बीज आज विशालकाय विष वृक्ष बनकर भारतीय समाज के ऊपर परिव्याप्त है । परिणाम स्वरूप भारतीय संस्कृति और भारतीय जीवन मूल्यों का क्षरण होता जा रहा है । वर्तमान भारतीय समाज "धर्म" की पूर्णतया उपेक्षा करता हुआ अधिकाधिक ' धन ' कमाकर विविध कामनाओं की पूर्ति के लालच में विक्षिप्त " मुक्ति " का दिवास्वप्न देख रहा है । आज राष्ट्र और समाज से भी बढ़कर यदि कोई वस्तु प्रिय है तो वह है " धन " । इसीलिए यहाँ 'अमानत में खयानत ' हो रही है । बडे ही विश्वास के साथ जनता जिनको राष्ट्र रक्षा का भार सौप देती है वही सत्ताधीश जनता और राष्ट्र के साथ विश्वासघात करके अपनी तिजोड़ियों को भरने में जरा भी संकोच नही करते । खेद है, त्यागी और तपस्वी ऋषी मुनियों की इस धरा में सर्वत्र 'आसक्ति' की पौध लहलहा रही है ।

स्वतन्त्रता के पूर्व हजारे इस देश में स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द और रवीन्द्रनाथ जैसे समाज शिक्षक, सुभाष चन्द्र बोस, बाल गंगाधर तिलक, जैसे नेता, आजाद भगतसिंह, मदनलाल धींगरा और वीर सावरकर जैसे क्रान्तिकारी सपूतों ने जन्म लेकर अपने त्याग, बलिदान एवं शौर्य से इस धरा को विश्व में गौरवान्वित किया था । लेकिन स्वतन्त्रता के बाद उसी मातृभूमि की कोख ने पहले जैसे प्रतिभाओं को जन्म देना ही बन्द कर दिया है । इसका एक ही कारण है कि स्वतन्त्रता के पहले हमारे अन्दर 'स्वदेशी' की प्रबल भावना थी परन्तु स्वतन्त्रता के बाद हमारे अन्दर 'पाश्चात्य' का व्यामोह उत्पन्न हो गया है । परानुकरण का भाव चल पड़ा है । हमें अपने देश की प्रत्येक वस्तु और विचार 'हेय' तथा विदेश की हर वस्तु और विचार 'प्रेय ' लगने लगे हैं । लार्ड मैकाले का सपना साकार हुआ । आज उसकी

प्रेतात्मा अपनी इस सफलता पर अट्टहास कर रही होगी । हमारी मातृभूमि अपनी इस दुर्दशा पर आंसू बहा रही है ।

इस दुरावस्था को दूर करने की 'चिन्ता' से ही प्रस्तुत 'चिन्तन' सम्भव हो सका है । शोधकर्ता देख रहा है कि दुनिया की सभी विचार धाराए, पूंजीवाद और साम्यवाद अपने अपने जन्म स्थान में ही असफल होकर ध्वस्त होती जा रही है और हम है कि आंख बन्द करके उन्हीं का मंत्रजाप करते चले जा रहे हैं । यही कारण है कि साम्यवाद के व्यक्ति शोषण और पूंजीवाद की अर्थलोलुपता ने हमारे राष्ट्र प्रेम, त्याग, बलिदान, दया, बन्धुत्व, एकात्मता, समता और समरसता जैसे उदार मानवीय गुणों का अपहरण कर लिया है ।

हम खुश हो रहे हैं कि शिक्षा बढ़ रही है, शिक्षा संस्थाए बढ़ रही है, शिक्षार्थी बढ़ रहे हैं लेकिन क्या कारण है कि शिक्षा की इस वृद्धि के साथ-साथ हिसां, बेईमानी, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार और ईर्ष्या भी बढ़ रही है । इसका अर्थ है कि कहीं न कहीं बुनियाद में ही कोई खराबी है और इस खराबी की जिम्मेदार है " शिक्षा " । विदेशों से उधार ली गयी " शिक्षा " ।

जब एक ही औषधि एक ही प्रकार के सभी रोगों के निदान के लिए कारगर सिद्ध नही होती तो फिर एक जैसी विचार धाराएं सभी देशों के लिए उपयोगी कैसे सिद्ध हो सकती है । "यद्देशस्य यो जन्तुः तद्देशस्य तस्यौषधम् " । अतएव हमें अपने गर्भनाल से जुड़ी हुई विचारधारा चाहिए, तभी हमारा कल्याण हो सकता है । भारतीय संस्कृति के पुरोधा, माँ सरस्वती के वरद पुत्र पुण्यश्लोक पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने जीवन विधायन सम्बन्धी जो सूत्र प्रतिपादित किये हैं उनमें मानव जीवन की सभी समस्याओं का समाधान निहित है । अस्तु शोधकर्ता का मानना है कि श्री उपाध्याय जी द्वारा प्रणीत् एकात्ममानव दर्शन पर आधारित शिक्षा ही वर्तमान दुरावस्था के विकट अन्धकार को दूर कर नव सृजन का मार्ग प्रशस्त कर सकती है । इसी आशा के साथ किया गया यह अध्ययन शोधकर्ता का लघु एवं तुच्छ प्रयास है ।

इस प्रयास के लिए मुझे जिन महानुभावो से प्रेरणा एवं आशीर्वाद प्राप्त हुआ है उनका मैं हृदय से आभारी हूँ । सर्वप्रथम तो मैं तत्कालीन जिला प्रचारक, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, मान्यवर नरेश जी का आभारी हूँ जिनकी पुण्य प्रेरणा से मैं झाँसी आकर इस शोध के योग्य बन सका हूँ । पुनः मैं व्यापार मण्डल झाँसी के वरिष्ठ पदाधिकारियों श्रीमान् सियाशरण सरावगी, श्री प्रकाश चन्द्र गुप्ता, श्री ओम प्रकाश गुप्ता, श्री वीरेन्द्र कंचन का हृदय से आभारी हूँ जिनके सद्प्रयासों से तत्कालीन प्रबन्धमंत्री, बुन्देलखण्ड कालेज, झाँसी एवं जिलाध्यक्ष, व्यापार मण्डल, मान्यवर श्री पी.सी.जैन ने मुझे बुन्देलखण्ड कालेज में सेवा का अवसर प्रदान किया । साथ ही साथ मैं यह कभी नहीं भूल सकता कि श्रीमान् भीम त्रिपाठी 'एडवोकेट' के आर्शिवाद के बिना मुझे बुन्देलखण्ड़ कालेज में सेवा का अवसर कभी नही मिल सकता था । इसलिए मैं

उनका हृदय से आभार प्रकट करता हूँ । पुनश्च: मैं आभारी हूँ अपने निर्देशक एवं गुरू पूज्य डा. जे.एल.वर्मा, प्रवक्ता शिक्षा संकाय, बुन्देलखण्ड कालेज, झाँसी का जिनके आर्शीवाद से यह अध्ययन निर्विघ्न सम्पन्न हो सका । मैं आभार प्रकट करता हूँ पूज्य माताश्री सरोज अग्निहोत्री, पत्नी श्रीमान राजेन्द्र अग्निहोत्री, सांसद का जिन्होंने मुझे प्रचुर मात्रा में सम्बन्धित साहित्य उपलब्ध कराया । साथ ही श्रीमती माधुरी शुक्ला पत्नी श्रीमान रवीन्द्र शुक्ला, विधायक एवं पूर्व मंत्री का भी आभारी हूँ जिन्होंने मुझे अनेक पुस्तकें उपलब्ध करायी । मेरे इस शोध कार्य में त्रुटिसुधार का सहयोग करके मुझे अनुग्रहीत् किया है मेरे अग्रज मित्र श्री राजकरण त्रिपाठी एडवोकेट हाईकोर्ठ एवं अनुज श्री शिवाकान्त त्रिपाठी, प्रवक्ता, गणित विभाग बुन्देलखण्ड़ कालेज, झाँसी ने । मेरी पत्नी एवं अनुजों के सहयोग के अभाव में यह अध्ययन कैसे पूर्ण हो सकता था ? इसलिए उनका भी आभार प्रकट करना मैं अपना दायित्व समझता हूँ । तदनन्तर "शहाणे वाणिज्य विद्यालय " ने अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक 'टाइप' करके मेरा सहयोग किया है, मैं उनका हृदय से आभारी हूँ । प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में जिन महानुभावों का सहयोग मुझे इस कार्य में प्राप्त हुआ है, मैं उन सबका आभार प्रकट करता हूँ, उनका वन्दन करता हूँ ।

विनयावनत्

प्रो0 बाबूलाल तिवारी
बुन्देलखण्ड़ कालेज, झाँसी ।

विषय - सूची

अध्याय - प्रथम | पृष्ठ

' वर्तमान शोधकार्य के प्रेरक स्रोत एवं आवश्यकता '

अध्याय - द्वितीय

' उपाध्याय जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व '

अध्याय - तृतीय

' उपाध्याय जी की दार्शनिक विचारधारा '

पृष्ठ

अध्याय - चतुर्थ

' उपाध्याय जी की शैक्षिक विचारधारा '

अध्याय - १

वर्तमान शोध कार्य के प्रेरक श्रोत एवं आवश्यकता

अध्याय - ।

"वर्तमान शोधकार्य के प्रेरक स्रोत एवं आवश्यकता"

(क) समस्या की उत्पत्ति -

समस्त सृष्टि के रचनाकार परमपिता परमेश्वर ने मनुष्य के रूप में अपनी सर्वोत्तम कृति का सृजन किया है । जन्म लेने के बाद कई वर्षों तक निरुपाय एवं परनिर्भर रहने वाला यह मनुष्य बड़ा होकर समस्त प्राणि जगत का शासक बन बैठता है । केवल भूमण्डल पर ही नहीं तो जल और आकाश पर भी अपने पैर जमा लेता है । परन्तु जन्म लेने के तुरन्त बाद चलना फिरना आरम्भ करने वाला हृष्ट-पुष्ट और स्वावलम्बी पशु हजारों वर्षों के बाद भी, जैसा पैदा हुआ था वैसा ही है । यह सब अन्तर कैसे हुआ इसका उत्तर है शिक्षा । शिक्षा अर्थात सीखने और सिखाने की क्षमता । मानव की ऐसी विशेषता है जो उसे पशु जगत से बहुत ऊंचा उठा देती है । शिक्षा के माध्यम से ही मानव जाति के द्वारा अर्जित सहस्त्रों वर्षों के अनुभव तथा संस्कृति बालक को हस्तान्तरित कर दिए जाते हैं जिससे उसका शारीरिक मानसिक सौन्दर्यात्मक नैतिक और आध्यात्मिक विकास होता है । अतः मानव के ज्ञान विज्ञान की प्रगति में शिक्षा की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका है । "इस प्रकार हम देखते हैं कि भौतिक, बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र में जो भी मानव की उपलब्धियां हैं - चाहे वे गगनचुम्बी अट्टालिकाओं के रूप में हों अथवा चन्द्रमा तक जाने वाले यान के रूप में प्रकृति के रहस्यों को खोलने वाले सिद्धान्तों के रूप में हों अथवा आणविक शक्ति से भी परे आत्मा के ज्ञान के रूप में कला और साहित्य द्वारा सौन्दर्यानुभूति के रूप में हो अथवा समाज रचना के विभिन्न आयामों के रूप में हो वे आश्चर्यजनक हैं और उन सब के पीछे मानव की यह शैक्षिक क्षमता ही है ।"[1]

अतः यह बात निर्विवाद रूप से सत्य है कि "व्यक्ति के मानसिक विकास में शिक्षा की उल्लेखनीय भूमिका होती है शिक्षित व्यक्ति राष्ट्र को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण योगदान कर सकता है ।"[2]

प्रत्येक राष्ट्र की अपनी विशेष भूमि भौगोलिक परिस्थिति तथा ऐतिहासिक परम्पराओं के कारण एक विशेष प्रकार की संस्कृति विकसित हो जाती है वह राष्ट्र अपनी उस

---

1. विद्यालोक : वार्षिक पत्रिका, राष्ट्रीय पुनर्जागरण में शिक्षा का महत्व - पृष्ठ 29
चन्द्रपाल सिंह
प्रकाशक - भारतीय शिक्षा समिति, उत्तर प्रदेश

2. संदेश 10 + 2 + 3 शिक्षा प्रणाली विशेषांक 1977
कमलापति त्रिपाठी
तत्कालीन रेलमन्त्री,
भारत सरकार

विशेष संस्कृति के अनुकूल ही अपनी व्यवस्थाऐं बनाकर उन्नति कर सकता है । लेकिन "इतिहास ने भारतीयों के साथ क्रूर मजाक किया मुस्लिम आक्रान्ताओं ने स्वतन्त्र चिन्तन और अध्ययन को अपराध और द्रोह घोषित कर दिया। तक्षशिला और नालन्दा विश्वविद्यालयों में संग्रहीत भारतीय बौद्धिक बिरासत की अंत्येष्टि कर भारतीय दर्शन के मूल तत्व को अप्रमाणिक कर दिया गया ।"[1]

परतन्त्र राष्ट्र के रूप में भारत को एक दास की तरह शासक राष्ट्र की भाषा एवं संस्कृति को स्वीकार करना पड़ा । बलात् लादी हुई संस्कृति अत्यन्त भयावह होती है और भारत के साथ यही हुआ अंग्रेजों ने अपनी शिक्षा नीति के द्वारा हमें ऐसा मीठा जहर पिलाया कि हम स्वयं अपनी संस्कृति और परम्पराओं को भूलने लगे अथवा उनसे घृणा करने लगे साथ ही हमें पश्चिमी भाषा पश्चिमी चाल-चलन अच्छे लगने लगे जो हमारे लिए अत्यन्त खतरनाक सिद्ध हुए ।

इस प्रकार भारतीय दर्शन तथा इतिहास विश्व के सामने हास परिहास की सामग्री बन गया।उपहास करते हुए "लार्ड मैकाले ने अपनी पुस्तक 'मिनट आफ 1835' में लिखा है -

"मुझे एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं मिल सका जो इस तथ्य को नकार सके कि अच्छी यूरोपीय किताबों की एक अलमारी की कीमत भारत और अरब में लिखे गए साहित्य से अधिक है । संस्कृत भाषा में लिखी गयी सारी पुस्तकों का सार इंग्लैंड में प्रारम्भिक कक्षाओं में पढ़ाई जाने वाली विषय वस्तु के समक्ष बौना साबित होगा । उनका (भारतीयों का) खगोल विज्ञान ऐसा है कि इंग्लैंड के बोर्डिंग स्कूल की किशोरियों में विनोद का विषय बन जाए । इतिहास ऐसे राजाओं का जो 30 फिट लम्बे थे और राज्य 30 हजार साल लम्बे .... यानि झूठा इतिहास, झूठा भूगोल, झूठा खगोल विज्ञान ।" इस कुप्रचार में मिशनरियां जोर-शोर से लग गयी और पश्चिम के वैज्ञानिक उपलब्धियों के जयगान में भारतीय दर्शन का उद्घोष दब गया ।"[2]

1947 के बाद जब हम अंग्रेजों के चंगुल से छूटे तो हमें चाहिए था कि हम अपनी स्वतन्त्र शिक्षा नीति को कार्यान्वित करते । इस सम्बन्ध में पं. दीनदयाल जी उपाध्याय ने चिन्ता व्यक्त करते हुए कहा कि "देश स्वतन्त्र होने के बाद स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न हम सब लोगों के सामने आ जाना चाहिए कि अब हमारे देश की दशा क्या होगी ? किन्तु सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि देश की स्वतन्त्रता के बाद भी जितने गम्भीर रूप से इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए था उतने गम्भीर रूप से लोगों ने विचार नहीं किया ।"[3]

---

1. दैनिक जागरण 17 अप्रैल 1994 साप्ताहिक परिशिष्ट 'शिक्षा बनाम सरकारी प्रचार'
   प्रस्तुति - दीपक बाजपेयी
2. तथैव (उपरोक्त)
3. राष्ट्रवाद की सही कल्पना
   एकात्म मानव दर्शन

पं. जी की चिन्ता और अधिक बढ़ जाती है जब वह देखते हैं कि राष्ट्र के सत्तासीन नेता उपरोक्त प्रश्न का हल ढूंढने के लिए गहराई से कोई प्रयास नहीं कर रहे "राष्ट्र का मार्गदर्शन करने वाले तथा राजनीति के क्षेत्र में काम करने वाले अधिकांश व्यक्ति इस प्रश्न की ओर उदासीन है । फलतः भारत की राजनीति अवसरवादी और सिद्धान्तहीन व्यक्तियों का अखाड़ा बन गयी है, राजनीतिज्ञों तथा राजनीतिक दलों के न तो कोई सिद्धान्त एवं आदर्श हैं न कोई आचार संहिता ।"[1] इस देश के भाग्य विधाता वे लोग बने जिनकी शिक्षादीक्षा कैम्ब्रिज और आक्सफोर्ड में हुई थी तथा जो अपनी मातृभाषा में सोचने बोलने और लिखने के बजाय अंग्रेजी में सोचने, बोलने और लिखने में गर्व अनुभव करते थे, वे कैसे यहां की संस्कृति को प्रतिष्ठा दे सकते थे, उन्होंने भारत को इंग्लैंड और अमेरिका जैसे पश्चिमी देशों का नकलची बनाने की चेष्टा की । गांधी के घोषित अनुयायी होते हुए भी उन्होंने गांधी के सारे सिद्धान्तों की हत्या की । भारत की आध्यात्मिक संस्कृति पर उन्होंने पश्चिम की भौतिकवादी संस्कृति को तरजीह दी ।

"आज भारत के शिक्षित वर्ग के जीवन मूल्यों पर पश्चिम का यह प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है । हमें निर्णय करना पडेगा कि यह प्रभाव अच्छा है या बुरा । जब तक अंग्रेज थे तब तक तो हम स्वदेशी की भावना से अंग्रेजियत को दूर रखने में ही गौरव समझते थे किन्तु अब जब अंग्रेज चला गया है तब अंग्रेजियत पश्चिम की प्रगति का द्योतक एवम् माध्यम बनकर अनुकरण की वस्तु बन गयी है ।"[2]

पं. जी ने चेतावनी भरे शब्दों में कहा है, "कुछ ऐसे भी हैं जो पाश्चात्य राजनीति एवम् अर्थनीति की दिशा को ही प्रगति की दिशा समझते हैं और इसलिए भारत पर वहां की स्थिति का प्रक्षेपण करना चाहते हैं । अतः भारत की भावी दिशा का निर्णय करने से पूर्व यह उचित होगा कि हम पश्चिम की राजनीति के वैचारिक अधिष्ठान तथा उनकी वर्तमान पहेली का विचार कर लें ।"[3]

विचारोपरान्त हम पाएंगे कि "विश्व ऐसी स्थिति में नहीं है कि हमारा कुछ मार्गदर्शन कर सके वह तो स्वयं चौराहे पर है ऐसी अवस्था में हम उससे किसी प्रकार का मार्गदर्शन नहीं पा सकते ।"[4]

किसी भी राष्ट्र के समुचित विकास के लिए उसको अपने सांस्कृतिक आदर्शों के

---

1. तथैव पृष्ठ 5
2. राष्ट्रवाद की सही कल्पना

एकात्म मानव दर्शन

पं. दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ 7

3. तथैव पृष्ठ 7-8
4. तथैव पृष्ठ 12

अनुकूल आगे बढ़ने हेतु उचित शिक्षा की महती आवश्यकता होती है, क्योंकि शिक्षा के द्वारा ही समाज में वांछित परिवर्तन लाए जा सकते हैं । इजरायल जैसे छोटे देश से हमें प्रेरणा प्राप्त करनी चाहिए । हमारी दिल्ली की आबादी से भी कम चारो ओर से मुस्लिम अरब देशों से घिरा हुआ सफलतापूर्वक सीना तान कर के खड़ा है । इसका केवल एक ही कारण है कि स्वतन्त्र होते ही उसने अपनी पुरानी हिन्दू भाषा को ही अपनी राष्ट्र भाषा बनाया और एक हम हैं जिनके आधुनिक भारतीय शिक्षा की आधारशिला अंग्रेजों के द्वारा रखी गयी थी, तथा शिक्षा के उद्देश्यों का वर्णन करते हुए मैकाले ने स्वयं कहा था - "वर्तमान में हमें एक ऐसा वर्ग बनाने का प्रयास करना है जो रक्त और रंग में तो भारतीय हों पर स्वभाव, विचारों, नैतिकता और बौद्धिकता में अंग्रेज । ताकि वे हमारे और करोड़ों भारतीयों के बीच में द्विभाषिए का काम कर सके जिनके ऊपर हम शासन करते हैं ।"[1]

इसी आधुनिक शिक्षा के ऊपर टिप्पणी करते हुए स्वामी विवेकानन्द ने मद्रास में अपने एक भाषण में कहा था - प्रथमतः कोई व्यक्तित्व निर्माण के लिए यह शिक्षा नितान्त अनुपयोगी है । यह समग्रता में मात्र नकारात्मक शिक्षा है । नकारात्मक शिक्षा या प्रशिक्षण मृत्यु से भी बदतर होता है विद्यालय में प्रवेश के पश्चात बालक जिस प्रथम तथ्य से परिचित होता है वह यह है कि उसके पिता मूर्ख है दूसरा यह कि उसके पितामह पागल है तीसरा यह कि उसके अध्यापक ढकोसलावादी हैं और चौथा यह कि उसके सारे धर्म ग्रन्थ झूठ का संग्रह है । सोलह वर्ष की आयु तक वह नकार की गठरी बन जाता है निर्जीव और रीढ़हीन ।'[2]

प्रचलित शिक्षा प्रणाली की आलोचना करते हुए अर्लआफ रोनाल्ड शे ने कहा है कि "इस शिक्षा का परिणाम यह निकला कि प्राचीन ज्ञान का लोप हो गया प्राचीन संस्कृति और परम्पराएं एक ओर ठुकरा दी गयीं और प्राचीन वैदिक धर्म को यह कहकर तिरस्कृत कर दिया गया कि यह तो गया बीता अन्ध विश्वास है ।"[3]

---

1. मैकाले का विवरण पत्र 1835 व निस्यन्दन सिद्धान्त

भारतीय शिक्षा का इतिहास
पी.डी. पाठक पृष्ठ 87

2. दैनिक जागरण 17 अप्रैल 1994 'शिक्षा बनाम सरकारी प्रचार' प्रस्तुति - दीपक बाजपेयी

3. सम्पादकीय, प्रचलित शिक्षा प्रणाली की आलोचना शैक्षिक प्रगति विशेषांक 1976 पृष्ठ 17

स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार "अंग्रेजी पढ़ने में कोई दोष नहीं है परन्तु इस शिक्षा ने हमें अभारतीय और अधार्मिक बना दिया है । सच्ची वैदिक और भारतीय शिक्षा के बिना हम शारीरिक रूप से भले ही स्वतन्त्र होने का प्रयास करलें परन्तु मानसिक और आत्मिक दृष्टि से सदैव दास बने रहेंगे ।"[1]

श्रीमती एनीबेसेन्ट ने भारत की आधुनिक शिक्षा की आलोचना करते हुए कहा है कि "भारत में आधुनिक शिक्षा केवल मानसिक और बौद्धिक स्वरूप के प्रशिक्षण तक ही सीमित है । उसने व्यक्ति के आध्यात्मिक स्वरूप के विकास को भावात्मक विकास को तथा शारीरिक विकास और प्रशिक्षण को बिल्कुल ही भुला दिया है ।"[2]

स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में "धर्म हमारी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का अंग होना चाहिए यह जीवन की दिशा है विकास की दिशा है और यह भारत में कल्याण का मार्ग है धर्म के बिना भारतीय शिक्षा राष्ट्रीय नहीं हो पाई ।"[3]

इस शिक्षा व्यवस्था के परिणाम प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में हमारे सामने आए अपनी पुस्तक "ए सेक्युलर एजेण्डा " में अरूण शौरी ने लिखा है - "इस सरकारी प्रचार (शिक्षा) ने शिक्षार्थियों में यह हीन भावना भर दी है कि हमारी संस्कृति हीन है जिसने हमें परतन्त्रता विरासत में दी ।"[4]

इस प्रकार प्रचलित शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन की बात को ध्यान में रखते हुए स्वतन्त्रता के बाद पुनः निर्माण और समीक्षा के दौर में शिक्षा को भी विषय बनाया गया अनेकानेक आयोगों एवं समितियों का गठन किया गया । ताराचन्द्र समिति 1948 माध्यमिक शिक्षा एवं राधाकृष्णन आयोग 1948-49 उच्चशिक्षा तथा मुदालियर आयोग 1952-53 मा. शिक्षा में सुधार के लिए गठित किए गए । तदुपरान्त सम्पूर्ण शिक्षा पर विचार करने के लिए 1964 में डा. दौलत सिंह कोठारी की अध्यक्षता में भारतीय शिक्षा आयोग का गठन हुआ । इस आयोग ने शिक्षा के सभी क्षेत्रों पर विचार किया और विशाल ग्रन्थ के रूप में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया । इसके बाद हमारे युवा प्रधानमन्त्री स्वर्गीय श्री राजीव गांधी ने सांस्कृतिकविरासत की पुनः प्राप्ति हेतु राष्ट्रीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए शिक्षा प्रणाली में मौलिक परिवर्तन की बात सोची और 1986 में नई शिक्षा नीति निर्धारित करने की घोषणा की ।

---

1. तथैव पृष्ठ 17
2. तथैव पृष्ठ 18
3. तथैव पृष्ठ 18
4. शिक्षा बनाम सरकारी प्रचार दैनिक जागरण 17 अप्रैल 1994 प्रस्तुति - दीपक बाजपेयी

इस नई शिक्षा नीति के समर्थन में अति उत्साही नवयुवक श्री विमल तिवारी (तत्कालीन राष्ट्रीय अध्यक्ष राष्ट्रीय छात्र संगठन कांग्रेस (ई)) ने लक्ष्मी व्यायामशाला झाँसी में कार्यकर्ता सम्मेलन का उद्घाटन करते हुए यहां तक कह डाला कि "वास्तव में अभी तक हम लोग स्वतन्त्र नहीं थे लेकिन नई शिक्षा नीति 1986 के लागू हो जाने से हमें स्वतन्त्रता का अनुभव हो रहा है ।"

अतः शिक्षा प्रणाली और पाठ्य चर्या में सुधार के सतत् प्रयत्न होते आए हैं शिक्षा को अनेकोंबार पुर्नसमीक्षा की संकरी गलियों से गुजरना पड़ा । पर उसके समीक्षक और मार्गदर्शक प्रायः वे ही थे जो मैकाले की रीढ़हीन बुद्धिजीवी निर्मात्री शिक्षा व्यवस्था के दंश के शिकार थे ।

कुल मिलाकर वर्तमान शिक्षा का जो स्वरूप हमारे सामने उभरता है वह नितान्त औपचारिक है जिसमें शिक्षा शुद्ध कृत्रिम विधियों से आगे बढ़ती है और पुस्तकीय ज्ञान रटाकर शिक्षार्थी को पण्डित बना देना जिसका लक्ष्य है । जबकि शिक्षा का उद्देश्य केवल कतिपय विषयों की जानकारी देना मात्र नहीं है । शिक्षा के द्वारा बालक का शारीरिक मानसिक बौद्धिक नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास इस प्रकार होना चाहिए कि वह अपने पैरों पर खड़ा होकर समाज और राष्ट्र के प्रति अपने उत्तरदायित्व का पूरी तरह से निर्वाह कर सके । इस प्रकार बालक का सर्वांगीण विकास ही शिक्षा का उद्देश्य है ।

उपरोक्त समस्त बातों का गम्भीरता पूर्वक चिन्तन के उपरान्त शोधार्थी के मस्तिष्क में यह विचार उत्पन्न हुआ कि विश्व के प्रत्येक देश की अपनी-अपनी विशेषताए हैं और हमारे राष्ट्र का भी अपना अलग व्यक्तित्व है हमें अपने राष्ट्र के व्यक्तित्व के अनुरूप चतुर्दिक विकास करना है इसके लिए यह आवश्यक है कि हम प्रगति की दौड़ में पीछे न रहें । अपने विद्यालयों में विज्ञान की शिक्षा पर बल दें और इस शिक्षा को अपने आध्यात्मिक विरासत से सन्नद्ध करें । अतः पं. दीनदयाल उपाध्याय जी की इस बात का ध्यान अवश्य रखना होगा कि "विश्व भर में मनुष्यों के शरीर के अंगों की क्रिया समान होते हुए भी जो औषधि इंग्लैण्ड में कारगर होती है वह भारत में भी उपयोगी सिद्ध होगी, यह निर्विवाद नहीं कहा जा सकता .... इसलिए बाहर की जितनी भी बातें हैं उनको हम उसी प्रकार से लेकर अपने देश में चले यह तो समीचीन नहीं होगा उसके द्वारा हम कभी प्रगति नहीं कर सकेंगे .... हम सम्पूर्ण मानव के ज्ञान और उपलब्धियों का संकलित विचार करें इन तत्वों में जो हमारा है उसे युगानुकूल और जो बाहर का है उसे देशानुकूल ढालकर हम आगे चलने का विचार करें ।"[1]

---

1. अपना देश - अपनी परिस्थितियां

एकात्म मानव वाद पं. दीनदयाल उपाध्याय

पृष्ठ 15-16

बी.डी. जैन कन्या महाविद्यालय, आगरा की प्राचार्या डा. के. मोहिनी गौतम इस कथन का सन्दर्भ, लेते हुए कि "हमारे यहां कि शिक्षा व्यवस्था अंग्रेजों की दी हुई है । भारतीय परिवेश के अनुरूप इसमें परिवर्तन ही नहीं किए गए ।"[1] शोधार्थी ने वर्तमान भारतीय राष्ट्रीय परिवेश के लिए उपयुक्त प्रखर राष्ट्र भक्त एवं महान चिन्तक पं. दीनदयाल उपाध्याय के शैक्षिक विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन करने का निश्चय करते हुए निम्न शोध समस्या का चयन किया है ।

शोध - समस्या

"वर्तमान भारतीय राष्ट्रीय परिवेश में पं. दीनदयाल उपाध्याय के शैक्षिक विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन"

परिभाषीकरण -

1. वर्तमान भारतीय राष्ट्रीय परिवेश से तात्पर्य है स्वतन्त्रता के 48 वर्षों के बाद का हमारा राष्ट्रीय वातावरण ।
2. शैक्षिक विचारों का अर्थ है सामाजिक धार्मिक सांस्कृतिक एवं राजनैतिक मंचों पर दिए गए भाषण, कार्य व्यवहार तथा आचरणों से प्राप्त प्रेरणा और अनेकों पत्र-पत्रिकाओं में लिखे गए लेख तथा सभी प्रकार की साहित्यिक कृतियां ।
3. आलोचनात्मक अध्ययन अर्थात् पं. दीनदयाल जी उपाध्याय के विचारों का राष्ट्रहित में पूर्ण परीक्षण करते हुए उनके दोनों पक्षों कृष्ण पक्ष एवं शुक्ल पक्ष उपयोगिता तथा सीमाओं को प्रकाश में लाना ।

---

1. शिक्षा पद्धति हमारे अनुरूप नहीं है ।

दैनिक जागरण 17 अप्रैल 1994

(ख) अध्ययन का महत्व -

विश्व के अनेकों कर्मयोगियों मनीषियों एवं कर्णधारों ने समाज के लिए सर्वस्व अर्पण करने के बाद भी स्वयं के बारे में एवं अपने कार्यों के बारे में कुछ भी नहीं लिखा । मानो उन्होंने समाज के लिए ही जन्म लिया हो । उन्हीं महापुरुषों की परम्परा में पं. दीनदयाल उपाध्याय को भी रखा जा सकता है । पं. जी ने तो पर्याप्त मात्रा में लेखन कार्य किया है लेकिन शिक्षाविद् के रूप में अपनी शैक्षिक विचार धारा को लिपिबद्ध नहीं किया । पं. जी साहित्यिक प्रतिभा के धनी थे । उन्होंने अनेक विषयों पर लेखन कार्य किया है । पण्डित जी ने प्रातः काल से सायंकाल तक चन्द्रगुप्त की जीवनी लिख डाली थी । यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि देश की अनेक भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ और दीनदयाल जी सफल साहित्यकार के रूप में उभरे । उन्होंने पत्रकारिता तथा साहित्य सृजन का कार्य भी सफलता पूर्वक किया है । राष्ट्रधर्म पाञ्चजन्य तथा स्वदेश जैसे लोकप्रिय पत्रों का सम्पादन किया । वे देश की एकता और अखण्डता के लिए पूरी तरह समर्पित थे। उन्होंने अपने जीवन के हर क्षण को समाज सेवा में लगाया । उन्होंने परिस्थितियों से पराजित होकर सिद्धान्तों से कभी समझौता नहीं किया । निडर स्वभाव मधुर वाणी किन्तु विचारों की दृढ़ता के धनी पंडित जी ने संघर्षपूर्ण जीवन में सदैव कर्म की ब्यवस्था को स्थापित किया उन्होंने व्यक्तिगत सुख सुबिधा की कभी परवाह नहीं की । वे सच्चे अर्थों में कर्मयोगी थे । उनका नाम देश के उच्चतम् नेताओं के साथ बड़े ही आदरपूर्वक लिया जाता है । विश्व भर में चलने वाले आज के सभी राजनैतिक सामाजिक तथा आर्थिक अधूरे वादों से ऊपर उठकर उन्होंने एक अनूठे मौलिक एवं सर्वांगपूर्ण एकात्म मानव वाद की अभिनव और ब्यवहारिक परिकल्पना दी जिसमें मानव के सर्वांगीण विकास पर विशेष बल दिया गया है ।

शोधकर्ता की दृष्टि से ऐसे महापुरुष के विचारों का अध्ययन समाज एवं राष्ट्र के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा तथा इनके शैक्षिक विचारों से भारतीय शिक्षा को राष्ट्रीय चेतना प्राप्त होगी ।

आज सम्पूर्ण जगत में पिछली किसी भी सदी से ज्यादा शिक्षा है ज्यादा विद्यालय हैं लेकिन आज पिछली किसी भी सदी से ज्यादा अशान्ति है, दुःख है, ज्यादा पीड़ा है, घृणा है, ईर्ष्या है, जलन है । अतः निश्चित ही कहीं कोई बुनियाद मे खराबी है और इस तरह की खराबी का दायित्व और किसी पर इतना ज्यादा नहीं है जितना उनपर जिनका शिक्षा से सम्बन्ध है चाहे वह शिक्षक हो चाहे शिक्षार्थी । "सा विद्या या विमुक्तये" लेकिन वर्तमान शिक्षा हमको मुक्ति का मार्ग

नहीं बताती । हम लोगों को विद्यावान बनाएं, डाक्टर बनाएं, गणितज्ञ बनाएं लेकिन यह सब विद्या नहीं यह सब आजीविका के साधन और उपाय है । हम बच्चों को पढ़ा रहे हैं विदेश पढ़ने के लिए भेज रहे हैं हम समझ रहे हैं हम बड़ा काम कर रहे हैं । हम केवल जीविकोपार्जन की कुशलता उन्हें सिखा रहे हैं । शिक्षा से उनका कोई नाता नहीं जोड़ रहे हैं शिक्षा का नाता है जीवन में श्रेष्ठतर मूल्यों का जन्म ।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है - "हमें उस शिक्षा की आवश्यकता है जिसके द्वारा चरित्र का निर्माण होता है मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है बुद्धि का विकास होता है और मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है ।"[1]

अतः भाड़े की शिक्षा प्रणाली अपनी परम्परा में नहीं बैठती ढ़ेर सारे उदर पोषण के विषयों की भीड़ से उत्तम मानव का राष्ट्र के उत्तम अवयव का निर्माण नहीं होता, इसके लिये ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है, जिसमें दृढ़ चरित्र, शरीर व मन की वलोपासना विशुद्ध ज्ञान और धर्म के शाश्वत तत्वों को बिंवित करने जैसी पवित्र बातों के संस्कार बाल्याकाल से दृढ़ करते रहने की योजना हो इस दृष्टि से भारतीय मनीषियों द्वारा दिया गया चिन्तन शोधकर्ता को अत्यन्त महत्वपूर्ण समीचीन एवं युग तथा राष्ट्र के अनुकूल प्रतीत होता है जिन्होंने मानव जीवन का गहराई से अध्ययन करके शाश्वत सुख का मार्ग दिखाने वाला/सर्वांगपूर्ण दर्शन हमको दिया है । आधुनिक युग में स्वामी विवेकानन्द महर्षि अरविन्द महात्मा गांधी, रविन्द्र नाथ टैगोर, पं. दीनदयाल उपाध्याय, गुरू गोलवरकर जैसे विचारकों ने अपने-अपने ढंग से उस भारतीय चिन्तन को प्रकट किया है । हमारे पास वह भारतीय वैचारिक धरोहर "एकात्म मानव दर्शन" के रूप में संकलित है ।

एकात्म मानव दर्शन के रूप में पं. दीनदयाल उपाध्याय मानव मात्र के लिये एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं जिससे प्रेरणा प्राप्त करके जीवन में भय ईर्ष्या शत्रुता के स्थान पर सह अस्तित्व का निर्माण करके परमानन्द प्राप्त किया जा सकता है । एकात्म मानव दर्शन शाश्वत जीवन मूल्यों पर आधारित मानव प्रवृत्तियों का सूक्ष्म सार एवं सम्पूर्ण मानव वंश को सुख समृद्धि की राह पर ले जाने वाला शाश्वत दर्शन है इस दर्शन के आधार पर नयी समाज रचना की आवश्यकता आ पड़ी है । प्रस्तुत शोध इस दिशा में निःसन्देह महत्वपूर्ण भूमिका निभायेगा ।

---

1. आधुनिक भारतीय शिक्षा शास्त्री, 'स्वामी विवेकानन्द'
शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार
पृष्ठ 28।

(ग) अध्ययन के उद्देश्य :

"उद्देश्यों के बिना किसी भी कार्य की कल्पना नहीं की जा सकती ।"[1] किसी भी कार्य के करने से पहले उसके उद्देश्यों की कल्पना हमारे मन मस्तिष्क में अवश्य रहती है । बिना उद्देश्य के कार्य करना दिशाहीन जहाज की तरह भटकना मात्र होता है । उद्देश्य ही मनुष्य को कार्य करने की प्रेरणा शक्ति प्रदान करते हैं और निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक सिद्ध होते हैं । अतः जॉन ड्यूवी का यह कथन अक्षरसः सत्य है "उद्देश्य सहित कार्य करना ही कुशलता या बुद्धिमानी पूर्वक कार्य करना है ।"

उद्देश्य निश्चित कर लेने से ही कार्य आसान हो जाता है और लगभग आधी सफलता प्राप्त हो जाती है । महा भारत में एक कथा है कि गुरू द्रोणाचार्य शिष्यों की परीक्षा ले रहे थे कि कौन कितना धनुर्विद्या में पारंगत हो गया है । युधिष्ठिर और अर्जुन सहित सभी पाण्डव पुत्र पूरी तरह से तैयार थे । गुरू जी ने कहा कि देखो पेड़ पर चिड़िया बैठी है इसकी आंख में निशाना लगाना है जो इसकी आंख में तीर मार देगा, वही धनुर्विद्या में सफल माना जाएगा ।"

इसके बाद गुरूजी ने एक-एक करके सबसे प्रश्न पूछा कि युधिष्ठिर आपको क्या दिखाई दे रहा है ? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया "पेड पत्ते चिड़िया और चिड़िया की आंख गुरूजी ।" इसी प्रकार सभी उपस्थित शिष्यों ने उत्तर दिए लेकिन अर्जुन ने कहा कि मुझको केवल चिड़िया की आंख ही दिखाई दे रही है गुरू जी, उसने निशाना लगाया और तीर चिड़िया की आंख में ही लगा। जबकि अन्य सभी के निशाने चूक गए । इसी प्रकार कहा गया है -

'जिन ढूढ़ा तिन पाइयां गहरे पानी पैठ
मैं बपुरा बूडन डरा रहा किनारे बैठ ।"

अर्थात उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए दृढ़ इच्छा शक्ति की आवश्यकता होती है यहां तक/प्राणों तक की बाजी लगानी पड़ सकती है । राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की शाखाओं में लक्ष्य प्राप्ति के लिए किशोरों के हृदय में प्रबल इच्छा शक्ति जागृत करने की प्रेरणा दी जाती है । खेल और गानों के माध्यम से उन्हें शिक्षित किया जाता है कि जीवन में सही रास्तों को छोड़कर जो लोग इधर-उधर भटक जाते हैं अर्थात जिनका लक्ष्य ओझल हो जाता है वे कभी सफलता के पास तक नहीं पंहुच पाते और प्रायश्चित करते रह जाते हैं ।

---

1. आधुनिक परिवेश में महामना मदनमोहन मालवीय के शैक्षिक विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन
डा. जे.एल. वर्मा
पृष्ठ 11

"सही राह को छोड़कर जो मुड़े हैं

वही देखकर दूसरों को कुढ़े हैं

जिन्हें लक्ष्य से कम अधिक प्यार खुद से

वही जीव देखो तरसते खड़े हैं

अगर जी सको तो जिओ जूझ कर तुम

अमरता तुम्हारे चरण चूम लेगी

न हो साथ कोई अकेले बढ़ो तुम

सफलता तुम्हारे चरण चूम लेगी"

* * * * * * * * * * ***

यह उथल पुथल उत्ताल लहर

पथ से न डिगाने पाएगी

पतवार चलाते जाएंगे

मंजिल आयेगी,,, आयेगी ।"

* * * * * * * * * * *

"लक्ष्य तक पंहुचे बिना पथ में पथिक विश्राम कैसा ?

* * * * * * * * * * *

"जब तक लक्ष्य न पूरा होगा, तब तक पग की गति न रुकेगी

आज कहे चाहे जो दुनियां, कल को बिना झुके न रुकेगी ।

* * * * * * * * * * *

यदि हम उद्देश्य को सामने रखकर कार्य करते हैं तो उसे पूर्ण करने के लिए अपनी पूरी शक्ति एवं बुद्धि लगा देते हैं जिससे समय तो कम लगता ही है कार्य भी श्रेष्ठतासे सिद्ध होता है । हमें यह भी ध्यान रखना पड़ता है कि किसी कार्य को सफल बनाने के लिए मात्र उद्देश्यों का निर्धारण ही पर्याप्त नहीं होते वरन् उद्देश्यों की गुणवत्ता भी आवश्यक होती है । उपयुक्त उद्देश्य ही मनुष्य को सफलता की ओर ले जाते हैं । इसी बात को ध्यान में रखकर शोधकर्ता ने भी अपने इस शोध में उद्देश्यों का निरूपण किया है ।

भारत के लिए एक ऐसे वैचारिक दर्शन की आवश्यकता है जो भारतीय राष्ट्रीय परिवेश के सर्वथा अनुकूल सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से लाभकारी और राष्ट्र को परम वैभव तक पंहुचाने में समर्थ हो । अतः पं. दीनदयाल उपाध्याय द्वारा दिया गया 'चिन्तन दर्शन' इस कसौटी पर खरा उतरता है इसलिये शोधकर्ता पं. जी के विचार पुष्पों को सुगन्ध बिखेरने के लिये घर-घर एवं प्रत्येक मनुष्य तक पहुंचाना चाहता है ।

पं. दीनदयाल उपाध्याय एक ऐसे नक्षत्र थे जो अपने आपमें सम्पूर्ण थे उनके वैचारिक पक्ष मात्र के दर्शन से उनका विश्व तथा मानव से एक साथ साम्य समझ में आ सकता है । भारत माँ के उस सपूत ने जीवन विधायन सम्बन्धी जो सूत्र दिये हैं वे समस्त समस्याओं का सटीक समाधान संजोये हुये हैं । अतः शोधकर्ता के अध्ययन का यह उद्‌देश्य है कि भारत से प्रेम रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति उनसे प्रेरणा प्राप्त कर सके ।

शोध का उद्‌देश्य है कि उनके विचारों से अभिभूत होकर हमारा समाज श्रमसे पराङ्. मुख सामाजिक संरक्षण समाप्त कर वह इस युग को श्रम युग समझ कर युग निर्माण में जुट जाएं, जिनके सामने रोजी रोटी का सवाल है जिन्हें न रहने के लिये मकान है न तन ढ़कने के लिये वस्त्र हैं उनको सम्पन्न बनाना हमारा लक्ष्य बने यह शोध का उद्‌देश्य है ।

जो प्रवृत्ति और व्यवस्था जो राजनीति और अर्थनीति जो सामाजिक नियम और शिक्षा पद्धति हमें कर्मविहीन निद्रालु आलसी और बेईमान बनाए उसे हेय समझकर बदलने के लिये कांटेबद्ध हो जायें और निरन्तर ध्येय मन्दिर की ओर चलने में समर्थ हो सके । शोधकर्त्ता का उद्‌देश्य है कि पं. दीनदयाल जी के राष्ट्र चेतना निर्माण के श्रेष्ठ विचारों को जनमानस तक पंहुचाकर समाज हित में सहभागी हो सके शोधार्थी ने इसी प्रेरणा से आगे कदम बढ़ाया है ।

(घ) **समस्या का सीमांकन** -

शोधकर्ता को चाहिए कि प्रस्तुत समस्या के समुचित समाधान के लिए उसके स्वरूप को सीमाबद्ध कर ले अन्यथा वह बीहड़ में फंसे हुए पथिक के समान किसी मार्गदर्शक की प्रतीक्षा में ललचायी आंखों से निहारता रह जाएगा । इसलिए शोध कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व ही शोधकर्ता को चयनित समस्या का सीमांकन कर लेना चाहिए । इसी दृष्टि से शोधकर्ता ने भी अपनी चयनित समस्या को सीमांकित करके सफलता हेतु अपने कदम बढ़ाए हैं ।

पं. दीनदयाल उपाध्याय बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी पुरुष थे उनका वैचारिक दर्शन धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा शैक्षिक सभी क्षेत्रों के लिये मार्गदर्शक का कार्य कर रहा है । उनके समस्त क्षेत्रों में सम्बन्धित विचारों का अध्ययन करने के लिये अत्यन्त समय एवं धन की आवश्यकता पड़ेगी । अतः प्रस्तुत शोध में मात्र उनके शैक्षिक विचारों को ही संकलित करने का प्रयास किया गया है ।

उनके द्वारा लिखे गये लेख, दैनिक एंव साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाऐं पुस्तकें और भाषणों को एकत्र करके अनन्य सहयोगी मित्र श्री दत्तोपन्त ठेंगड़ी नाना जी देशमुख और रामशंकर अग्निहोत्री, डा. मुरली मनोहर जोशी, सुन्दर सिंह भण्डारी, श्री वीरेश्वर द्विवेदी सम्पादक राष्ट्र धर्म एवं पं. दीनदयाल उपाध्याय शोध संस्थापन लखनऊ तथा दिल्ली एवं अन्य स्थानों की सहायता से उनके शैक्षिक विचारो, की उपादेयता सिद्ध करने का प्रयास शोधकर्ता द्वारा किया जायेगा ।

(ड) अध्ययन विधि -

शोधकर्ता को अपने शोधकार्य को पूर्ण करने के लिए किसी न किसी विधि को अपनाना पड़ता है । शोध समस्या की प्रकृति के अनुसार ही शोध विधि का प्रयोग किया जाना चाहिए । अर्थात अध्ययन विधि का निर्धारण इस बात पर निर्भर करता है कि समस्या का स्वरूप क्या है ? विद्वानों ने अनेकों शोध विधियों की खोज की है जिनमें निम्नतः तीन विधियां प्रमुख हैं -

1. प्रयोगात्मक शोध विधि
2. ऐतिहासिक शोध विधि
3. विवरणात्मक या सर्वेक्षण शोध विधि

शोधकर्ता अपने इस शोध में ऐतिहासिक शोध विधि तथा बिवरणात्मक या सर्वेक्षण शोध विधि का प्रयोग करेगा । अतः इन दोनों बिधियों का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है -

ऐतिहासिक शोध विधि

इस विधि में ऐतिहासिक महत्व के तथ्यों को ढूढ़कर उनका वर्गीकरण तथा विश्लेषण करके उनकी व्याख्या और आलोचना के आधार पर कुछ मान्य निष्कर्ष निकाले जाते हैं । यह विधि अतीत के इतिहास का किसी विशेष दृष्टिकोण से अध्ययन करती है और संग्रहीत सामग्री की व्याख्या और विवेचना करके सम्बद्ध तर्क संगत निष्कर्षों तक पंहुचाती है । इतिहास ज्ञान के क्षेत्र में अतीत की घटनाओं का एकीकृत वर्णन है । शिक्षा के क्षेत्र में ऐतिहासिक साधनों के आधार पर उसकी प्रमुख घटनाओं और उन्नतक्रम का अध्ययन किया जाता है । इस प्रकार के अध्ययन से वर्तमान की समस्याओं का समाधान करने के लिए अतीत के अनुभवों से लाभ उठाया जा सकता है ।"[1]

ऐतिहासिक विधि में शोधकर्ता के सामने यह कठिनाई होती है कि उसके पास प्रथम दृष्ट सूचनाएं नहीं होती अर्थात घटनाएं भूतकाल में घट चुकी हुई होती हैं उनका साक्षात्कार नहीं किया जा सकता मूल लेखों के अन्दर झांक कर नहीं देखा जा सकता । अतः उसको उपलब्ध सामग्री पर ही विश्वास करना पड़ता है । अतीत की घटनाओं के सम्बन्ध में वह कुछ कर भी नहीं सकता भले ही उपलब्ध आंकडे कम विश्वसनीय ही क्यों न हों उसे उन्हीं पर आश्रित होकर अपना शोध कार्य पूरा करना पड़ता है ।

---

1. शिक्षा शोध — गणेश मूर्ति मिश्रा पृष्ठ 6-7

सर्वेक्षण विधि

सामाजिक तथा शैक्षिक क्षेत्र में अनुसन्धान करने के लिए सर्वेक्षण समस्या से सम्बन्धित आंकड़ों के संकलन का एक महत्वपूर्ण साधन व उपकरण है । समस्याओं का समाधान करने के लिए शिक्षाशास्त्री मनोवैज्ञानिक सरकार उद्योगपति तथा राजनीतिज्ञ सभी सर्वेक्षण करते हैं । वे वर्तमान क्रिया की सार्थकता सिद्ध करने अथवा वर्तमान क्रिया में सुधार करने के लिए वर्तमान दशा से सम्बन्धित आंकड़े एकत्र करते हैं । सर्वेक्षण सम्बन्धी अध्ययन का क्षेत्र तथा उसकी गहराई समस्या की प्रकृति पर निर्भर होगी, उसके अनुरूप सर्वेक्षण विस्तृत अथवा संक्षिप्त हो सकता है । इसके अन्तर्गत अनेक देशों अथवा एक देश, धर्म, शहर अथवा किसी इकाई को ही ले सकते हैं । किसी विशेष पक्ष के विषय में आंकड़े प्राप्त करेंगे या अनेक पक्षों के विषय में यह समस्या की प्रकृति पर निर्भर है । "सर्वेक्षण का मूल अर्थ ही ऊपर से देखना या अवलोकन अथवा अन्वेषण होता है ।" शब्दकोष के अनुसार भी सर्वेक्षण का अर्थ एक प्रायः सरकारी आलोचनात्मक निरीक्षण होता है । जिसका उद्देश्य एक क्षेत्र की किसी एक स्थिति अथवा उसके प्रचलन के सम्बन्ध में यथार्थ सूचना प्रदान करना होता है ।"[1]

इस प्रकार शोधकर्ता शोध सम्बन्धी तथ्यों को खोजने और भारतीय जीवन में उनकी उपयोगिता को स्पष्ट करने के लिये ऐतिहासिक तथा सर्वेक्षण विधि का अनुसरण करेगा ।

---

1. अनुसन्धान विधियां, सर्वेक्षण अनुसन्धान एच.के. कपिल पृष्ठ - 186

(च) तथ्य संकलन श्रोत -

शोधकर्ता ऐतिहासिक विधि के अन्तर्गत प्राथमिक एवं गौड़ स्रोतो के ऐतिहासिक महत्व के तथ्यों को ढूंढकर उनका वर्गीकरण तथा विश्लेषण करके उनकी व्यवस्था और आलोचना के आधार पर निष्कर्ष निकालने का प्रयास करेगा ।

प्रस्तुत शोध में सर्वेक्षण विधि के विभिन्न आयामों विद्यालय सर्वेक्षण, कार्य विश्लेषण, प्रलेखी विश्लेषण, जनमत सर्वेक्षण, समुदाय सर्वेक्षण के द्वारा वर्तमान शिक्षा व्यवस्था के सुधार के लिये वर्तमान दशा से सम्बन्धित आंकड़े एकत्र किये जायेंगे । सर्वेक्षण के उपकरण निरीक्षण प्रश्नावली साक्षात्कार मानक परीक्षण मूल्यांकन मापदण्ड आदि के माध्यम से प्राप्त आंकड़ों के आधार पर सीमाओं का ध्यान रखते हुये शैक्षिक पाठ्यक्रम सम्बन्धी सुझाव शोधकर्ता प्रस्तुत करेगा ।

भारतीय शिक्षा व्यवस्था उससे सम्बन्धित साहित्य, शास्त्र, उपनिषद, वेद, रामायण, रामचरित मानस, गीता, महाभारत आदि धर्मग्रन्थ तथा उनका पं. दीनदयाल जी पर प्रभाव का अध्ययन करके तथ्य एकत्र किए जायेंगे ।

अन्य विद्वानों जैसे डा. मुरली मनोहर जोशी, दन्तोपन्त ठेगड़ी, नाना जी देश मुख, कु.सी सुदर्शन, डा. महेश चन्द्र शर्मा द्वारा दीनदयाल जी के सम्बन्ध में लिखित सामग्री से एवं मौखिक संस्मरणों आदि से तथ्य संकलित किए जाऐंगे ।

पं. दीनदयाल जी किन-किन शिक्षा शास्त्रियों से प्रभावित थे ? स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, तिलक, रविन्द्र नाथ टैगोर और महात्मा गांधी जैसे विचारकों ने उनको कितना और कैसे प्रभावित किया है इस सम्बन्ध में तथ्य एकत्रित किए जाऐंगे ।

पं. दीनदयाल जी के राजनैतिक-सामाजिक कार्यों का अध्ययन करके तथ्य संकलन का कार्य शोधकर्ता द्वारा किया जाएगा ।

(छ) सम्बन्धित साहित्य का सर्वेक्षण -

सम्बन्धित साहित्य से तात्पर्य है - "शोध विषय से सम्बन्धित ऐसा साहित्य जिसमें विषय के किसी पक्ष अथवा सम्पूर्ण विषय पर विचार व्यक्त किए गए हों ।" [1] शोधकर्ता को अपने शोध से सम्बन्धित साहित्य का सर्वेक्षण एवं अध्ययन करके उपयोगी विषय सामग्री को एकत्र करते हुए समस्या का समाधान निकालना पड़ता है ।

भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों शिक्षाविदों एवं मनीषियों ने समय-समय पर अपने-अपने दर्शन के अनुसार विचारों का प्रतिपादन किया है । उनमें से स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, महात्मा गांधी, पं. जवाहरलाल नेहरू, लाला लाजपत राय, पं. मदनमोहन मालवीय, बाल गंगाधर तिलक गोपाल कृष्ण गोखले, रविन्द्र नाथ टैगोर, गुरूजी गोलवरकर, प्रो. बलराज मधोक, पं. दीनदयाल उपाध्याय, भगवान रजनीश, रवीन्द्र अग्निहोत्री, डा. महेश चन्द्र शर्मा, राम सकल पाण्डेय, डा. जे.एल. वर्मा, सरयू प्रसाद चौबे, पी.डी. पाठक, लज्जाराम तोमर एवं डा. वी.वी. अग्रवाल का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है ।

शोधकर्ता ने उपरोक्त महामानवों के शिक्षा सम्बन्धी विचारों का अध्ययन किया है तथा पं. दीनदयाल उपाध्याय के जीवनदर्शन से अत्यन्त प्रभावित होकर उनकी विशिष्ट चिन्तन धारा 'एकात्म मानव वाद' की राष्ट्रीय शिक्षा के लिए उपादेयता सिद्ध करना चाहता है ।

---

1. शोध से सम्बद्ध साहित्य

स्वतन्त्र्योत्तर उत्तर प्रदेश में उच्चशिक्षा का विकास
1950-75, पी.एच.डी. थीसिस
गणेशमूर्ति मिश्र
प्रवक्ता डी.वी. कालेज उरई पृष्ठ 12

अध्याय - २

उपाध्याय जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

अध्याय - 2

उपाध्याय जी का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

(क)जन्म एवं शिक्षा -

कभी-कभी धरती के जनमानस को नई दिशा देने और युग परिवर्तन के ईश्वरीय कार्य को सम्पन्न करने के लिए युग पुरूषों का जन्म होता है । वे प्रतिकूल परिस्थितियों में जन्म लेने के बाद भी अपनी जन्मजात चमत्कारिक प्रतिभा द्वारा बड़े से बड़े कार्य सम्पन्न करके अन्तरध्यान हो जाते हैं । बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारतीय क्षितिज में कुछ ऐसे ही जाज्ज्वल्यमान नक्षत्रों का उदय हुआ । जिन्होंने अपने प्रकाश से भारत वसुन्धरा को आलोकित कर दिया । इस काल खण्ड में दो प्रकार के व्यक्तित्वों के दर्शन हुए, एक तो वे जो पाश्चात्य जगत से शिक्षा दीक्षा प्राप्त करके आए और वहां की भोगवादी संस्कृति के आकर्षण से कुछ करने को लालायित थे । दूसरी ओर कुछ ऐसे व्यक्तियों का भारत की धरा पर आगमन हुआ जो पश्चिमी जगत की वैभव सम्पन्न भोगवादी संस्कृति को स्पष्टतया नकारते हुए भारतीय संस्कृति को नया आयाम देने में जुट गए, क्योंकि उनका विश्वास था कि गुलामी के कारण भारतीय मनीषा को उजागर नहीं होने दिया गया । उल्टे उसे नष्ट करने का षड़यन्त्र रचा गया है ।

स्वामी विवेकानन्द और महर्षि अरविन्द की गौरवशाली भारतीय परम्परा को आगे बढ़ाने वाले प्रखर राष्ट्रभक्ति की अलख जगाने वाले बहुमुखी प्रतिभा के धनी 'एकात्म मानव वाद' के प्रणेता "महामानव पं. दीनदयाल जी उपाध्याय का जन्म 25 सितम्बर 1916 : विक्रम सम्वत 1973 : शालिवाहन शक 1938 : भाद्रपद अश्विन कृष्ण 13 सोमवार को राजस्थान प्रान्त के जयपुर-अजमेर रेलवे लाइन पर स्थित 'धनकिया' नामक रेलवे स्टेशन में हुआ था । पं दीनदयाल जी के नाना पं. चुन्नीलाल जी शुक्ल 'धनकिया' में स्टेशन मास्टर थे । अतः इनके जन्म के समय इनकी माता जी अपने पिता के पास 'धनकिया' में ही रह रहीं थी ।"[1]

पं. दीनदयाल जी के पूर्वज मथुरा जिले के आगरा मथुरा मार्ग पर स्थित 'फरह' कस्बे से एक किलोमीटर पश्चिम में 'नगला चन्द्रभान' नामक गांव में रहते थे जहां दुर्भाग्य से पण्डित जी कभी नहीं रह सके । पं. दीनदयाल जी के प्रपितामह पं. हरीराम जी शास्त्री अपने क्षेत्र के प्रसिद्ध ज्योतिषी थे । शास्त्री जी अपने भाई श्री झण्डूलाल जी भतीजे शंकर और वंशीलाल पुत्र भूदेव,

---

1. एकात्मता के पुजारी पं. दीनदयाल उपाध्याय — भाउरावदेवरस, शिव कुमार अस्थाना, लोकहित प्रकाशन, लखनऊ, पृष्ठ 13

रामप्रसाद तथा प्यारेलाल के साथ इस छोटे से गांव में रह रहे थे । पं. हरीराम जी शास्त्री की मृत्यु के उपरान्त इस परिवार में मौतों का ऐसा सिलसिला प्रारम्भ हुआ कि पूरे परिवार के पुरुष सदस्य काल कवलित हो गये । सारे परिवार में मात्र विधवाएं ही शेष रह गयीं, जिनका जीवनाधार अवशेष था पं. रामप्रसाद जी का एक मात्र पुत्र भगवती प्रसाद । भगवती प्रसाद पढ़ लिखकर बड़े हुये और धर्मपरायण श्रीमती रामप्यारी से उनका बिवाह सम्पन्न हुआ । आर्थिक चिन्ता से बिवश होकर उन्हें रेलवे में नौकरी करनी पड़ी । उत्तर प्रदेश के जलेसर रोड रेलवे स्टेशन पर स्टेशन मास्टर के पद पर कार्य करने लगे । पूरे परिवार का खर्च छोटी सी नौकरी, अतः पुत्र जन्म के समय उन्होंने अपनी धर्मपत्नी श्रीमती रामप्यारी को उनके पिता श्री चुन्नीलाल जी के पास 'धनकिया' (राजस्थान) भेज दिया वहीं पं. दीनदयाल जी उपाध्याय का जन्म हुआ ।"[1] इसी कारण से शायद पं. दीनदयाल जी का अपने ननिहाल से गहरा सम्बन्ध रहा । कुछ दिनों के उपरान्त श्रीमती रामप्यारी अपने पति के पास वापस आ गयीं और दो वर्ष के पश्चात् दूसरे पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम शिवदयाल रखा गया । पं. दीनदयाल जी का बचपन का नाम "दीना" एवं शिवदयाल का "शीबू" था । शिवदयाल के जन्म के छः माह बाद अर्थात पं. दीनदयाल जी के जन्म के ढ़ाई वर्ष बाद ही इनके पिता श्री भगवती प्रसाद जी उपाध्याय का निधन हो गया । दोनों भाई माँ के साथ नाना के पास रहने लगे । पण्डित जी छः वर्ष के हुये कि क्षयरोग से ग्रस्त शोकाकुल माता श्रीमती रामप्यारी भी स्वर्ग सिधार गयीं । "दीना" वास्तव में "दीना" (अनाथ) मात्र रह गया ।

पं. दीनदयाल जी के नाना पं. चुन्नीलाल जी शुक्ल नौकरी छोड़कर "दीना" और "शीबू" के साथ अपने गांव 'गुड की मडई' आगरा चले आए । 'गुड की मडई' आगरा जिले में फतेहपुरसीकरी के पास स्थित छोटा सा गांव था । यही गांव पं. दीनदयाल जी का वास्तविक ननिहाल था पण्डित जी की उम्र अभी 9 वर्ष थी कि उनके पालक नाना श्री चुन्नीलाल जी शुक्ल सितम्बर 1925 में स्वर्ग सिधार गये । पिता, माता व नाना के वात्सल्य से वंचित होकर वे अपने मामा श्री राधारमण शुक्ल के आश्रय में पलने लगे । श्री राधारमण शुक्ल गंगापुर में सहायक स्टेशन मास्टर थे ।

शिक्षा :

पं. दीनदयाल जी सन् 1925 में अपने मामा श्री राधारमण जी शुक्ल के साथ गंगापुर सिटी चले गये यहीं उनकी विधिवत् शिक्षा का शुभारम्भ हुआ । कक्षा चार तक की पढ़ाई उन्होंने

यहीं की । गंगापुर में आगे की पढ़ाई की व्यवस्था न होने के कारण मामाजी ने 'दीना' को आगे की पढ़ाई के लिए कोटा (राजस्थान) भेज दिया । वहां 'सेल्फ सपोर्टिंग हाउस' में रहने की व्यवस्था कर दी । यहीं दीना ने स्वावलम्बन का पाठ सीखा । तीन वर्ष की कड़ी मेहनत के बाद मिडिल (कक्षा-7) की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर ली ।

पं. दीनदयाल जी जब कक्षा 7 में ही पढ़ रहे थे उनकी उम्र पन्द्रह वर्ष की थी तभी सन् 1931 में उनके पितातुल्य मामा श्री राधारमण शुक्ल का भी देहान्त हो गया । पितृगृह एवं मामा का घर दोनों ही जनशून्य हो गये वहां तो दो दादियां शेष थीं और यहां नानी मामी । पण्डित जी के मामा श्री राधारमण शुक्ल के चचेरे भाई श्री नारायण जी शुक्ल 'राजगढ़' जिला अलवर में स्टेशन मास्टर थे । अतः पण्डित जी ने पढ़ाई के लिए उनका आश्रय लिया । सन् 1932 में राजगढ़ चले गये । यहां 'दीना' ने अपनी विधवा मामी तथा ममेरे भाई प्रहलाद नारायण, बनवारीलाल बहिन रामादेवी और महादेवी के साथ बड़े सौहार्दपूर्ण वातावरण में दो वर्ष बिताये तथा कक्षा 8-9 की परीक्षाऐं उत्तीर्ण की ।

पं. दीनदयाल जी अपने अध्ययनकाल में इतने प्रतिभा सम्पन्न थे कि जब वे कक्षा नौ में पढ़ते थे तो कक्षा दस के छात्र भी उनसे गणित के सवाल हल करवाया करते थे । अभी तक पं. दीनदयाल जी ने अपने पालकों की मृत्यु का दुःख सहन किया था लेकिन 18 नवम्बर सन् 1934 को उनके पालित छोटे भाई शीबू के देहान्त ने उन्हें अन्दर से झकझोर दिया । जब दीनदयाल जी कक्षा नौ में पढ़ रहे थे वे अट्ठारहवें वर्ष में थे कि छोटा भाई शिवदयाल 'मोतीझर' (टाइफाइड) से पीड़ित हो गया । लाख कोशिशों के बावजूद दीनदयाल जी शीबू को नहीं बचा पाए । दीनदयाल जी शीबू की मृत्यु से अत्यन्त विचलित हो उठे । जिनकी याद जीवन में कभी नहीं भुला पाए ।

"सन् 1934 में श्री नारायण शुक्ल (मामा) का स्थानान्तरण 'सीकर' हो जाने के कारण दीनदयाल जी उनके साथ 'सीकर' आ गये और महाराजा कल्याण सिंह हाईस्कूल में प्रवेश ले लिया । उन्नीस वर्ष की आयु में सन् 1935 में पण्डित जी अजमेर बोर्ड में प्रथम श्रेणी से प्रथम उत्तीर्ण हुए ।[1] दीनदयाल जी की प्रतिभा से प्रभावित होकर सीकर महाराज कल्याण सिंह ने इन्हें स्वर्ण पदक से सम्मानित किया और अग्रिम शिक्षा के लिए 10 रुपये मासिक छात्रवृत्ति तथा 250 रुपये की एक मुश्त आर्थिक सहायता प्रदान की ।" दूसरा स्वर्ण पदक अजमेर बोर्ड द्वारा उन्हें प्रदान किया गया ।

---

1. पत्रिका पं. दीनदयाल उपाध्याय लोकतन्त्र के पुरोधा — डा. महेश चन्द्र शर्मा
   सूचना एंव जन सम्पर्क विभाग, लखनऊ, सितम्बर 1991 — पृष्ठ 3

इण्टरमीडियेट की पढ़ाई के लिए सन् 1935 में 'पिलानी' (राजस्थान) गए । उन दिनों पिलानी उच्च शिक्षा का प्रसिद्ध केन्द्र था । अतः बिड़ला इण्टर कालेज में प्रवेश ले लिया । 1937 में इण्टरमीडियेट बोर्ड की परीक्षा में बैठे और न केवल समस्त बोर्ड में सर्वप्रथम रहे वरन् सब विषयों में विशेष योग्यता के अंक प्राप्त किए । बिड़ला कालेज का यह प्रथम छात्र था जिसने इतने सम्मानजनक अंकों से परीक्षा पास की थी । सीकर महाराज के समान ही घनश्याम दास बिड़ला ने एक स्वर्ण पदक 10/- रुपये मासिक छात्रवृत्ति तथा पुस्तकों के लिए 250/- रुपये प्रदान किये ।[1]

बी.ए. की शिक्षा प्राप्त करने के लिए 1937 में दीनदयाल जी पिलानी से कानपुर आये और एस.डी. (सनातन धर्म) कालेज में प्रवेश ले लिया । यहां छात्र जीवन में उनका सम्पर्क श्री बलवन्त जी महाशिन्दे और श्री सुन्दर सिंह भण्डारी से हुआ । इन सहपाठियों ने दीनदयाल जी का सम्पर्क मा. भाऊसाहब देवरस से करवाया उनकी प्रेरणा से दीनदयाल जी राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ में स्वयं सेवक बने । 1937 में ही वेदमूर्ति पण्डित सातवलेकर जी कानपुर शाखा में आए और पं. दीनदयाल उपाध्याय के बारे में भविष्य वाणी की 'किसी दिन बड़ा होकर यह कुशाग्र बुद्धि बालक देश का गौरव बनेगा ।'

कानपुर में ही पण्डित जी का सम्बन्ध श्री बापूराव जी मोघे श्री भइयाजी सहस्त्र बुद्धे श्री नानाजी देशमुख तथा बापूराव जोशी जैसे राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के कार्यकर्ताओं से हुआ । वहीं पर उनकी भेंट संघ के संस्थापक परमपूज्य डा. केशवराव बलिराम हेडगेवार से हुई । यहीं से उनका सार्वजनिक जीवन में प्रवेश हो गया । कमजोर पिछड़े विद्यार्थियों की शैक्षणिक उन्नति के लिये एक 'जीरो क्लब' की स्थापना की जिसका उद्देश्य परीक्षा में शून्य अंक पाने वाले छात्रों को अन्य छात्रों के समकक्ष लाना था । दीनदयाल जी उन्हें स्वयं पढ़ा लिखाकर इतना समर्थ बना देते थे कि वे परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते थे । इससे विद्यार्थी समाज में इनकी लोकप्रियता और व्यापक हुई । सन् 1939 में पण्डित जी ने प्रथम श्रेणी में बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की ।

एम.ए. अंग्रेजी साहित्य की शिक्षा के लिए 1939 में ही आगरा के सेन्ट जॉन्स कालेज में प्रवेश लिया । सन् 1940 में एम.ए. प्रथम वर्ष की परीक्षा में प्रथम श्रेणी के अंक प्राप्त किए । यहां वह राजा की मण्डी में किराये के मकान 'रत्ना बिल्डिंग' में रहते थे । इसी समय 1940 में उनकी एक ममेरी बहिन रामादेवी बहुत बीमार हो गयी, वह चिकित्सा कराने आगरा आयीं । दीनदयाल जी बहिन की तीमारदारी में व्यस्त रहने लगे । इस समय वह तीन काम एक साथ करते

---

1. तथैव पृष्ठ 3

थे, पढ़ाई, संघ कार्य और बहिन की दवा सेवा । एम.ए. द्वितीय वर्ष की परीक्षा निकट थी उनके सामने प्रश्न था परीक्षा दें या बहिन की तीमारदारी करें ? फलतः पुस्तकें एक किनारे रख अधिकतम् समय बहिन की तीमारदारी दवा इलाज कराने में लगाने लगे । रातदिन एक कर दिया । प्राकृतिक चिकित्सा के लिए पहाड़ पर ले गये पर रामादेवी न बचीं । इस कारण से पं. जी एम.ए. उत्तरार्द्ध की परीक्षा में न बैठे । अतः परीक्षा न देने से उनकी सीकर और बिड़ला जी की दोनों छात्रवृत्तियां भी बन्द हो गयीं । मामा जी के आग्रह पर वह एक प्रशासनिक परीक्षा में भी बैठे, उत्तीर्ण हुए परन्तु इस नौकरी को ठुकरा कर बी.टी. करने के लिये प्रयाग (इलाहाबाद) चले गए सन् 1942 में बी.टी. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की ।

(ख) पारिवारिक जीवन -

दीनदयाल जी का पारिवारिक जीवन अत्यन्त दुःखमय रहा । बचपन से ही प्रियजनों की मृत्यु का घनीभूत अनुभव हुआ । वे कभी भी अपने पैतृक निवास में नहीं रहे । पारिवारिक कारणों से उनका शिशुकाल उनक नाना चुन्नीलाल के साथ धनकिया में बीता । उसी समय उनकी ढ़ाई वर्ष की आयु में ही उनके पिताजी का देहान्त हो गया । दीनदयाल जी पितृहीन व इनकी माँ रामप्यारी विधवा हो गयीं । विधवा शोकाकुल व चिन्ताकुल रामप्यारी कुपोषण का शिकार होकर क्षयरोग से ग्रस्त हो गयी और दीनदयाल जी को सात वर्ष का छोड़कर रामप्यारी राम को प्यारी हो गयीं । दीनदयाल माता पिता दोनों की स्नेहछाया से वंचित बिल्कुल 'दीना' (अनाथ) हो गए । अब दीनदयाल जी के सर वृद्ध नाना चुन्नीलाल का हाथ था वह भी ईश्वर को स्वीकार नहीं था । माँ के देहान्त के दो वर्ष बाद ही वृद्धस्नेही पालक जो अपनी बेटी की अमानत को पाल रहे थे । नाना चुन्नीलाल भी स्वर्ग सिधार गये । पिता, माँ व नाना के वात्सल्य से वंचित अपने मामा राधारमण शुक्ल के आश्रय में पलने, बढ़ने तथा पढ़ने लगे । ईश्वर ने मानो उनके पालकों को उठाने का बीड़ा उठा लिया हो और जब दीनदयाल जी पन्द्रह वर्ष के हुए तथा कक्षा 7 में पढ़ रहे थे तभी उनके पितातुल्य मामा को भी इस संसार से उठा लिया । पन्द्रह वर्ष तक लगातार अपने पालकों की मृत्यु को निहारते रहे ।

इतनी छोटी उम्र में समय ने उन्हें अपने सहोदर लघुभ्राता 'शीबू' का पालक भी बना दिया । विधाता की प्रताड़नाओं ने इनका परस्पर स्नेह अधिक संवेदनशील व स्निग्ध कर दिया था । दुर्भाग्य से शायद मृत्यु अपने को सर्वांगतः दीनदयाल जी के सामने साक्षात् करने पर तुली थी । जब दीनदयाल जी अट्ठारह वर्ष के हुये और नवमीं कक्षा में पढ़ रहे थे उसी समय उनके छोटे भाई 'शिबू'

को 'टाइफाइड' हो गया लाख कोशिशों के बावजूद उसे दीनदयाल जी न बचा पाए । शिवदयाल अपने बड़े भाई दीनदयाल को इस संसार में बिल्कुल अकेला छोड़कर विदा हो गया ।

अभी भी दीनदयाल जी के ऊपर एक झुर्रियों भरा स्नेहिल आशीर्वाद का हाथ था । वृद्धा नानी दीनदयाल को बहुत प्यार करती थीं लेकिन जब वे उन्नीस वर्ष के हुए दसवीं में पढ़ रहे थे जाड़े के दिनों में नानी बीमार हुई और चल बसीं । जिस समय दीनदयाल जी आगरा में एम.ए. अंग्रेजी की पढ़ाई कर रहे थे उसी समय उनकी ममेरी बहिन रामादेवी बहुत बीमार हुई उनके पास उपचार के लिये आयीं पं. जी ने तन-मन से उनकी सेवा की, उनकी चिकित्सा करवाई पुस्तकों को एक किनारे रखकर उनकी प्राकृतिक चिकित्सा के लिए उन्हें पहाड़ पर ले गए पर नियति को यही मंजूर था कि अपनी बहिन की मौत का साक्षात्कार भी दीनदयाल को होना था । दु:खीमना दीनदयाल ने एम.ए. उत्तरार्द्ध की परीक्षा भी छोड़ दी ।

दीनदयाल जी अक्षरशः अनिकेत थे । 25 वर्ष की अवस्था तक दीनदयाल जी उपाध्याय राजस्थान व उत्तर प्रदेश में कम से कम ग्यारह स्थानों में कुछ-कुछ समय रहे । इसके साथ ही उनका प्रवेश सार्वजनिक जीवन में हो गया वे अखण्ड प्रवासी हो गए । मृत्यु ने उनके शिशु किशोर, बाल व युवा मन पर निरन्तर आघात किए । अतः उनके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया था इसलिए विवाह करके पारिवारिक जीवन व्यतीत करने की कल्पना भी उनके मन में नहीं आई । नए नए स्थानों पर प्रवास करना नए नए अपरिचित लोगों से मिलना, उनमें पारिवारिकता उत्पन्न करना उन्होंने बचपन की अनिकेत अवस्था से ही सीख लिया था । सम्पूर्ण राष्ट्र ही उनका घर परिवार था । एकात्म मानव वाद के प्रणेता पण्डित जी का परिवार समस्त जगत के प्राणिमात्र थे । अपनी सम्पूर्ण शिक्षा-दीक्षा के उपरान्त उन्होंने अपना जीवन राष्ट्र के लिए समर्पित कर दिया । सन् 1942 में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के लखीमपुर जिले के प्रचारक नियुक्त होकर राष्ट्र कार्य के लिए कटिबद्ध हो गए । निरन्तर प्रवास और संगठन कार्य का सतत् मार्गदर्शन देश के कोने-कोने में लाखों स्वयं सेवकों से मधुर स्नेहपूर्ण आत्मीय सम्बन्धों की स्थापना यही पण्डित जी का एकमेव कार्य था ।

(ख) सार्वजनिक जीवन और सम्पादन कार्य -

पं. दीनदयाल जी सन् 1937 में कानपुर बी.ए. की शिक्षा प्राप्त करने के लिए गए वहीं इनका सम्पर्क राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के वरिष्ठ कार्यकर्ताओं से हुआ । बाबा साहब आपटे दादा राव परमार्थ इनके छात्रावास में ही ठहरते थे । स्वतन्त्र्य बीरसावरकर ने दीनदयाल जी की शाखा में अपना बौद्धिक दिया । संघ की विचारधारा से ओतप्रोत पण्डित जी ने संघ कार्य अपने जीवन में उतार लिया और यहीं से उनके सार्वजनिक जीवन का श्रीगणेश हो गया । गरीब और पिछड़े विद्यार्थियों को शैक्षणिक उन्नति के लिए 'जीरो क्लब' स्थापित करके उन्हें पढ़ाने और परीक्षा में उत्तीर्ण होने के योग्य बनाते थे । अतः विद्यार्थी समाज में इनकी लोकप्रियता बढ़ने लगी ।

मृत्युदर्शन ने उनके जीवन में वैराग्य उत्पन्न कर ही दिया था । जीवन की क्षण भंगुरता और प्रियजन विछोह ने उनके हृदय में संयास का ऐसा बीजारोपण किया कि वे नौकरी वृत्ति को ठोकर मारकर राष्ट्रदेव के चरणों में समर्पित हो गए और आगे चलकर वह एक ऐसे दीप सिद्ध हुए जो दूसरों को प्रज्जवलित करने के लिए इस धरा में पैदा हुए थे । सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भिक काल में ही उन्होंने देश को स्वाधीनता दिलाने, सर्वसम्पन्न बनाने शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में खड़ा करने और सम्पूर्ण समाज में समरसता लाने के लिए जीवन पर्यन्त, मनसा वाचा कर्मणा, अविराम साधना करने का संकल्प लिया था । सन् 1942 में उत्तर प्रदेश के लखीमपुर जिले के जिला प्रचारक के रूप में उन्होंने ऐसा कार्य खड़ा किया कि बहुत ही जल्द 1945 में उन्हें सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश का सहप्रचारक बना दिया गया । उस समय उत्तर प्रदेश के तत्कालीन प्रान्त प्रचारक के रूप में माननीय भाऊसाहब देवरस का मार्गदर्शन पण्ड़ित जी को प्राप्त हो रहा था ।

प्रचारक जीवन के प्रारम्भिक काल में पण्ड़ित जी लखीमपुर के प्रसिद्ध वकील पण्ड़ित श्याम नारायण मिश्र के पास अधिकतर ठहरते थे । उस समय उनके अन्तिम संरक्षक मामा श्री नारायण शुक्ल ने उन्हें एक पत्र लिखकर घर वापस आने का आग्रह किया । उनके मामा चाहते थे कि पण्ड़ित जी भी दूसरे युवकों की तरह नौकरी आदि करके घर बसाकर रहें लेकिन नियति को कुछ और ही मंजूर था । अतः पण्ड़ित जी ने अपने मामा जी को एक पत्र के उत्तर में तत्कालीन समाज की दुर्दशा का वर्णन करते हुए अपने कर्तव्य की ओर इंगित किया । जुलाई 21, 1942 को पण्ड़ित जी द्वारा लिखा गया यह पत्र ऐतिहासिक दस्तावेज बन गया ।

आरदणीय मामाजी,

सादर प्रणाम

आपने पत्र में जो लिखा है सो ठीक ही लिखा है - क्या उत्तर दूं समझ में नहीं आता ? तभी से विचारों और कर्तव्य भावना में तुमुल युद्ध चल रहा है एक ओर भावना और मोह खींचते हैं तो दूसरी ओर प्राचीन ऋषियों महात्माओं और पुरखो की अतृप्त आत्माऐं पुकारती हैं । आपके लिखे अनुसार पहले मेरा भी यही विचार था कि मैं किसी स्कूल में नौकरी कर लूंगा तथा साथ ही वहां का संघ कार्य भी करता रहूंगा यही विचार लेकर मैं लखनऊ आया था, परन्तु लखनऊ में आजकल की परिस्थिति तथा आगे कार्य का असीम क्षेत्र देखकर मुझे यही आज्ञा मिली कि बजाय एक नगर में कार्य करने के एक जिले में कार्य करना होगा । अतः सारे जिले में काम करने के कारण न तो एक स्थान पर दो चार दिन से अधिक ठहरना सम्भव है न किसी प्रकार की नौकरी । संघ के स्वयं सेवक के लिए पहला स्थान समाज और देश कार्य का ही रहता है और बाद में अपने व्यक्तिगत कार्य का । अतः मुझे समाज कार्य के लिए संघ से जो आज्ञा मिली थी उसका पालन करना पड़ा । मैं यह मानता हूँ कि मेरे इस कार्य से आपको कष्ट हुआ होगा । .... आप अपना बेटा समाज के लिए नहीं दे सकते ?

संघ 17 साल से इसी (संगठन) कार्य को लगातार करता आ रहा है सारे भारत में एक हजार से अधिक आज (सन् 1942 की जुलाई तक) शाखाऐं हैं दो लाख से अधिक स्वयं सेवक हैं, मैं अकेला ही प्रचारक नहीं अपितु इसी प्रकार 300 से ऊपर कार्यकर्ता हैं, जो एक मात्र संघ का ही कार्य करते हैं । सब शिक्षित तथा अच्छे घर के हैं बहुत से बी.ए., एम.ए. और एल.एल.बी. पास हैं । इतने लोगों ने अपना जीवन केवल समाजकार्य के लिए क्यों दे दिया ? इसका एक मात्र कारण यही है बिना समाज की उन्नति हुए व्यक्ति की उन्नति सम्भव नहीं है । मेरा ख्याल है कि एक बार संघ की उपयोगिता समझने के बाद आपको हर्ष ही होगा कि आपके एक पुत्र (दीनदयाल) ने भी इस कार्य को अपना जीवन कार्य बनाया है ।

क्या हम अपने में से एक को भी देश के लिए नहीं दे सकते ? सवाल है केवल चन्द रुपये के न कमाने का । आपने मुझे शिक्षा दीक्षा देकर सब प्रकार से योग्य बनाया । क्या अब मुझे समाज के लिए नहीं दे सकते ? जिस समाज के हम उतने ही ऋणीं हैं । यह तो एक प्रकार से त्याग भी नहीं है विनियोग है । समाज रूपी भूमि में खाद देना है । ..... आप यकीन रखिए कि मैं कोई ऐसा कार्य नहीं करूंगा, जिससे कोई भी आपकी ओर उंगली उठाए उल्टा आपको गर्व होगा कि

आपने देश और समाज के लिए अपने एक पुत्र को दे दिया है । बिना किसी दबाव के, केवल कर्तव्य के ख्याल से आपने मेरा लालन पालन किया, अब क्या अन्त में भावना कर्तव्य को धर दबाएगी ? . . . भावना से कर्तव्य सदा ऊंचा रहता है । लोगों ने अपने इकलौते बेटों को सहर्ष सौंप दिया है फिर आपके पास एक की जगह तीन तीन (दो ममेरे) पुत्र हैं, क्या उनमें आप एक (दीनदयाल) को भी समाज के लिए नहीं दे सकते ? मैं जानता हूँ कि आप नहीं नहीं कहेंगे ....".[1]

आपका भांजा, दीना

उपरोक्त पत्र से पं. दीनदयाल जी का सम्पूर्ण जीवन दर्शन एवं समाज के प्रति समर्पण का भाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है । पतनशील समाज की सेवा के प्रति जागरूक कर्तव्य भावना उनके हृदय में गहराई से घर किए हुई थी, जबकि उस समय वह केवल 26 वर्ष के ही थे । आज इस उम्र का नौजवान समाज और देश के प्रति बहुत ही कम सोच पाता है । कभी आगे समाज कार्य में कोई बाधा न उत्पन्न हो, परिवार के कारण कहीं नौकरी में न जाना पड़ जाए, सार्वजनिक जीवन छोड़कर उन्हें गृहस्थ जीवन न अपनाना पड़ जाए, इन सब कारणों से उन्होंने सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भिक काल में ही अपने सभी शैक्षणिक प्रमाण पत्र जलाकर राख कर दिये थे । ताकि जब बांस ही न रहेगा तो बांसुरी कैसे बजेगी ?

पं. दीनदयाल जी देश की एकता और अखण्डता के प्रति सदैव सजग प्रहरी की तरह समर्पित रहे । अपने जीवन के हर क्षण को समाज सेवा में लगाया सार्वजनिक क्षेत्र में काम करते करते उन्हें यह आभास हो गया था कि राष्ट्र की निर्धनता और अशिक्षा का दूर किए बिना वास्तविक उन्नति नहीं हो सकती । अतः निर्धन एवं अशिक्षित व्यक्तियों की उन्नति के लिए अन्त्योदय जैसे कल्याणकारी कार्यक्रमों का सुझाव प्रस्तुत किया जो उनके आर्थिक चिन्तन पर आधारित है और आज भी प्रासंगिक तथा भारतीय परिवेश के अनुकूल है । उनके सामाजिक और आर्थिक चिन्तन की व्याख्या है कि आर्थिक योजनाओं तथा आर्थिक प्रगति का माप समाज के ऊपर की सीढ़ी पर पंहुचे व्यक्ति से नहीं नीचे स्तर पर विद्यमान व्यक्ति से होगा । आज देश में ऐसे करोड़ों मानव हैं जो मानव के किसी भी अधिकार का उपयोग नहीं कर पाते । शासन के नियम, व्यवस्थाऐं, योजनाएं और

---

1. पं. दीनदयाल उपाध्याय

व्यक्ति दर्शन
कमल किशोर कोपनगर
दीनदयाल शोध संस्थान
रानी झाँसी मार्ग, नई दिल्ली - 58
पृष्ठ - 153,54,55,56

नीतियां प्रशासन का व्यवहार एवं भावना इनको अपनी परिधि में लेकर नहीं चलती, प्रत्युत उन्हें मार्ग का रोड़ा ही समझा जाता है । हमारी भावना और सिद्धान्त है कि वह मैले कुचैले अनपढ़ सीधे सादे लोग हमारे नारायण है । हमें इनकी पूजा करनी है यह हमारा सामाजिक एवं मानव धर्म है । जिसदिन इनको पक्के सुन्दर घर बनाकर देंगे जिसदिन हम इनके बच्चों और स्त्रियों को शिक्षा और जीवन दर्शन का ज्ञान देंगे, जिसदिन हम इनके पैर की बिवाइयों को भरेंगे और जिसदिन इनको उद्योग-धन्धों की शिक्षा देकर इनकी आय को उँचा उठा देंगे, उसदिन हमारा भातृत्व भाव व्यक्त होगा । ग्रामों में जहां समय अचल खड़ा है, जहां माता और पिता अपने बच्चों के भविष्य को बनाने में असमर्थ है, वहां जब तक हम आशा और पुरुषार्थ का सन्देश नहीं पहुचा पाएंगे तब तक हम राष्ट्र को जागृत नहीं कर सकेंगे । हमारी श्रद्धा का केन्द्र आराध्य हमारे पराक्रम और प्रयत्न का उपकरण तथा उपलब्धियों का मानदण्ड वह मानव होगा जो आज शब्दशः अनिकेत और अपरिग्रही हैं ।"

पं. दीनदयाल जी उपाध्याय अपने आदर्शों को मूलरूप देने में सदा प्रयत्नशील रहे । मा. भाउसाहब देवरस की प्रेरणा से अपने आदर्शों के प्रचारार्थ सन् 1947 में "राष्ट्र धर्म प्रकाशन" की नींव डाली, जिससे भविष्य में आने वाली काली आंधी से पूरे देश को सजग किया जा सके । "राष्ट्र धर्म" नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित करने के लिए माननीय अटल बिहारी बाजपेयी और राजीव लोचन अग्निहोत्री को सम्पादन कार्य की जिम्मेदारी सौंप दी । लखनऊ नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति श्री कृष्ण गोपाल कलत्री से अमीनाबाद के मारवाडी गली में एक कमरा "राष्ट्र धर्म" कार्यालय हेतु निःशुल्क प्राप्त कर लिया । लखनऊ में अच्छे मुद्रण एवं प्रिंटिंग के लिए प्रसिद्ध अवध प्रिंटिंग वर्क्स (भार्गव प्रेस) "राष्ट्र धर्म" छपवाने के लिए निश्चित की गयी । अत्यन्त विचार मन्थन एवं कठिन परिश्रम के बाद शुभ श्रावणी पूर्णिमा (रक्षाबन्धन) सम्वत् 2004 वि. 31 अगस्त 1947 को "राष्ट्र धर्म" का प्रथम अंक प्रकाशित किया । राष्ट्रधर्म 96 पृष्ठ की इस पत्रिका में माननीय अटल बिहारी बाजपेयी की प्रसिद्ध कविता "हिन्दू तनमन हिन्दू जीवन, रग रग हिन्दू मेरा परिचय" परिचय स्तम्भ में छापी गयी फिर प.पू. गुरूजी (माधवराव सदाशिव गोलवरकर) का लेख "हमारा राष्ट्रवाद" अटल जी का लेख मुस्लिम राज्य बीज, विकास और फल तथा लक्ष्मीकान्त शास्त्री का लेख "आओ स्वतन्त्रते स्वागत" शीर्षक से छपा । व्यंगात्मक शैली में लिखा अग्रलिखित लेख कुछ इस प्रकार था -

'..स्वतन्त्रते तुम सदैव क्रान्ति के रथ पर बैठकर खून बहाती आती हो पर यहां भारत में तुम कलम की नोंक पर बैठकर आयी हो।" इसी के बगल में बायीं ओर चार भागों में एक कार्टून छपा था। जिसमें पहले भाग में अंगीठी पर कड़ाही चढ़ी है और एक बुढ़िया (कांग्रेस का प्रतीक) खीर पका रही है। दूसरे भाग में बुढ़िया ने आग जलाने के लिए चर्खा अंगीठी में लगा दिया है चर्खा अखण्डता का प्रतीक था इसमें लिखा भी था तीसरे भाग में बुढ़िया ढोल बजाकर गा रही थी अन्तिम भाग में एक कुत्ता खीर खा रहा था कुत्ता प्रतीक था मुस्लिम लीग का। उसकी कमर में चांद तारों वाला झण्डा बंधा था इस कार्टून के नीचे 'अमीर खुसरो' की निम्न पंक्तियां लिखी थीं -

"खीर पकाई जतन से, चर्खा दिया जलाय।
आया कुत्ता खा गया, तू बैठी ढोल बजाय।।"

माननीय दीनदयाल जी का गहन विचार शैली वाला 'चिति' नामक लेख इसी अंक में प्रकाशित हुआ तथा बिन्दु-बिन्दु विचार' शीर्षक से सम्पादकीय थी जो अटल जी के आग्रह पर लिखा था।

जब राष्ट्रधर्म का प्रथम अंक प्रकाशित हुआ तो राजनीति तथा साहित्यिक जगत में उसकी धूम मच गयी। सभी प्रतियां ए.पी. सेन रोड, संघ निवास पर आयीं और यहीं से उनका वितरण प्रारम्भ हुआ। माननीय दीनदयाल जी एवं अटल जी ने स्वयं बण्डल बांधने से लेकर वितरण करने तक का कार्य किया। आवश्यकता पड़ने पर प्रूफ रीडिंग एवं कम्पोजिंग का कार्य भी करते थे। माननीय दीनदयाल जी बारह से सोलह घण्टे प्रेस, कार्यालय तथा सम्पादकीय विभाग को देने लगे जिससे कि संस्थान की जड़े विधिवत् जम सकें। परिणामतः राष्ट्रधर्म प्रकाशन के कई अन्य पुष्प भी खिले यथा 'पाञ्चजन्य' साप्ताहिक, दैनिक स्वदेश तथा दैनिक 'तरूण भारत'।

राजनैतिक घटनाक्रम तेजी से बदल रहा था देश के विभाजन का घाव अभी भरा नहीं था कि पं. जवाहरलाल नेहरू ने मुस्लिम साम्प्रदायिकता को पोषित करना प्रारम्भ कर दिया। अतः देश एवं जनता को सत्ताधीशों के कुचक्र से दिन प्रतिदिन आगाह करने के लिए दैनिक एवं साप्ताहिक पत्रों की आवश्यकता महसूस हुई और पण्डित जी ने 14 जनवरी सन् 1948 में

मकर संक्रान्ति के अवसर पर "पाञ्चजन्य" नामक एक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया। "पाञ्चजन्य" के सम्पादन का दायित्व माननीय अटल जी को सौंपा गया। पहला अंक 16 पृष्ठों में प्रकाशित हुआ। इस अंक में पं. दीनदयाल जी द्वारा लिखित 'नन्दन वन धू-धू कर जल रहा है" शीर्षक था जिसमें कश्मीर की दृश्यावली स्पष्ट हो रही थी। इसी में एक कार्टून छपा जिसका दृश्य था - तमाम बिल्लियां बैठी हैं उन्हें पं. गोविन्द बल्लभ पंत (तत्कालीन मुख्यमन्त्री उत्तर प्रदेश) एक बक्से से निकाल निकालकर मालाएं बांट रहे हैं।

30 जनवरी 1948 को गांधी जी की हत्या हुई जिसका दोषी संघ को मानते हुए संघ पर प्रतिबन्ध लगाया गया। कार्यकर्ताओं को जेल भेजा गया 'राष्ट्रधर्म' प्रकाशन पर सरकार ने अधिकार जमा लिया। जेल से छूटने के उपरान्त पण्डित जी ने बन्द पड़े हुए सम्पादन कार्य को गति प्रदान की और रक्षाबन्धन श्रावणी पूर्णिमा सन् 1950 को "स्वदेश" नामक दैनिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ कराया जिसका सम्पादन कार्य अटल जी ने सम्भाला। उस समय दो समाचार समितियां अस्तित्व में थी एक "एसोसिएटेड प्रेस" (अब पी.टी.आई.) और दूसरी "यूनाइटेड न्यूज ऑफ इण्डिया। यह दोनों समितियां विदेशी प्रभुत्व वाली व सरकार समर्थक थी अतः दीनदयाल जी ने 'हिन्दुस्तान समाचार' नामक समिति का निर्माण किया।

महात्मा गांधी की हत्या का आरोप लगाकर संघ को कुचलने का षडयन्त्र तत्कालीन सरकार द्वारा किया गया था। उसका राजनीतिक लाभ लिया जा रहा था। इस अन्याय के विरूद्ध आन्दोलन (सत्याग्रह) संचालन का कार्य संघ ने पं. दीनदयाल जी को सौंपा। सत्याग्रह के कुशल संचालन के साथ पण्डित जी की लेखनी अनवरत् गतिशील रही। राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत लेख जनमानस को आलोकित करते रहे। पण्डित जी की प्रखर लेखनी का प्रवाह रोकने के लिए सत्ता ने 'पांञ्चजन्य' पर प्रतिबन्ध लगा दिया तो पण्डित जी ने 'हिमालय' नामक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया। जब उस पर भी कुठाराघात हुआ तब 'राष्ट्रभक्त' निकालने लगे। सत्ता के अनेक आघातों के बाद उनकी लेखनी रूकी नहीं सतत् चलती रही।

पण्डित जी द्वारा प्रारम्भ किए गए 'राष्ट्रधर्म' मासिक 'पांञ्चजन्य' साप्ताहिक विशिष्ट पत्रों के रूप में गिने जाते हैं। सन् 1967 में 'पांञ्चजन्य' को उत्कृष्ट मुद्रण एवं प्रकाशन की दृष्टि से लखनऊ से दिल्ली, स्थानान्तरित कर दिया गया। 'स्वदेश' वर्तमान में मध्यप्रदेश का प्रमुख दैनिक बनकर राष्ट्र की सेवा में समर्पित है।

पं. दीनदयाल जी ने अपनी विशिष्ट शैली में 'चन्द्रगुप्त' एवं 'जगद्गुरू शंकराचार्य' नामक दो पुस्तकें लिखी । विषय प्रतिपादन एवं शैली की दृष्टि से दोनों ही पुस्तकें अति उत्तम हैं । प्रथम कृति के रूप में 'चन्द्रगुप्त' नामक पुस्तक (सन् 1946) पाठकों द्वारा अत्यन्त सराही गयी । इसकी भूमिका के 'मनोगत' शीर्षक में लेखक (पण्ड्ति जी) ने लिखा है - प्रस्तुत पुस्तक में ऐतिहासिक तथ्यों के ढांचे पर अपनी भाषा का मांस चढ़ाकर चन्द्रगुप्त का चरित्र लिखा गया है । इसीप्रकार प्रसिद्ध सिकन्दर पोरस युद्ध में सिकन्दर की विजय बतायी गयी है । लेकिन दीनदयाल जी ने उसे पोरस से पराजित लिखा है - "अलिक सुन्दर ने जब सेना में यह त्राहि-त्राहि देखी तो वह बहुत घबरा गया । उसने अपनी बची खुची सेना को भी दूसरे किनारे से बुलवा लिया परन्तु उसे कोई लाभ नहीं हुआ । अन्त में उसने हारकर पर्वतम के सामने मित्रता का हाथ बढाया ।'

पण्डित जी के भाषणों के आधार पर कई पुस्तकें संकलित करके प्रकाशित की गयी हैं जैसे - 'भारतीय अर्थनीति ' 'विकास की एक दिशा' । अग्रेजी साप्ताहिक 'आर्गनाइजर' में पण्डित जी 'पोलिटिकल डायरी' नामक स्तम्भ से लेख लिखते थे । जिनका संकलन करके 'पोलिटिकल डायरी' नामक पुस्तक 17 मई 1964 को बम्बई में प्रकाशित की गयी । इस पुस्तक का बिमोचन परमपूज्य गुरूजी ने किया । इस पुस्तक की प्रस्तावना देश के प्रख्यात मनीषी डा. सम्पूर्णानन्द ने लिखी । इसकी भूमिका में सम्पूर्णानन्द जी ने लिखा कि 'पं. दीनदयाल के लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं भविष्य का संकेत करने वाले हैं ।' वास्तव में यदि पण्डित जी की चेतावनी की ओर समुचित ध्यान दिया गया होता तो कश्मीर की इतनी दुर्दशा नहीं होती । सन् 1966 में नहर जल संधि पर हस्ताक्षेप करने जब तत्कालीन प्रधानमन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरू पाकिस्तान जा रहे थे, पं. दीनदयाल जी ने उक्त अवसर पर ही 'क्या कश्मीर पर समझौता हितकर रहेगा ? शीर्षक लेख में देश की जनता को सतर्क रहने का निर्देश दिया था और कहा था - "जहां तक भारत का सम्बन्ध है कश्मीर के बारे में उसे पाकिस्तान के साथ केवल इसी प्रश्न पर विचार करना है कि भारतीय भू-खण्ड के उस भाग से वह कब और किस प्रकार हटने वाला है जिसपर उसने भारत के साथ विश्वासघाती आक्रमण कर अवैध कब्जा जमा रखा है ।"

पण्ड्ति जी ने "एकात्म मानव वाद" नामक अलौकिक रचना करके भारतीय जीवन दर्शन को वर्तमान संदर्भ में प्रस्तुत कर सारे संसार को नवीन दिशा देने का सुखद कार्य किया ।

उन्होंने ममता, समता और बन्धुत्व की भावना को प्रतिष्ठापित करने के लिए एकात्म मानव वाद का दर्शन प्रस्तुत किया । मूल सिद्धान्त के रूप में एक सुसंस्कृत शक्तिशाली समाज के निर्माण की रूपरेखा इसमें निहित है । डा. राममनोहर लोहिया ने पं. जी के विचारों से प्रभावित होकर कहा था - "उपाध्याय जी किसी भी समाजवादी से ज्यादा समाजवादी हैं ।" 'सिद्धान्त और नीति' नामक पुस्तक में पण्डित जी ने लिखा है कि "समाज की कोई प्रगति तब तक नहीं आंकी या मानी जा सकती, जब तक समाज के सबसे निचले स्तर पर बैठे आदमी का उत्थान नहीं होता - उसका आर्थिक जीवन स्तर ऊँचा नहीं होता ।"

पण्ड़ित जी ने एक मौलिक चिन्तक, श्रेष्ठ पत्रकार प्रभावी वक्ता के रूप में राष्ट्र की अतुलनीय साहित्यिक सेवा की । तन्मयता और कुशलता से सम्पादन कार्य किया और भावी लेखकों का मार्गदर्शन करते हुए आचार संहिता के अन्तर्गत स्वच्छ एवं निर्भीक पत्रकारिता को प्रोत्साहित किया ।

कथनी करनी एक सी
पाया हृदय विशाल
रहे समर्पित राष्ट्रहित
पण्ड़ित दीनदयाल ।

प्रत्येक विषय के बारे में उनको ज्ञान था । वे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष जैसे विषयों को आसानी से कम पढ़े लिखे लोगों तक को समझा देते थे । ऐसा लगता था कि हर विषय के बारे में उनका ज्ञान जन्मजात है । संघ से प्रतिबन्ध हटने के बाद जब वे जेल से बाहर आये थे उन्होंने कुछ विशिष्ट लेख लिखे -

1. भारतीय राष्ट्रधारा का पुनः प्रवाह
2. भगवान कृष्ण
3. राष्ट्रजीवन की समस्याएं
4. भारतीय राजनीति की मौलिक भूल
5. लोकमान्य तिलक की राजनीति
6. भारतीय संविधान पर दृष्टि
7. जीवन का ध्येय तथा आत्मानुभूति

(च) रचनात्मक कार्य -

सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए पं. दीनदयाल जी मानसिकता पैदा करना चाहते थे उनका कहना था कि छुआछूत जैसी बुराइयों को दूर करने के लिए समता, ममता, समरसता तथा एकात्मता का भाव चाहिए । उनका मानना था कि ऐसी सभी बुराइयों की जड़ में पराएपन की भावना रहती है । इसलिए अपनत्व भाव का निर्माण होना बहुत जरूरी है और अपनत्व भाव का निर्माण एकात्मता के विचारों से ही हो सकता है । दूसरे व्यक्ति के शरीर में भी वही आत्मा व्याप्त है जो मेरे शरीर में । वह दूसरे घर में पैदा हुआ है इतने मात्र से वह पराया नहीं । जब इस प्रकार का एकात्मकता का भाव निर्माण होता है तभी दूसरे व्यक्ति की पृथक्ता की पीड़ा का भी बोध होता है । यथा -

आत्मानं प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।

छूआछूत और उँच-नीच का भाव हमारे हिन्दू घरों की महिलाओं के आग्रह पर अधिक निर्माण होता है, इसका कारण स्त्रियों की अशिक्षा है इसलिए स्त्रियों में सामाजिक शिक्षण और सामाजिक जाग्रति पर पण्ड़ित जी बल देते थे एवं स्वयं रचनात्मक कार्यक्रमों जैसे सहभोज, मलिन बस्तियों की सफाई, दु:खी दरिद्र व्यक्ति की सेवा के माध्यम से एकात्मक भाव कायम रखने की कोशिश करते थे । वह कहते थे कि कोई भी महिला अपने जन्मजात अपंग और अपाहिज बच्चे को भी प्यार कर सकती है क्योंकि उसके मन में यह भाव होता है कि यह बच्चा मेरे जिगर का टुकड़ा है मेरा अपना है । इस प्रकार के अपनत्व का भाव यदि उनके अन्दर जागृत किया जाए तो वे समाज के किसी व्यक्ति को स्नेह देने में पीछे नहीं रहेंगी । इसी आस्था पर पण्ड़ित दीनदयाल जी अपनत्व के भाव को प्राथमिकता देकर कार्य करते थे और कार्यकर्ताओं से समाज में एकता निर्माण करने के लिए अपनत्व भाव जागृत का आग्रह करते थे ।

सामाजिक समरसता स्थापित कराने हेतु दीनदयाल जी अलग से काम करने के स्थान पर अपने व्यवहार का आदर्श उपस्थित करते थे । जहां-जहां इस तरह के कार्य की आवश्यकता होती थी वहां-वहां कार्यकर्ताओं को उन्होंने प्रोत्साहित किया । उनके मार्ग में आने वाली कठिनाइयों को सरल बनाने की कोशिश की व अपने कई कार्यकर्ताओं को इन क्षेत्रों में काम करने के लिए भेजा । वे स्वयं भी इस बात का आग्रह करते थे कि प्रवास के समय उन्हें किसी

हरिजन बस्ती में ही ठहराया जाए। और वह किसी हरिजन के घर रुककर उसके घर समाज के प्रतिष्ठित लोगों को ले जाते थे तथा उसे कहे हुए वर्ग से जोड़ने का सफल प्रयास करते थे और यहां तक हरिजन बस्तियों में झाड़ू लेकर सफाई कार्य तक उन्होंने किया था ।

अन्त्योदय कार्यक्रम पण्डित जी का एक महान् रचनात्मक कदम था । इस कार्यक्रम के माध्यम से वह समाज के सबसे निचले स्तर पर बैठे मानव तक विकास की किरणों को पंहुचाना चाहते थे । असहाय, बेजुबान, निरक्षर और साधनहीन लोगों को लाभान्वित करके राष्ट्रीय विकास की धारा को गतिशील बनाना चाहते थे । वह दरिद्रनारायण को अपना आराध्यदेव मानकर उनकी सेवा करना अपना कर्तव्य समझने लगे थे । उनकी कथनी और करनी एक जैसी थी । उनका कहना था - "वे लोग जिनके सामने रोजी-रोटी का सवाल है जिन्हें न रहने के लिए मकान है और न तन ढकने के लिए कपड़ा । अपने मैले-कुचैले बच्चों के बीच दम तोड़ रहे हैं गांवों और शहरों के उन करोड़ों निराश भाई-बहिनों को सुखी व सम्पन्न बनाना हमारा लक्ष्य है ।"

पण्ड़ित जी कहा करते थे कि "केवल नारेबाजी से कोई काम नहीं चलेगा । जब तक उस मानव को, जो ऐसे क्षेत्रों में रहता है जहां आज प्रकाश नहीं है जहां दरिद्रता और दैत्य का साम्राज्य है, जहां उसके पांव में बिवाई फटी हुई हैं जिसे जूता पहनने के लिए प्राप्त नहीं है उस निरक्षर निरुत्साही और किंकर्तव्य विमूढ़ मानव को स्वस्थ और सुन्दर समाज का दर्शन नहीं करा देते, तब तक प्रत्येक विचारशील एवं संवेदनशील व्यक्ति को ऐसे समाज के निर्माण के लिए सतत् कार्यरत रहना चाहिए ।"

पण्ड़ित जी ने राष्ट्र के विराट् को जागृत करने का श्रेष्ठ रचनात्मक कार्य अपनाया था । अपने गहन विचारों के द्वारा राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक के हृदय में राष्ट्र भक्ति की भावना भरकर एक संगठित एवं शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण चाहते थे । उनके शब्दों में - "राष्ट्र का स्वरूप 'एकजन' की सामूहिक मूलप्रकृति द्वारा निर्धारित होता है । यही चिति' है । .....'चिति' से जागृत और एकीभूत हुई समष्टि की प्राकृतिक क्षात्र शक्ति अर्थात अनिष्टों से रक्षा करने वाली शक्ति "विराट्" कही जाती है । यही विराट है जो चिति' के प्रकाश से जागृत होता है और हम कहते हैं कि राष्ट्र जाग उठा है । 'विराट्' राष्ट्र का प्राण है तो 'चिति' आत्मा है । जिसप्रकार प्राण शरीर के विभिन्न अंगों को शक्ति प्रदान करता है बुद्धि को ताजा रखता है और

मानसिक शारीरिक सन्तुलन ठीक रखता है उसीप्रकार राष्ट्र में किसी शक्तिशाली 'विराट्' के रहने से ही लोकतन्त्र सफल हो सकता है तथा सरकार कारगर हो सकती है । जब 'विराट्' जागा हुआ होता है तो विभिन्नता पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न नहीं करती तथा राष्ट्र के लोग एक दूसरे के साथ सहयोग करते हैं । यजुर्वेद में भी "वयं राष्ट्रे जागृयामः पुरोहिताः" मन्त्र द्वारा यही मंशा ब्यवत की गयी है कि हम जागते रहेंगे यानि राष्ट्र को जागृत रखेंगे । राष्ट्र के अंग-अंग के रूप में यह जीवन कल्पना उनकी मौलिक उद्भावना एवं प्रतिभा का परिणाम है उसी के आधार पर राष्ट्रीयता की व्यापक एवं उदात्त अभिव्यक्ति हुई है । एकता समग्रता और अखण्डता को प्रोत्साहन मिला, गति मिली । इस अवधारणा से वे स्पष्ट करना चाहते थे कि राष्ट्रहित, राष्ट्र इच्छा किसी भी मतवाद, जाति, सम्प्रदाय, भाषा, नस्ल, प्रांतीयता से नितांत ऊपर है । उसकी रक्षा सब प्रकार से होनी चाहिए । "माता भूमि : पुत्रोऽहम् प्रथिव्याः" पुत्रों को सभी प्रकार से ऊपर उठकर सब प्रकार से माता की रक्षा करनी चाहिए ।

1952 के अन्त और 1953 के प्रारम्भ में जम्मू कश्मीर के मुख्यमन्त्री शेख अब्दुल्ला के अत्याचार, वहां की जनता और उसके विरोध में सत्याग्रह चलाने वाले 'प्रजा परिषद' पर बहुत अधिक बढ़ गये । अतः दिल्ली और पंजाब में सत्याग्रह शुरू हुआ ।

सन् 1952 में 'कश्मीर सत्याग्रह' की बागडोर पण्ड़ित जी के हाथों में आयी उन्होंने इस आन्दोलन को रचनात्मक स्वरूप प्रदान किया । भारतीय जनसंघ के संस्थापक डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी की 'हिन्दू शरणार्थियों को बसाने और कश्मीर के भारत में पूर्ण विलय' की प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए सम्पूर्ण भारत में जागरण की लहर उत्पन्न करने का कार्य किया । जगह-जगह बैठकों एवं सभाओं का बृहत् आयोजन करके इस सत्याग्रह को विराट् जनान्दोलन का स्वरूप प्रदान किया । 'एक प्रधान, एक विधान और एक निशान' का नारा लगाती टोलियां केशरिया टोपियां पहने एवं केशरिया ध्वज लिए सत्याग्रह में उतरने लगीं । जेलें भरने लगीं सत्याग्रह का स्वरूप विशाल से विशालतर् होता गया । इस आन्दोलन में डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी को जेल में डाल दिया गया । जहां 40 दिन बाद संदिग्धावस्था में 23 जुलाई 1953 में उनकी मृत्यु हो गयी । जिससे आन्दोलन को स्थगित करना पड़ा लेकिन डा. मुखर्जी के सपने को साकार करने के लिए पं. दीनदयाल जी ने कोई कसर नहीं छोडी । सशक्त सम्पन्न और अखण्ड भारत का सपना उनके हृदय में अंकित था जो उनका मार्ग आलोकित करता रहा ।

(ङ॰) श्रम साधना -

पं. दीनदयाल उपाध्याय का यह विश्वास था कि विषम समस्याओं से घिरे इस देश में सब प्रकार का समाधान सम्भव है । आवश्यकता केवल इस बात की है कि देश के कर्णधार और समाज के जागरूक लोग निष्ठापूर्वक इसके लिए प्रयत्नशील हों । उनका कहना था कि यदि भारत की उन्नति होती है तो हम सबको कर्मठ होकर परिश्रम करना होगा । उन्हें अपने अल्प जीवन में ही आभास हो गया था कि स्वतन्त्र होने के बाद आम भारतवासी भौतिक रूप से अधिक सजग हो गया है । उसका ध्यान धन संचय करने में अधिक है । इससे व्यक्तिगत लाभ तो होगा लेकिन देश की उन्नति आपसी सहयोग और अधिक से अधिक परिश्रम से ही सम्भव है । स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए जो त्याग किया उसे उससे दुगुना त्याग व चौगुनी तपस्या की आवश्यकता है देश को समृद्धिशाली बनाने के लिए । लेकिन वे इस बात से दुःखी थे कि स्वतन्त्रता के पूर्व की तरह अब भी लोग एक दूसरे का शोषण कर रहे हैं । उनका मानना था कि भारतवर्ष एक बहुत बड़ा कुटुम्ब है, जिसके हर सदस्य का जन्मसिद्ध अधिकार है कि उसे रोटी, कपड़ा और मकान अवश्य मिले । उसके जीने की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हो । कार्य यह सोचकर किया जाना चाहिए कि यह भगवान का कार्य है और हमारा कर्तव्य है । उन्होंने लिखा है -

"राजा और रंक, पूंजीपति और श्रमिक अमीर और गरीब सबको श्रम की साधना में जुटना होगा । श्रम से परांग मुख राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक-संरक्षण समाप्त करने होंगे । श्रम के लिए भटकती भुजाओं को काम देना होगा । जहां राष्ट्रव्यापी श्रम है वहां निर्धनता और विषमता टिक नहीं सकती । जहां समता और सम्पन्नता है वही शिवत्व एवं सौन्दर्य है ।" भारतीय अर्थनीति विकास की एक दिशा में उन्होंने बेरोजगार एवं रोजगार प्राप्त कामचोर दोनों को देश की उन्नति में बाधक बताया है । उन्होंने लिखा है कि जैसे बेगार हमारी दृष्टि में काम नही है, वैसे ही व्यक्ति के द्वारा काम में लगे रहते हुए भी अपनी शक्ति भर उत्पादन न कर सकना भी काम नही है । 'अण्डर एम्पलायमेन्ट' भी एक प्रकार की बेकारी है । भारत जैसे देश के लिए जहां श्रम ही हमारी सबसे बड़ी पूंजी है, श्रम का समर्थ्यातुसार अनुपयोग घातक है । अतः विकेन्द्रीकरण के साथ हमें इस बात पर भी ध्यान देना होगा कि राष्ट्र के उत्पादन में व्यक्ति अपना पूर्ण योगदान दे सके । बिना इसके न्यूनतम् स्तर और सामाजिक सुरक्षाओं की गारण्टी द्वारा उपभोग की स्वतन्त्रता बेमानी हो जाएगी ।

उपाध्याय जी स्वयं एक अखण्ड कार्य साधक थे । उनकी कर्म साधना चरैवेति के सिद्धान्त पर आधारित थी वैदिक ग्रन्थ 'ऐतरेय ब्राह्मण' के निम्नलिखित चरैवेति । चरैवेति ! शीर्षक मन्त्र पण्ड़ित जी के जीवन के प्रमुख प्रेरणा स्रोत रहे हैं ।

नाना श्रान्ताय श्री रस्ति इति रोहितशुश्रुम ।

पापो नृष,द्वरोजन इन्द्रः इच्चरतः सखा ।।

चरैवेति । चरैवेति ।

हरिश्चन्द्र के पुत्र रोहित को उपदेश देते हुए इन्द्र कहते हैं कि "हे रोहित । हम ऐसा सुनते हैं कि श्रम करने से जो नहीं थका ऐसे मनुष्य को श्री की अथवा ऐश्वर्य और वैभव की प्राप्ति होती है । बैठे हुए आलसी आदमी को पाप धर दबाता है । इन्द्र उसका ही मित्र है जो बराबर चलता रहता है । इसलिए चलते रहो । चलते रहो ।

* * * * * *

आस्ते भग आसीनस्य ऊर्ध्वस्तिष्ठाति तिष्ठतः ।

शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भग : ।।

चरैवेति । चरैवेति ।

बैठे हुए का सौभाग्य बैठा रहता है और खड़े होने वाले का सौभाग्य उठकर खड़ा हो जाता है । पड़े रहने वाले का सौभाग्य सोता रहता है और उठकर चलने वाले का सौभाग्य चल पड़ता है । इसलिए चलते रहो । चलते रहो ।

* * * * * *

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।

उन्तिष्ठस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ।।

चरैवेति । चरैवेति ।

सोने वाले का नाम कलियुग है अंगड़ाई लेने वाला द्वापर है उठकर खड़ा होने वाला त्रेता है और चलने वाला सतयुगी होता है । इसलिए चलते रहो । चलते रहो ।

* * * * * *

चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदम्बरम् ।

सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् ।।

चरैवेति । चरैवेति ।।

चलता हुआ मनुष्य ही मधु (अमृत) प्राप्त करता है । चलता हुआ मनुष्य ही स्वादिष्ट फलों को चखता है । सूर्य के परिश्रम को देखो जो नित्य चलता हुआ कभी आलस्य नहीं करता । इसलिए चलते रहो । चलते रहो ।

*　　*　　*　　*　　*　　*

विद्यार्थी जीवन से ही पण्ड़ित जी अत्यन्त परिश्रमी रहे हैं स्वयं विषम परिस्थितियों में अध्ययन करना साथ-साथ अपने कमजोर मित्रों को पढ़ाना और प्रथम श्रेणी में पास होना उनके परिश्रम का ही फल था । पढ़ाई के साथ संगठन का कार्य करते हुए अन्य कार्यकर्ताओं के लिए आदर्श बन गये थे । राष्ट्रधर्म मासिक पत्रिका के सम्पादन, लेखन से लेकर कम्पोजिंग, बण्ड़ल बांधना और उन्हें बितरित करने तक का कार्य पण्ड़ित जी ने अत्यन्त परिश्रम के साथ किया । बहुत कम समय में जिला प्रचारक फिर सहप्रान्त प्रचारक, जनसंघ के प्रान्तीय महामन्त्री, राष्ट्रीय महामन्त्री एवं राष्ट्रीय अध्यक्ष जैसे गरिमामय दायित्व को सम्भालना कम मेहनत का कार्य नहीं था । भारतीय जनसंघ को देश में दूसरे नम्बर के दल के रूप में प्रतिष्ठापित करने का श्रेय पण्ड़ित दीनदयाल जी को ही है । अहर्निश प्रवास में रहने वाले पण्ड़ित जी ने कभी परिवहन के सुखद साधनों की अपेक्षा नहीं की । मोटरगाड़ी नहीं मिली तो रिक्शे से चल पड़े, प्रथम श्रेणी में स्थान नहीं तो निचली श्रेणी में ही गुजारा कर लिया । कभी-कभी तो वह जनता जनार्दन के साथ अनारक्षित रेल-डिब्बे में ही गठरी बने लम्बी रेल यात्राऐं कर जाते थे । अपनी कर्म साधना में उन्होंने साधनों को कभी बाधक नहीं बनने दिया ।

26 जनवरी सन् 1950 को देश में गणतन्त्र की घोषणा की गयी । भारत का नवीन संविधान स्वीकार हुआ । कांग्रेस के कुशासन और अल्पसंख्यक संतुष्टिकरण की नीति के कारण राष्ट्रीय आत्मा दुःखी थी । भारत का विभाजन हो ही चुका था । कश्मीर पर पाक गिद्ध दृष्टि लगाए हुए था और हमारे नेता उसे प्रसन्न रखने के लिए 55 करोड़ दान कर दिये जबकि उससे उल्टे 300 करोड़ लेना चाहिए था । 'नेहरू लियाकत समझौता' का अर्थ भारत की गर्दन झुकना ही था ।

तत्कालीन केन्द्रीय उद्योग मन्त्री डा. श्यामा प्रसाद मुखर्जी इस समझौते के घोर विरोधी थे । उन्होंने पाकिस्तान से आये हुये आतंकित हिन्दुओं के आवास के लिए पाकिस्तान से भूमि लेने की मांग की और उसके न पाने तक समझौता ठुकराने का आग्रह किया । नेहरू जी से मन्त्रिमण्डल की बैठक में इस प्रश्न को लेकर झड़प हो गयी । नेहरू जी ने आपके सुझाव अस्वीकार कर दिये । अतः आपने अप्रैल 1950 में मन्त्रिमण्डल से त्याग पत्र दे दिया तथा संसद में अपनी आवाज को बल प्रदान करने के लिए सभी बिरोधियों को मिलाकर एक राष्ट्रीय गणतान्त्रिक मोर्चा बनाया । डा. मुखर्जी ने विरोधी पक्ष के नेता के रूप में हिन्दू शरणार्थियों को बसाने और कश्मीर के भारत में पूर्ण विलय की प्रतिज्ञा की । अतः आपको आभास हुआ कि कांग्रेस के विकल्प के लिए अखिल भारतीय स्तर पर एक आदर्शवादी राजनीतिक संगठन खड़ा किया जाना चाहिए इसके लिए उन्हें आदर्शवादी नवयुवकों की आवश्यकता का अनुभव हुआ । वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के तत्कालीन सरसंघ चालक परम्पूज्य गुरूजी के पास गए और अपनी बात को उनके सामने रखा इधर सन् 1948 में पण्ड़ित नेहरू द्वारा संघ पर लगाए गए प्रतिबन्ध के कारण कार्यकर्ताओं के ऊपर अत्यन्त अत्याचार हुए थे । अतः संघ भी ऐसे अन्यायों का सामना करने के लिए अपना समर्थक एक राजनीतिक दल तैयार करना चाहता था । इसलिए परम्पूज्य गुरूजी डा. मुखर्जी की बात से तुरन्त सहमत होकर पं. दीनदयाल जी को उनके सहयोग के लिए राजनीति में भेज दिया। प्रथमतः दीनदयाल जी ने उत्तर प्रदेश का एक सम्मेलन बुलाकर सितम्बर 1951 को प्रादेशिक जनसंघ की स्थापना की और उसी में उन्होंने इसे अखिल भारतीय स्वरूप देने का प्रस्ताव रखा जो सर्वसम्मति से पारित हुआ । लखनऊ के अधिवक्ता श्री राजकुमार जी प्रदेश अध्यक्ष तथा पण्ड़ित दीनदयाल जी प्रदेश महामन्त्री चुने गए । दीनदयाल जी जनसंघ को अखिल भारतीय स्वरूप देने में जुट गए और एक माह के अन्दर दिल्ली में 20 अक्टूबर 1951 को अखिल भारतीय सम्मेलन बुलाया 20 से 22 अक्टूबर तक दिल्ली के राघोमल हायर सेकेण्डरी स्कूल मे त्रिदिवसीय सम्मेलन हुआ 21 अक्टूबर 1951 को डा. श्यामा प्रसाद मुखर्जी की अध्यक्षता में जनसंघ को अखिल भारतीय स्वरूप प्राप्त हुआ ।

प्रथम आम चुनाव में सारे देश में चुनाव लड़ने की योजना बनाई गयी । उत्तर प्रदेश में चुनाव संचालन का भार पं. दीनदयाल के कंधों में डाला गया । मा. नानाजी देशमुख

उनके सहयोगी के रूप में सारे प्रदेश में घूमघूम कर प्रत्याशी खड़े किए । चुनाव बड़े ही प्रभावी ढ़ंग से लड़ा गया । तत्कालीन प्रधानमन्त्री पण्ड़ित नेहरू को अत्यन्त घबराहट हुई इसलिए उन्होंने सारे देश में जनसंघ के विरूद्ध अभियान छेड़ा । इसे साम्प्रदायिक पुरातनवादी और गांधी जी का हत्यारा तक कह डाला । परन्तु जनसंघ को प्राप्त मतों के आधार पर पहले ही चुनाव में उसे अखिल भारतीय दल की मान्यता प्राप्त हो गयी इस चुनाव में जनसंघ को तीन सीटें मिलीं । डा. मुखर्जी स्वयं जीतकर आये और 125 सीटों वाले सम्पूर्ण विपक्ष के नेता चुने गये । कश्मीर के प्रश्न को फिर संसद में उठाया । कश्मीर समस्या के लिए उन्होंने पण्ड़ित नेहरू को पूरी तरह से दोषी ठहराया । अतः नेहरू जी क्रोध से लाल हो गये और क्रोधावेश में यहां तक कह गये कि "हम जनसंघ को कुचल डालेंगे ।" इस पर डा. जी ने उत्तर दिया कि हम जनसंघ की कुचलने वाली भावना को ही कुचल डालेंगे । कश्मीर के भारत में पूर्ण विलय के प्रश्न को लेकर जनसंघ का प्रथम अखिल भारतीय अधिवेशन दिसम्बर 1952 में कानपुर के गणेश उद्यान में आयोजित हुआ जिसमें सत्याग्रह छेड़ने का निर्णय लिया गया । इसकी अध्यक्षता डा. मुखर्जी ने की । इसी अधिवेशन में डा. मुखर्जी ने पं. दीनदयाल उपाध्याय को उनकी प्रखर संगठनात्मक प्रतिभा देखकर अखिल भारतीय महामन्त्री का दायित्व सौंप दिया । अत्यन्त भावावेश में भाषण करते हुए घोषणा की कि यदि मुझे दो और दीनदयाल मिल जाते तो मैं देश की राजनीति का नक्शा बदल देता । इसी अधिवेशन में कश्मीर सत्याग्रह संचालन का सम्पूर्ण भार पण्ड़ित जी को सौंपने का ऐतिहासिक निर्णय लिया गया । केन्द्रीय महामन्त्री बन जाने के बाद पण्ड़ित जी का केन्द्र लखनऊ से बदलकर दिल्ली हो गया और उत्तर प्रदेश का संगठन सूत्र मा. नाना जी देशमुख के हाथों में सौंपा गया । कश्मीर सत्याग्रह का संचालन पं. दीनदयाल जी ने और इसका नेतृत्व डा. मुखर्जी ने किया । डा. मुखर्जी की जेल में संदिग्ध मृत्यु हुयी । सत्याग्रह स्थगित हुआ । जनसंघ को भारी आघात पंहुचा । कार्यकर्ता शोक में डूब गये । संगठन की सारी जिम्मेदारी पण्ड़ित जी के कंधों पर आ पड़ी । पं. मौलिचन्द्र शर्मा को जनसंघ का अध्यक्ष मनोनीत किया गया । सन् 1953 से 1967 तक पण्ड़ित जी महामन्त्री के नाते पार्टी का संचालन करते रहे । जम्मू-कश्मीर प्रजा परिषद का जनसंघ में विलय हुआ । पण्ड़ित जी का अथक परिश्रम अहर्निश चिन्तन रंग लाया, जनसंघ ने गति पकड़ी और शीघ्र ही देश की दूसरे नम्बर की पार्टी बन गयी ।

अपनी प्रतिभा के बल पर पण्ड़ित जी ने जनसंघ रूपी नन्हें से पौधे को सींच-सींच कर पुष्पवित पल्लवित किया तथा एक विशाल वट वृक्ष के रूप में परिणित कर दिया। जिस संगठन का स्थान 1952 और 1957 के चुनाव में नगण्य रहा उसे 1962 के चुनाव में पाँचवे और 1967 के चुनाव में द्वितीय स्थान पर लाकर खड़ा कर दिया। पण्ड़ित जी ने जनसंघ को केवल राजनैतिक दिशा ही नहीं दी, विश्व को एकात्मवाद का नितान्त नया और अभूतपूर्व दर्शन भी दिया और मन्त्रदृष्टा राजर्षि के नाते हमारे सामने आए। राजनीति की गन्दगी को भी शुद्ध और पवित्र बनाने के लिए नैतिकता और मूल्यों पर आधारित राजनीति चलाने पर बल दिया।

भारतीय जनसंघ के दिन प्रतिदिन बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर कांग्रेस में घबराहट उत्पन्न होने लगी। जनसंघ के विरूद्ध भ्रामक प्रचार करने लगे। जनसंघ की छवि विदेशों में भी बिगाड़ने का प्रयास किया गया। अतः पण्ड़ित जी ने अमेरिका, पश्चिमी जर्मनी, इग्लैंड तथा पूर्वी अफ्रीका का दौरा करके कांग्रेस द्वारा किये गये भ्रामक प्रचार का जबाव दिया। वहां पर पण्ड़ित जी ने सभाओं को सम्बोधित किया प्रवासी भारतीयों से मिले तथा इग्लैंड में वहां की संसद को भी सम्बोधित किया। पण्ड़ित जी के इस प्रवास का जनसंघ को बहुत ही लाभ हुआ। प्रवासी भारतीयों को स्पष्टीकरण प्राप्त हुआ और भारत के प्रति उनकी निष्ठाएं बढ़ीं तथा सुब्रह्मणस्वामी श्री मनोहर लाल सोंधी तथा डा. नारायण स्वरूप शर्मा जैसे व्यक्तियों को पुनः भारत लौटने की प्रेरणा प्रदान की।

1963 में जौनपुर के संसदीय उपचुनाव में कार्यकर्ताओं ने जिद् करके उन्हें खड़ा कर दिया जबकि उनकी इच्छा नहीं थी। पण्ड़ित जी चुनाव लड़े सिद्धान्तों के आधार पर पूरी शक्ति से लड़े परन्तु कांग्रेस के प्रत्याशी की तरह चुनाव में जातिवाद उभारने तथा वोटों की खरीद करने से स्पष्ट मना कर दिया। अतः पण्ड़ित जी चुनाव हार गये और बड़ी उदारता के साथ पत्रकारों के बीच अपनी हार को हंसकर स्वीकार कर लिया, "अरे भाई मुझे तो हारना ही था, कांग्रेस का प्रत्याशी मुझसे कहीं अधिक योग्य था और बहुत वर्षों से इस क्षेत्र में जनसेवा कर रहा था।" अर्थात् सुख और दुःख जय और पराजय गीता में स्थित प्रज्ञ ऋषि की तरह उनके लिए समान थे।

1965 में पाकिस्तान ने 'कच्छ के रन पर अपना दावा किया और हमले प्रारम्भ कर दिये । कांग्रेस की केन्द्रीय सरकार और गुजरात की सरकार दोनों अपनी तथाकथित उदार समझौतावादी नीतियों के कारण पाकिस्तान से कच्छ के रन पर समझौता करने को तैयार हो गये । इसी समय पण्ड़ित जी का गुरू गम्भीर गर्जन सारे देश में गूंज उठा, "पूरा का पूरा कच्छ भारत का है इसकी एक इंच धरती को बड़ी से बड़ी शक्ति किसी दूसरे को नहीं सौंप सकती ।" इस समझौते के विरूद्ध देश के जनमानस को जागृत करने के लिए दिल्ली में एक विशाल रैली का आयोजन किया । इस रैली को सफल बनाने के लिए सारे देश का भ्रमण किया । हजारों सभाओं को सम्बोधित किया और अनगिनत पत्र लिखे । सारी जनता से तन-मन-धन से सहयोग करने की प्रार्थना की । "दिल्ली चलो" का नारा दावानल की तरह सारे देश में धधक उठा । 16 अगस्त 1965 को अपने विराट् स्वरूप का दर्शन कराके जनमानस को विश्वस्त किया । देश के कोने-कोने से आये पाँच लाख लोग केसरिया ध्वज लहराते हुए 'कच्छ समझौता तोड़ दो वरना गद्दी छोड़ दो' के गगनभेदी नारों से दिल्ली को गुंजायमान कर दिया । दिल्ली की सड़कों से होती हुयी रैली संसद भवन पंहुची । विजय मिली, सरकार झुकी और कच्छ समझौता टूट गया । इस प्रकार पण्ड़ित जी ने सरकार के प्रति रोष प्रकट करने के लोकतान्त्रिक तरीकों की नींव डाली ।

1962 में डा. रघुवीर जनसंघ के अध्यक्ष चुने गये । डा. लोहिया के उपचुनाव में प्रचार के लिए कन्नौज जाते समय रास्ते में कार दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गयी । जनसंघ के लिए यह दूसरा आघात था । पण्ड़ित जी ने इस झटके को भी झेल लिया, और जनसंघ को गतिशील बनाने में लगे रहे । 1967 तक पंहुचते-पंहुचते श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस पार्टी का पतन प्रारम्भ हुआ । 1967 में पूरे उत्तर भारत के समस्त हिन्दी भाषी प्रान्तों में पंजाब और गुजरात में विरोधी पक्ष की मिली-जुली संविद सरकारें प्रस्थापित हो गयीं । जनसंघ इन सभी राज्यों में सत्ता का भागीदार बना । यह सभी सरकारें भानुमति का अजीब पिटारा थीं । जिनमें दो परस्पर बिरोधी ध्रुव कम्यूनिस्ट और जनसंघ एक साथ शामिल थे । इस खिचड़ी को पकाने का श्रेय पण्ड़ित दीनदयाल जी को ही था । हालांकि वह जानते थे कि ये सरकारें बहुत दिनों तक नहीं चल पायेंगीं लेकिन इनका कहना था कि, "पहले इस महाशत्रु को मार दो, बाद में आपस में निपट लेंगे ।" मत बिभिन्नता के कारण यह खिचड़ी सरकारें दो वर्ष के अन्दर ही एक के

बाद एक धराशायी हो गयीं लेकिन इन संविद सरकारों से यह लाभ हुआ कि जनता में पहली बार यह विश्वास हुआ कि कांग्रेस पार्टी को भी सत्ता से हटाया जा सकता है । यह सब पण्ड़ित जी के सफल राजनीतिक चिन्तन का परिणाम था ।

दिसम्बर 1967 भारतीय जनसंघ के इतिहास में सर्वाधिक महत्व का था, वह विराट् का दर्शन कराने वाला महापुरुष जनसंघ का अध्यक्ष बनकर दक्षिण पथ की ओर अपना पावन संदेश देने को चला । कालीकट में जनसंघ का राष्ट्रीय अधिवेशन हुआ पण्ड़ित जी की अध्यक्षता का समाचार देश के कोने-कोने में फैल गया । कार्यकर्ता खुशी से झूम उठे कालीकट पंहुचने के लिए उतावले हो उठे । केरल की कम्युनिस्ट सरकार एवं उसके मुख्यमन्त्री नम्बूदरीपाद ने सब प्रकार के रोडे अटकाए लेकिन जनसैलाब को रोका नहीं जा सका । शोभायात्रा तो अभूतपूर्व थी मानो सारा केरल उमड़कर सड़कों पर आ गया हो । कालीकट की सड़कें फूल-मालाओं से भर गयीं, केशरिया रंग में नहा गयीं । जयकारों से गगन गूंज उठा । पण्ड़ित जी का अध्यक्षीय भाषण अभूतपूर्व था । देश की किसी भी ज्वलन्त समस्या को नहीं छोड़ा था सभी का निदान भी प्रस्तुत किया । कुछ प्रमुख कम्युनिस्ट नेताओं ने अपना नाता संघ से जोड़ लिया वही सन्देश उसका आखिरी सन्देश हो गया । विश्व के सम्पादकों ने उसकी प्रशंसा में अपनी लेखनी तोड़ दी ।

(च) अर्थ चिन्तन

पं. दीनदयाल जी का आर्थिक चिन्तन वास्तविकता पर आधारित था । वे मनुष्य और मनुष्य के बीच दिखावटी सम्बन्धों से सन्तुष्ट नहीं थे । उनका मानना था कि जहां एक ओर शोषण हो, गरीबी-भुखमरी हो दूसरी ओर अर्थतन्त्र पर एकाधिकार हो वहां मनुष्य का मनुष्य से किसी भी प्रकार सम्बन्ध बेमानी है । इस प्रकार की आर्थिक विषमता को दूर करके ही व्यक्ति को सम्मान एवं प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती है । पाश्चात्य विचारकों ने इस सामाजिक और आर्थिक विषमता से क्षुब्ध होकर इसपर अनेक प्रहार किये इसके खात्मे के लिए अनेक मार्ग सुझाए । हमारे भारतीय विचारकों ने भी इस असमानता का पाश्चात्य दृष्टिकोण से अध्ययन करके इसको समाप्त करने के लिए नये चिन्तन प्रस्तुत किये । उपरोक्त सभी चिन्तन एकांगी सिद्ध हुए क्योंकि किसी भी

विचारक ने भारत की माटी को समझने की कोशिश नहीं की । प्रत्येक देश की अपनी विशेष ऐतिहासिक सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियां होती है और उस समय उस देश के जो भी नेता या विचारक होते है, वे उस परिस्थिति में देश को आगे बढ़ाने के कार्य का निर्धारण करते हैं । अपनी समस्याओं के समाधान के लिए जो हल उन्होंने सुझाए वे भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रहने वाले समाज पर पूरी तरह लागू नहीं होते ।

पण्ड़ित जी के आर्थिक परिकल्पना का आधार करोड़ो भूखे नंगे इंसान हैं । वे कहते थे कि भारतीय संस्कृति में वर्णित पूर्ण मनुष्य की व्याख्या इन्हीं में निहित है । ऐसे किसी सामान्य व्यक्ति से देश धर्म, साहित्य के बारे में चर्चा करने पर उत्तर प्राप्त होता है कि

'भूल गए राग रंग, भूल गयी छकड़ी ।
तीन चीज याद रहीं, नोन तेल लकड़ी ।।

अर्थात बहुजन समाज नमक, तेल एवं लकड़ी की चिन्ता में ही दिन, महीने और वर्ष बिताता हुआ अपने जीवन की घड़िया काट जाता है जीवन के शेष प्रश्न उसके सामने कभी प्रमुख रूप से आते ही नहीं । ऐसे व्यक्तियों को सम्पन्न बनाने वाली आर्थिक नीति का अनुसरण भारत को करना चाहिए । यही हमारा व्रत और संकल्प होना चाहिए ।

इस मानववादी अर्थशास्त्री ने समाज के सबसे नीचे के व्यक्ति को आधार बनाकर अपना दर्शन प्रस्तुत किया और नई आर्थिक नीति की घोषणा की । रूढ़िवादी विचारको ने पण्ड़ित जी को इस नई आर्थिक नीति को देखकर यह अनुमान लगाना प्रारम्भ कर दिया कि पण्ड़ित जी साम्यवादी हो गये, क्योंकि विचारों के शिखर पर शोषण की खिलाफत और आदर्श समाज के लिए राज्य रहित समाज की अवधारणा ने इन्हें भावभूमियों पर खड़ा देखा जहां साम्यवाद की शीर्ष स्थिति है । परन्तु इनके व्यक्ति का विश्लेषण हीगेल के थीसिस, एन्टीथीसिस और सिन्थीसिस के सिद्धान्त और कार्लमार्क्स द्वारा प्रतिस्थापित द्वन्दान्तमक भौतिकवाद से कही अलग कर देता है । मार्क्स आदि मनुष्य को केवल भौतिक प्राणी के रूप में देखते हैं उनका विचार है कि मनुष्य आर्थिक जरूरतों की प्रेरणा के अधीन सब कार्य करता है परन्तु उपाध्याय जी ने मनुष्य को पूर्ण चेतन के रूप में देखा है ।

जहां तक मानव पीड़ा का सवाल है और जिस पर पण्ड़ित जी का समूचा आर्थिक दर्शन स्थित है , बित्त पर एकाधिकार के खिलाफ, धन के बितरण में असमानता

के खिलाफ जमीन पर आवश्यकता से ज्यादा कब्जे के खिलाफ आवाज उठायी गयी है । बडी-बडी मशीनों जमींदारों मिल मालिकों साथ ही साथ हड़तालों पर पाबन्दी, उनके विचारों की मौलिकता है, और इन सबके साथ सामञ्जस्य पूर्ण स्थिति बनाते हुए उन्होंने मानववादी अर्थशास्त्र की प्रतिस्थापना की । उनका विचार था कि अर्थ के उत्पादन को लेकर दो विचार प्रचलित हुए । प्रथम उत्पादन पर अधिक बल देने के कारण अमेरिका आदि देशों में "पूंजीवाद" का प्रसार हुआ। पूंजीपति अधिक धनवान और श्रमिक अधिक गरीब होता गया । दूसरा जब लाभ में श्रमिकों को हिस्सा नहीं मिला तो उनमें प्रतिक्रिया हुई और नई प्रणाली "साम्यवाद" विकसित हुई । उपाध्याय जी ने इसके विपरीत अधिकाधिक उत्पादन, समान वितरण और संयमित उपयोग की प्रवृत्ति पर बल दिया और कहा कि अर्थ के क्षेत्र में नए जनतन्त्र की आवश्यकता है ।"

आर्थिक लोकतन्त्र की अवधारणा में दीनदयाल जी ने महसूस किया कि भारतीय चेतना प्रकृति से प्रजातन्त्रीय है । राजनीति के क्षेत्र में हम इसके भाव का स्वबोध कर रहे हैं आर्थिक क्षेत्र में भी प्रजातन्त्र का उदय जरूरी है । जिसप्रकार राजनीतिक शक्ति का प्रजा में विकेन्द्रीकरण करके शासन की संस्था का निर्माण किया जाता है उसी प्रकार आर्थिक शक्ति का भी प्रजा में विकेन्द्रीकरण करके अर्थव्यवस्था का निर्माण और संचालन होना चाहिए । राजनीति की भांति ही आर्थिक लोकतन्त्र में व्यक्ति को अपनी रचनात्म क्षमता अभिव्यक्त करने का अवसर प्राप्त होता है ।

पण्ड़त जी का कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति को काम अर्थव्यवस्था का आधारभूत लक्ष्य होना चाहिए । उनका सबसे पहला आग्रह था, 'प्रत्येक व्यक्ति को काम' स्वस्थ और सबल व्यक्ति के लिए ग्रहस्थाश्रम की आयु में जीवकोपार्जन की व्यवस्था होनी चाहिए । एक ओर दस वर्ष का बालक और 60 वर्ष का वृद्ध काम में जुटा हुआ है तो दूसरी ओर 25 वर्ष का नौजवान बेकार है इस व्यवस्था को दूर करना होगा । भगवान ने हाथ दिए हैं परन्तु वे स्वतः उत्पादक नहीं बन सकते, इसके लिए पूंजी का सहयोग चाहिए । उनका सोच था, 'क्षमता के अनुसार काम और आवश्यकता के अनुरूप दाम' अर्थात् सृष्टि में हर मानव को उसकी शक्ति के मुताबिक काम दिया जाए । इस काम का उसके श्रम के अनुसार उसकी आवश्यकता भर दाम दिया जाए । यह दाम उपभोग की मर्यादित अवधारणा के अनुकूल ही होना चाहिए क्योंकि उपभोग की सीमा अन्तहीन है ।

प्रत्येक हाथ को काम की अवधारणा में उन्होंने आर्थिक लोकतन्त्र की प्राथमिक इकाई को समृद्ध, सबल और सशक्त बनाने पर बल दिया । ग्राम कृषक, लुहार, बढ़ई, जुलाहा, नाई, धोबी और चर्मकार आदि प्राथमिक इकाइयों के अतिरिक्त गांव में लगाए जाने योग्य कुटीर उद्योगों की समृद्धि पर बल दिया । छोटे-छोटे उद्योगों को बढ़ावा देने का उनका अर्थ यह नहीं था कि वह बड़े उद्योगों के विरोधी हो । उनको बड़े उद्योगों से कोई नफरत नहीं थी । उनका मानना था कि कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जहां इनकी महत्ता है, परन्तु जीवन के हर क्षेत्र को बड़े उद्योगों से पाट देना बेकारी और बेरोजगारी बढ़ाने के सिवा और कुछ नहीं है और इस मामले में वे बड़े उद्योगों के विरोधी थे । उनका विचार था कि जिसप्रकार राजनीति में तानाशाही, व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को समूल नष्ट कर देती है, उसी प्रकार अर्थनीति में किया गया भारी पैमाने में औद्योगीकरण व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को नष्ट कर देता है । ऐसे उद्योगों में व्यक्ति स्वयं एक पुर्जा बनकर रह जाता है ।

उपाध्याय जी बिकेन्द्रीकरण के आधार पर उद्योग लगाने के पक्ष में थे । वे कहते थे आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति की क्षमता के पूर्ण प्राकट्य का मौका मिलना चाहिए । बिकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया में मशीनों के परित्याग की बात नहीं परन्तु उनकी कार्य क्षमता, उनके आकार, प्रकार इतने बृहत् न हों कि मनुष्य के हाथ खाली हो जाएं । छोटी मशीनों का उपयोग और बड़ी मशीनों का परित्याग विकेन्द्रीकरण की मूल भावना में निहित है । उपाध्याय जी बड़ी मशीनों को राजकीय क्षेत्र में लगाने के हिमायती थे लेकिन व्यक्तिगत क्षेत्र में नहीं । अतः अर्थ के केन्द्रीकरण का बिरोध करते हुए कहते थे कि जब लोगों को बड़े पैमाने पर उत्पादन करने का अवसर नहीं मिलेगा तो पूंजी एकत्र नहीं होगी और असमानता नहीं आएगी ।

उपाध्याय जी का मानना था कि औद्योगिक बिकेन्द्रीकरण की तरह कृषि क्षेत्र में भी बिकेन्द्रीकरण होना चाहिए । समूल उपजाऊ जमीन को सब में बांट देना होगा । इसके लिए उन्होंने जमींदारों का समर्थन नहीं किया । अपितु जमीन की हदबन्दी की घोषणा की । उनका कहना था कि आर्थिक जमीन का सबमें बंटवारा हो जाना जरूरी है । इसके बाद उन्होंने आर्थिक असन्तुलन खत्म करने की बात कही । उनका विचार था कि आर्थिक ढ़ांचे में ज्यादा

से ज्यादा 1:20 का अनुपात होना चाहिए और इस अन्तर को धीरे-धीरे कम करने की दिशा में पहल होनी चाहिए । इसके लिए सम्पत्ति के अर्जन पर सीमा लगाने की जरूरत नहीं । उपभोग पर नियन्त्रण से काम चल जाएगा । देश में धन की बृद्धि हो पर उसे कुछ ही लोग न चट कर जायें ।

उपाध्याय जी अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में समन्वयवादी थे । उनका कहना था कि न तो हमें समाजवाद चाहिए और न ही पूंजीवाद वरन् मनुष्य की प्रगति और प्रसन्नता हमारा ध्येय है । इसके लिए उन्होंने काम के निर्धारण पर बल दिया । खेत के मालिकों और कारखानों के मालिकों के साथ मजदूरों का सम्बन्ध होना चाहिए । धन में सबका बराबर भाग होना चाहिए क्योंकि धन की पूंजी और श्रम की पूंजी । अतः अन्य दोनों को उचित मात्रा में चाहिए ।

पण्ड़ित जी ने जिस आर्थिक सूत्र का प्रतिपादन किया उसमें उपयुक्त बातें ही समन्वित हैं प्रत्येक को काम का अधिकार समवितरण कलकारखाने और कृषि आय में भाग निर्धारण सब को एक सूत्र में पिरोया । उनका आर्थिक सूत्र -

ज × क × य = ई

यहां 'ई' समाज की प्रभावी इच्छा का द्योतक है जिसकी पूर्ति की उसमें शक्ति है । 'ज' समाज में काम करने वाले व्यक्तियों की संख्या का द्योतक है । 'क' काम करने की अवस्था और व्यवस्था का द्योतक है तथा 'य' यन्त्र का द्योतक ।

इस सूत्र के अनुसार अगर हम चाहते हैं कि 'ज' निश्चित रहे जो प्रत्येक को काम के सिद्धान्त के अनुसार आवश्यक है, तो 'इ' के अनुपात में 'क' और 'य' को बदलना होगा आर्थिक क्षेत्र की तीन मूलभूत वस्तुओं - मनुष्य श्रम और मशीन तीनों का समन्वय हो अर्थव्यवस्था का उद्देश्य है जिस अर्थव्यवस्था में यह समन्वय नहीं होगा वहां विषमता जन्म लेगी ।

(६) पण्ड़ित जी का व्यक्तित्व

पण्ड़ित दीनदयाल जी के व्यक्तित्व में 'सादा जीवन उच्च विचार' की लोकोक्ति अक्षर शः चरितार्थ होती थी । शरीर पर साधारण सा कुर्ता, धोती, पैरों में चप्पल, कंधे पर गमछा और लटकता हुआ थैला और थैले में दो चार पुस्तकें बस यही थी वेषभूषा भारतीय जनसंघ के महामन्त्री/अध्यक्ष, एक महान चिन्तक, सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय की । उन्हें देखकर ऐसा आभास नहीं होता था कि एक साधारण सी ग्रामीण वेश-भूषा में एक महान् दार्शनिक, विचारक एक राष्ट्रीय संस्था के सर्वमान्य नेता से साक्षात्कार हो रहा है ।

राष्ट्र के लिए समर्पित एक निष्काम कर्मयोगी के रूप में उपाध्याय जी का जीवन उच्च आदर्श और सादगी का अभूतपूर्व उदाहरण था । शालीनता के साथ विनम्रता स्वयं विदेह, पर भारतीय नागरिकों से सीधा तादात्म्य यही उनकी विशेषता थी ।

माननीय अटल बिहारी बाजपेयी के शब्दों में -

"पण्ड़ित जी एक छोटे से गांव से उठकर पूरे देश में छा गए परन्तु उन्होंने गांव से अपना नाता नहीं तोड़ा क्योंकि वह मानते थे कि भारत गांवों में बसता है । 'हर हाथ को काम और हर खेत को पानी' उन्हीं का निर्देश था ।"

पण्ड़ित दीनदयाल जी एक व्यक्ति मात्र नहीं थे । व्यक्तित्व एवं कृतित्व का अद्‌भुत् समन्वय था उनका जीवन । दर्शन एवं वर्तन, विचार एवं आचार, वृत्ति एवं कृति में यदि कही अभेद और संगीत का साक्षात्कार करना हो तो पण्ड़ित जी के जीवन चरित्र से अधिक उत्तम उदाहरण ढूढना सम्भव न होगा । जब आज के युग में राजनीतिज्ञों के आचरण एवं आदर्शों में भारी बिभिन्नता दृष्टिगोचर होती है तब उन जैसे कर्मयोगी के स्मरण से प्रेरणा प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है । कारण यह कि पण्ड़ित जी सही अर्थों में बीतरागी थे और इसलिए लोग उनके चेहरे तक से परिचित नहीं थे । उनको अपने नाम और प्रसिद्धि से कोई मोह नहीं था जबकि आज देश में हालत यह हैं कि राजनेता यह रोज देखता है कि उसकी कितनी शोहरत हुई है अखबारों में कितनी बार उसका नाम छपा है । भारतीय जीवन का जैसा साक्षात्कार उन्होंने दिया था, वह उन्हें महानतम् विचारकों की श्रेणी में स्थापित कर देता है । राजनीति

और अध्यात्म का अपूर्व समन्वय उन्होंने प्रस्तुत किया था । उनकी पारदर्शी दृष्टि निर्मल बुद्धि और प्रखर राष्ट्र भक्ति की पावन त्रिवेणी का प्रवाह उनकी गहराई को छू लेता था । इसलिए जो व्यक्ति एक बार उनके सम्पर्क में आया सदा के लिए उनका हो गया ।

पण्ड़ित दीनदयाल जी का सम्पूर्ण जीवन संघर्ष करते हुए विषम परिस्थितियों में व्यतीत हुआ । माता-पिता का साया बचपन में ही सर से उठ गया । यह अकिंचन, बिनत, बेसहारा बालक अपनी प्रतिभा, कुशाग्रबुद्धि और स्वावलम्बन के बल पर एम.ए. तक कक्षा में प्रथम श्रेणी उत्तीर्ण होता रहा । सभी प्रकार के आडम्बरों से दूर न्यूनतम् आवश्यकताओं तक सीमित नितान्त सादगी भरा सतृत् कर्मरत् उनका जीवन किसी महान् तपस्वी, सन्यासी से कम नहीं था । अपनी पुस्तक 'शंकराचार्य' में एक स्थान पर उन्होंने सन्यास को परिभाषित करते हुए लिखा है "सन्यास व्यक्ति के लिए संसार का त्याग नहीं, अपितु संसार के लिए व्यक्ति का ही अनुराग है ।" सन्यास की यह परिभाषा उनके स्वयं के जीवन पर अक्षरशः चरितार्थ होती थी । आत्म श्राद्ध सम्पन्न कर सन्यास को स्वीकार किए हुए एक पूर्ण बिरक्त जैसा जीवन था उनका । अपने सारे आचारों-विचारों में शुचिता और पवित्रता के जाज्वल्यमान मूर्ति की तरह थे पण्ड़ित दीनदयाल जी । तब क्या वे जंगल में बैठे हुए तपस्वी थे ? नहीं उनका भी एक बृहद् परिवार था । उनके मन में उसकी अपार चिन्ता थी । अपने सर्वाधिक प्रिय समाज को सुख-सम्मान दिलाने हेतु उन्होंने अपने खून के एक-एक कण को भी सुखाया और फिर उसी जीवन यज्ञ में अपने खून की अन्तिम बूंद की भी आहूति दे दी ।

शारीरिक दृष्टि से उनका व्यक्तित्व अत्यन्त सामान्य था । वाह्य दृष्टि से अपने को साज सवांर कर आकर्षक बनाने का उन्होंने रत्ती भर प्रयास नहीं किया । उन्होंने सामान्य जनमानस में अपने प्रति कल्पनातीत श्रद्धा उत्पन्न कर दी थी । वे न देश के प्रधानमन्त्री थे न राष्ट्रपति । सभी प्रकार की पद प्रतिष्ठा से अलिप्त प्रचार प्रसिद्धि से सर्वथा दूर और राजनैतिक चमत्कार, नारेबाजी में उनकी कोई रूचि नहीं थी लेकिन दिल्ली में उनके पार्थिव शरीर को अपने अन्तिम प्रणाम करने पाँच लाख से भी अधिक जनता उमड़ पड़ी थी ।

पण्ड़ित जी अगणित गुणों के धनी थे जिनके एक इशारे पर हजारों सहयोगी अपने प्राण तक न्योछावर करने को तैयार हो जाते थे । ऐसा देदीप्यमान व प्रेरणादायक व्यक्तित्व

था पण्ड़ित दीनदयाल जी का । वे सूर्य जैसे थे जिसका स्वभाव ही प्रकाश देना है । वे फूल जैसे थे जिसका स्वभाव ही सुगन्ध बिखेरना है । वे कीचड़ में खिले हुए कमल की तरह थे । उनका व्यक्तित्व राजनैतिक दायरे में सीमित होने वाला नहीं था । जब परमपूज्य गुरू जी ने उनको संघ के दायित्व से मुक्त करके राजनीतिक क्षेत्र में काम करने का आदेश दिया तो वे बिह्वल होकर बोल उठे थे - "मुझे क्यों उस कीचड़ में डालना चाहते हैं ? मुझे तो संघ की हाफ पैन्ट पहिनकर स्वयंसेवकों के साथ चलने फिरने में ही जीवन का परम आनन्द है ।" श्री गुरू जी ने भी उत्तर दिया था - "बस इसी कारण तुमको उस क्षेत्र में भेजा जा रहा है जो कीचड़ में रहकर भी कमल पत्र जैसा अलिप्त रहता है वही उस क्षेत्र में काम करने योग्य है ।"

पण्ड़ित जी की रहनी और सादगी के विषय में कुछ संस्मरण भी है एक बार पण्ड़ित जी जहां ठहरे थे वहां अपनी बनियान और कपड़े रखकर कुछ देर के लिए बाहर चले गए जैसे वह लौट कर आए, पूछने लगे, "मेरी बनियान और कपड़े कहां हैं ? एक कार्यकर्ता ने उनकी फटी हुई बनियान की जगह नई बनियान लाकर रख दी थी और कपड़े धोकर टांग दिये थे । इस पर पण्ड़ित जी ने कहा .... अभी तो वह एक दो माह और चलती । साथ ही कपड़ों को फिर धोना शुरू कर दिया । वे कहने लगे, "मैं कपड़े अपने आप धोता हूँ । दूसरे के धोने से मेरी आदत में बदलाव आ सकता है ।"

माननीय अटल जी भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष चुने गये थे तमाम कार्यकर्ता स्टेशन पर मालाएं लिए हुये पण्ड़ित जी और अटल जी के लिए प्रतीक्षारत् थे इसी बीच ट्रेन आयी वहीं दुबला पतला ब्यक्तित्व लिये पण्ड़ित जी जैसे ही प्लेटफार्म पर उतरे कार्यकर्ता माला पहनाने के लिए आगे बढ़े । पण्ड़ित जी ने एक भी माला नहीं पहनी और विनम्रता पूर्वक बोले, "अरे अटल जी को पहनाओं जाओ, वे आगे वाले डिब्बे में हैं ।" अतः संघ प्रचारक की अहंकार शून्यता प्रचार परांगमुखता व सादगी का जो व्रत उन्होंने लिया उसका उन्होंने जीवन पर्यन्त निर्वाह किया।

श्री जगजीवन राम जी के ये उद्‌गार पण्ड़ित दीनदयाल जी के ब्यक्तित्व का निचोड है - "दीनदयाल जी केवल भौतिक चिन्तक ही नहीं थे, वरन् मानव के इतिहास का सन्देश देकर तो वे युग पुरुष हो गये । मानव जीवन के सभी पहलुओं और विषयों का उन्होंने गहरा अनुशीलन

किया और जो विचार दिए, वे मानव जीवन की अनेक गुत्थियों को सुलझाने में समर्थ थे । उन्होंने प्राचीन और नवीन विज्ञान और दर्शन तथा अध्यात्म और भौतिकता के बीच अत्यन्त मौलिक ढंग से समन्वय स्थापित कर यह प्रतिपादित किया कि जीवन को वास्तविक सुखी बनाने के लिए केवल रोटी की नहीं उसके साथ अध्यात्म की भी जरूरत है । अपनी अल्पायु में भी हिन्दू संस्कृति की विशेषता के अनुरूप शाश्वत आधुनिकता का मन्त्र देकर हमें और समूचे मानव समाज को चिरन्तन् सुख का मार्ग दिखाया ।"

(ज) अन्तिम यात्रा

11 फरवरी 1968 को भारतीय जनसंघ के संसदीय दल की बैठक नई दिल्ली में होना निश्चित हुई । क्योंकि फरवरी में संसद का बजट सत्र होता है । उस निमत्त तैयारी करनी पड़ती है । इसी तिथि को बिहार प्रदेश भारतीय जनसंघ की कार्यकारिणी की बैठक पटना में होने वाली थी । 10 फरवरी को प्रातःकाल बिहार प्रदेश जनसंघ के संगठन मन्त्री श्री अश्विनी कुमार ने फोन पर पण्ड़ित जी की स्वीकृति प्राप्त कर ली । लखनऊ से सायंकाल 6 बजे चलने वाली पठानकोट स्यालदाह एक्सप्रेस से पण्ड़ित जी पटना के लिए रवाना हुए । श्री रामप्रकाश जी गुप्त (तत्कालीन उपमुख्यमन्त्री उत्तर प्रदेश) तथा पीताम्बरादास जी अनेको कार्यकर्ताओं के साथ पण्ड़ित जी को स्टेशन तक विदा करने गए । पण्ड़ित जी सदैव अपने साथ बहुत थोडा सामान रखते थे उस समय भी उनके पास एक सूटकेस, बिस्तरा और पुस्तकों का झोला तथा टिफिन था ।

"स्यालदाह पठानकोट एक्सप्रेस सीधी पटना नहीं जाती है । अतः मुगलसराय स्टेशन पर जब यह गाड़ी 2-15 बजे प्लेटफार्म नं. - । पर पहुंची तो यह बोगी इस गाड़ी से काटकर दिल्ली हावडा में जोड़ दी गयी जो लगभग 2.50 पर मुगलसराय से रवाना हुई । गाड़ी छूटने के लगभग 45 मिनट के बाद मुगलसराय स्टेशन के 'लीवर मैन' ने टेलीफोन पर सहायक स्टेशन मास्टर को सूचना दी कि स्टेशन से लगभग 150 गज पहले बिजली के खम्भा नं. 1276 के नजदीक एक लाश कंकड़ो पर पड़ी हुई है । पुलिस के सिपाही निगरानी के लिए ड्यूटी पर लगा दिये गए । सहायक स्टेशन मास्टर ने जो मेमो पुलिस को भेजा, ऊपर लिखा था। आलमोस्ट डेड ।" 1

---

1. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

व्यक्ति दर्शन, अध्याय - 2 अन्तिम दर्शन

सम्पादक : कमल किशोर गोयनका

प्रातःकाल होने तक रेलवे का डाक्टर घटना स्थल पर पहुंचकर जाँच पड़ताल करने के बाद पूर्णतः मृत घोषित कर दिया । शव को कोई पहचान न सका और उसे लावारिस घोषित कर दिया गया । लगभग 6 घण्टे बाद शव को मुगलसराय प्लेटफार्म पर लाकर रखा गया। उत्सुकतावश अनेकानेक लोग शव को देखने लगे । जनसंघ के एक कार्यकर्ता ने शव पहचान लिया और बोला, "अरे यह तो जनसंघ के अध्यक्ष पण्ड़ित दीनदयाल जी उपाध्याय हैं ।" पल भर में यह दुःखद समाचार सारी जनता में फैल गया । पूज्यनीय गुरू जी को फोन पर सूचित किया गया । संसदीय दल की बैठक समाप्त कर दी गयी । देश के कोने-कोन से जनसंघ के कार्यकर्ता/अधिकारी, दीनदयाल जी के मित्र-आत्मीय उनके अन्तिम दर्शन के लिए दिल्ली पंहुचने लगे क्योंकि उनका शव भारतीय वायुसेना के विमान से दाह संस्कार हेतु दिल्ली 30, राजेन्द्र प्रसाद मार्ग लाया गया था । लगभग पाँच लाख लोगों ने उनकी शवयात्रा में भाग लिया । पुष्प वर्षा माल्यार्पण भावभीनी अश्रुपूरित श्रद्धांजलि और रूदन सिसकियों का प्रवाह बना रहा तथा अभागिन दिल्ली किंकर्तब्य बिमूढ़ सी अपनी छाती पर वज्राघात सहती रही । शवयात्रा छः बजे निगम बोध घाट पंहुची । शव को चिता पर रखा गया इसके पश्चात् 6.45 बजे अन्तिम श्रद्धांजलि अर्पित की गयी । अनेकानेक वरिष्ठ अधिकारियों एवं नेताओं ने इसमें भाग लिया । 7.06 बजे मंत्रोच्चार के बीच अग्नि प्रज्जवलित कर दी गयी । शोक बिह्वल जनता अपने आपको भी संभालने में असमर्थ थी । अपार जन समूह भी सिसकियों से ऐसा लग रहा था मानो हर एक ने अपना निजी लाल खो दिया हो । अनेकानेक नेता सामाजिक कार्यकर्ता संगठन एवं पत्रकारों ने श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए अपनी-अपनी हृदय वेदना को व्यक्त किया ।

डा. जाकिर हुसैन राष्ट्रपति भारत गणतन्त्र - "मुझे श्री दीनदयाल जी की मृत्यु की खबर सुनकर गहरा आघात लगा ।"

श्री वी.वी. गिरि उपराष्ट्रपति, भारत गणतन्त्र - श्री उपाध्याय भारत माँ के महान् पुत्र थे । उनके निधन से एक बहुत बड़ा राष्ट्रवादी कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति भारत ने खो दिया है ।

श्रीमती इन्दिरा गांधी, प्रधानमन्त्री भारत सरकार - "श्री उपाध्याय देश के राजनीतिक जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे थे । जनसंघ और कांग्रेस के बीच मतभेद चाहे

तथैव

जो हो, मगर श्री उपाध्याय सर्वाधिक सम्मान प्राप्त नेता थे उन्होंने अपना जीवन देश की एकता और संस्कृति को समर्पित कर दिया था ।

श्री नीलम संजीव रेड्डी - अध्यक्ष लोकसभा, - "श्री उपाध्याय एक स्वार्थ रहित और निष्ठावान कार्यकर्ता थे । उनको खोकर देश गरीब बना रहेगा ।"

चौधरी चरण सिंह, मुख्यमन्त्री उत्तर प्रदेश - "श्री उपाध्याय देश के सार्वजनिक जीवन में अग्रणी व्यक्ति थे, उनके निधन से देश का जन-जीवन विपन्न हो गया है ।"

श्री चन्द्रशेखर, जो बाद में देश के प्रधानमन्त्री बने, - "दीनदयाल जी जीवन भर हमारे ऋषियों के आदेश पर चलते रहे, इसके लिए उन्होंने सामाजिक सेवा के क्षेत्र को चुना ।"

श्री गुरूजी, मा. स. गोलवरकर, सरसंघ चालक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, - "पण्ड़ित दीनदयाल जी एक विरोधी दल के प्रमुख व्यक्ति थे । उनका यह कर्तब्य था कि जो अनिष्ट दिखे और त्रुटिपूर्ण दिखाई दे उसके विषय में अपने मत वे असंदिग्ध शब्दों में प्रकट करें । परन्तु उनके हृदय में कोई कटुता नही थी । शब्दों में भी कोई कटुता नहीं थी ।"

श्री रतनलाल जोशी, तत्कालीन सम्पादक, दैनिक हिन्दुस्तान, "राजनीति में अनेक नेता आएंगे पर यह अभागा राष्ट्र दीनदयाल के लिए तरसेगा ।"[1]

श्री फजलुल रहमान हाशमी, 'रंगमंच कलाकार'

"कला का एक हाथ टूट गया है

राजनीति आहत है

भक्ति मन्दिर की एक दीवार गिर गई है ।"

राष्ट्रकवि सोहनलाल द्विवेदी

"फिर रक्त रंजिता हुई दिशा

दिन में ही छाई निविड़ निशा

कैसा यह वज्रनिपात हुआ ?

यह चला छोड़कर कौन साथ

हम लगते हैं जैसे अनाथ

कैसा आकस्मिक घात हुआ ?"[2]

---

1. तथैव
2. उत्तर प्रदेश सन्देश सितम्बर 1991 अंक 9
   पं. दीन दयाल उपाध्याय विशेषांक

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय की राजनीतिक विरासत के सबसे प्रमुख उत्तराधिकारी एवं तत्कालीन जनसंघ के अध्यक्ष माननीय अटलबिहारी बाजपेयी द्वारा श्रद्धाञ्जलिस्वरूप व्यक्त विचार आज भी कितने सुसंगत है -

"हमारा मित्र, पथ प्रदर्शक और नेता चला गया । ऐसा लगता है जैसे दीपक बुझ गया हो और चारो ओर अन्धेरा हो नेत्रदीप बुझ गया हो, अपने जीवन दीप जलाकर अन्धकार से लड़ना होगा । सूरज छिप गया, हमें तारों की छांव में अपना मार्ग ढूढ़ना होगा ।"

श्री वचनेश त्रिपाठी, पण्ड़ित दीनदयाल जी के साथ रहकर पत्रकारिता का कार्य करने वाले राष्ट्रधर्म, पाञ्जन्य के प्रमुख लेखक,

"सिर बांध कफनियां, शहीदों की टोली निकली । गीत हरदम गुनगुनाने वाले पण्ड़ित जी ।। फरवरी सन् 1968 को खुद शहीद हो गए ।"

अध्याय - ३

उपाध्याय जी की दार्शनिक विचारधारा

अध्याय - 3

उपाध्याय जी की दार्शनिक विचारधारा

(क) राष्ट्रजीवन से साक्षात्कार -

यहां आधुनिक काल में स्वामी विवेकानन्द एवं महर्षि अरविन्द जैसे महापुरुषों ने साधु सन्तों की परम्परा में होने के बावजूद जनजाग्रति की दृष्टि से महत्वपूर्ण कार्य किये हैं उसी परम्परा में लोकमान्य तिलक व संघ के संस्थापक डा. हेडगेवार जी भी थे । उसी परम्परा के भारत माँ के उस सपूत और अनन्य प्रतिभा पुत्र ने राष्ट्र जीवन के भाग्य-विधायन से सम्बन्धित जो सूत्र दिए हैं वे उनके जीवन दर्शन के दर्पण हैं । विविधता में एकता के सूत्र को खोजकर उन्हें पुष्ट बनाकर समाज और राष्ट्र को संगठित करने वाला उनका जीवन हमारे समक्ष आदर्श प्रस्तुत करता है । भारतीय संस्कृति और जीवन दर्शन की आधुनिक युगानुरूप व्याख्या करते हुए उन्होंने सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में अनुपम योगदान किया है ।

पण्ड़ित जी का मानना था कि "बिना शुद्ध राष्ट्रभाव के कोई भी राष्ट्र प्रगति नहीं कर सकता और तो और वह अपनी स्वतन्त्रता को भी सुरक्षित नहीं रख सकता । राष्ट्र के परम्परागत इतिहास से प्रकट होने वाले राष्ट्रीयत्व का ज्ञान धूमिल पड़ जाने के कारण ही हम तमाम आपत्तियों में फंस गये हैं ।"[1] हमें आजाद हुए इतने वर्ष व्यतीत होने के बाद देश में चैतन्य का निर्माण क्यों नहीं हुआ ? गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी, निराशा और लाचारी क्यों बढ़ती जा रही है ? आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक सभी क्षेत्रों में गिरावट क्यों आती गयी ? और राष्ट्रीय प्रवाह क्यों पतित हो रहा है ? निःसन्देह इसका एक ही उत्तर है कि हम अपने पैरों पर नहीं खड़े हैं, जिन्होंने अपना आधार खो दिया उन्हें बहना ही पड़ेगा ।

हमारा राष्ट्रजीवन अपना जड़मूल खो बैठा है - इस घटना को रोकने का केवल एक ही उपाय है कि राष्ट्र जीवन का सच्चा साक्षात्कार किया जाए । राष्ट्र के इस सच्चे साक्षात्कार के अभाव में ही हमारा वर्तमान में राष्ट्रीय पतन हुआ है । जातिवाद, साम्प्रदायवाद, भाषावाद,

---

1. राष्ट्र जीवन की दिशा सारांश — पं. दीनदयाल उपाध्याय, पृष्ठ 183

व क्षेत्रवाद आदि सब सामाजिक एकता के पथ में विषम बाधाएं हैं जो परस्पर घृणा और द्वेष भावों को जन्म देकर राष्ट्र को कमजोर करती है । अतः यदि राष्ट्र को समृद्ध सुखी स्थिर और दीर्घजीवी बनाना है तो इन बाधाओं को हटाना होगा । यह तभी सम्भव है जब हम राष्ट्र को परमेश्वर के रूप में देखें, उपास्य के रूप में देखें, एक व्यक्ति (पुरूष) के रूप में देखें । सहस्रो एवं कोटि-कोटि प्रजा का यह सम्मिलित रूप ही राष्ट्र है एक पुरुष है और सभी राष्ट्रवासी इस पुरुष के अंग हैं । इसी राष्ट्र पुरुष का वर्णन 'ऋग्वेद' के 'पुरुषसूक्त' में हुआ है । पं. दीनदयाल जी उपाध्याय ने भी अपने चिन्तन में इसी .... राष्ट्रपुरुष... की मूर्ति स्थापित की है ....

"जिस राष्ट्र मन्दिर का निर्माण इतने दिनों से अनेक आत्मविज्ञानी ऋषि, मुनि, दिग्विजयी सम्राट, कवि, कलाकार, साहित्यकार, स्मृतिकार, पुराणों के रचयिता तथा धर्मशास्त्रों के प्रणेता करते चले आ रहे हैं, आज उस मन्दिर में राष्ट्र-पुरुष की मूर्ति स्थापित करके उसे अभिमंत्रित करना है । भगवान को धन्यवाद दें कि यह सौभाग्य हमको प्राप्त हुआ है । इस मन्दिर के प्रथम पुजारी बनें । ऐसा प्रबन्ध कर चलें कि पीछे आने वाली पीढ़ियां इस मन्दिर में अनन्त काल तक पूजा कर सकें ।"[1]

पण्ड़ित जी ने राष्ट्र को एक व्यक्ति की तरह ही जीवमान इकाई माना है । जिस प्रकार व्यक्ति के लिए शरीर मन बुद्धि और आत्मा जरूरी है, इन चारों को मिलाकर ही व्यक्ति बनता है उसी प्रकार देश, संकल्प, धर्म और आदर्श के समुच्चय से राष्ट्र बनता है । राष्ट्र के लिए उपरोक्त चारो बातों का होना जरूरी होता है । जिन्हें राष्ट्र के विधायक-तत्व कहा गया है, प्रथम भूमि और जन जिसे हम देश कहते हैं दूसरी सबकी इच्छाशक्ति अर्थात समूह का संकल्प तीसरी एक व्यवस्था जिसे नियम संविधान या हमारे यहां धर्म कहते हैं चौथा है जीवन आदर्श । इन चारो का समुच्चय राष्ट्र कहा जाता है । पण्ड़ित जी ने व्यक्ति की तरह राष्ट्र की भी आत्मा को स्वीकार किया है । सिद्धान्त और नीति' नामक पुस्तक में उन्होंने इसे शास्त्रीय नाम देते हुए 'चिति' कहा है । 'मग्डूगल' के अनुसार समूह की कोई मूल प्रकृति होती है वैसे ही चिति' किसी समाज की वह प्रकृति है जो जन्मजात है 'चिति' को लेकर तो

---

1. राष्ट्रधर्म सम्पादकीय

अक्टूबर 90 पृष्ठ - 14

समाज पैदा होता है और इस समाज की संस्कृति की दिशा 'चिति' तय करती है । अर्थात जो चीज 'चिति' के अनुकूल होती है वह संस्कृति में सम्मिलित कर ली जाती है । ..... राम और रावण में से राम का आदर्श । कृष्ण और कंस में कृष्ण का आदर्श. । 'चिति' वह मापदण्ड है जिससे हर वस्तुओं को मान्य या अमान्य किया जाता है । यही राष्ट्र की आत्मा है । इसी आत्मा के आधार पर राष्ट्र खड़ा होता है और यही आत्मा राष्ट्र के प्रत्येक श्रेष्ठ व्यक्ति के आचरण द्वारा प्रकट होती है ।

पण्ड़ित जी की राष्ट्र भक्ति मातृवत् स्नेह पर आधारित है । "माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः ।" उनके विचारों के अनुसार कोई भी भूमि तब तक देश नहीं कहला सकती जब तक कि उसमें किसी जाति का मातृक ममत्व न हो, ऐसा ममत्व जैसा पुत्र का माता के प्रति होता है । हमारी राष्ट्रीयता का आधार भी 'भारत माता' है केवल भारत नहीं । माता शब्द हटाने से तो भारत केवल जमीन का टुकड़ा मात्र रह जाएगा । इस भूमि का और हमारा ममत्व तब आता है जब माता शब्द जुड़ जाता है । यह सम्बन्ध महत्वपूर्ण है । उस भूमि पर निवास करने मात्र से अन्य सम्बन्ध भी हो सकते हैं जैसे दक्षिण अफ्रीका और आस्ट्रेलिया आदि की स्थितियां हैं । उस भूखण्ड के निवासियों को समाप्त कर वहां यूरोपीय जातियां जा बसी हैं । इसे "कालोनी" कहा जाता है । इन जातियों का उस भूमि से 'उपभोग' का सम्बन्ध है । पृथ्वी पर कई भाग अथवा टापू है जहां ऐसे लोग बसते हैं जिनके चित्त में सुदूर किसी अन्य भूमि के प्रति अनुराग रहता है । वह उसी भूमि की सन्तान के नाते वहां नहीं बसते उन्हें किसी दूसरे देश के सपने आते रहते हैं । ऐसे लोग तब तक उस भूमि के 'जन' नहीं कहला सकते जब तक कि वे उस अन्य भूमि से अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं कर लेते । देश शब्द वहीं पर प्रयोग में आवेगा जहां पर उसका सम्बन्ध एक जन के साथ हो और वह मातृवत् हो । इसलिए जब हम राष्ट्र की बात करते हैं तो अकेले भारत कहने से काम नहीं चलता । भारत कहने के बाद जमीन के टुकड़े का विचार आता होगा परन्तु भारत माता कहने से एक विशिष्ट सम्बन्ध स्थापित होता है । जो एक जन की भावना को स्पष्ट करता है । इसीलिए वे लोग जो भारत माता की जय कहने से कतराते हैं, भारत में रहकर भी भारतीय जन नहीं बने हैं । अंग्रेज इस सच्चाई को भली-भांति

समझते थे । इसलिए उन्होंने भारत के इस 'एकजन' के मातृवत् स्नेह को धूमिल करने के लिए भारत को 'इण्ड़िया' कहना शुरू किया । उन्होंने सोचा होगा कि इण्डिया कहने से कोई इण्डिया माता नहीं कह सकेगा और तब भारतमाता की जय का लोप सहज हो जावेगा ।

तथापि देश भक्ति का मतलब केवल जमीन के टुकड़े के साथ प्रेम होना मात्र नहीं अन्यथा कई पशु पक्षी भी अपने घर से बहुत प्रेम करते हैं । जैसे शेर अपनी मांद में ही निवास करता है । पक्षी अपने घोसले में रोज सायं लौट कर आते हैं । सर्प अपना बिल कभी नहीं छोड़ता । मानव भी जहां रहता है उसका कुछ न कुछ लगाव उस स्थान से हो ही जाता है । फिर इतने मात्र से देश भक्ति नहीं आती । उन लोगों का प्रेम ही देशभक्ति कही जाएगी, जो एक जन के नाते सम्बद्ध हो । पुत्ररूप 'एकजन' माता रूप भूमि के मिलन से ही देश की सृष्टि होती है । यही देश भक्ति भी है जो अमर है ।

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय "राष्ट्र" को ईश्वर से भी ऊंचा मानते थे । वे कहते थे कि राष्ट्र की सहस्र-सहस्र प्रजा शक्ति ही परमेश्वर का स्वरूप है जैसाकि वेदो का कथन है "सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रापात"[1] अर्थात राष्ट्र ही परमेश्वर की उपासना है । उन्होंने लिखा है ----

"शाक्त, शैव, वैष्णव, गाणपत्य आदित्योपासक आदि सबके सब एक ही शक्ति के उपासक है । उसी सहस्रानन सहस्रबाहु, सहस्त्रापाद, सहस्त्राक्ष राष्ट्र-पुरुष की भिन्न-भिन्न स्वरूप से पूजा करते हैं ।" [2]

राष्ट्र भक्ति से ओत-प्रोत होकर वे जन्म भूमि भारत एवं उसके प्रहरी हिमालय के प्रति कहते हैं ----

उसके प्रति प्रत्येक भारतीय का सिर कृतज्ञता से झुक जाता है । वह माता के सन्तरी के समान दृढ़ता से खड़ा है । अनेक बर्बर जातियों ने उसके ऊपर प्रहार किए, चोटें खा खाकर स्वयं पत्थर बन गया किन्तु उनको अन्दर नहीं आने दिया ....

---

1. जगद्गुरू शंकराचार्य — पं. दीनदयाल उपाध्याय

2. तथैव

निदाघ में तप्तांशु के प्रचण्ड करों से जब सम्पूर्ण भारत जल उठता है और उसकी सन्तान शुष्क कण्ठ हो तड़फड़ाने लगती है तब हिमालय ही अपने शरीर को गला-गला कर हमको जलदान करता है । गंगा यमुना और सिन्धु अमृत कलश लिए उसकी गोद से उतरकर हमें जीवन दान देती है ।"[1]

उपाध्याय जी सच्चे राष्ट्र भक्त थे, भारतीय होने का उन्हें गौरव था । एक बार उन्होंने कहा था, "हमारा कर्तव्य है कि हम अपनी सांस्कृतिक धरोहर को अगली पीढ़ी तक पहुंचाए। क्या हम अपनी पहचान सर टामस से, बाबर से, मुहम्मद गोरी से, या औरंगजेब से करेंगे ? वशिष्ठ भारद्वाज, पुलस्त्य आदि ऋषि मुनियों, राणा प्रताप, विक्रमादित्य छत्रपति शिवाजी आदि से ही हमें अपनी पहचान करनी है ।"

राष्ट्र जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एकता का निर्माण करके उस एकता के संस्कारों को जीवन में उतारने की परम्परा को पुष्ट करना ही उनका ध्येय रहा है । उनका जीवन हमारे ऋषि मुनियों के "दर्शन" से अनुप्राणित तथा वेदान्त वेत्ता श्री आदि शंकराचार्य उनके प्रेरणा स्रोत रहे हैं ।

पण्ड़ित जी कीएकात्म मानववाद की परिकल्पना हमारे भारतीय संस्कृति की प्राचीन आध्यात्मिक देन से अनुरूपता रखती है । अतः उनकी राष्ट्रीयता इतनी संकीर्ण नही है जो अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए बाधक हो वरन् साधक ही सिद्ध होती है ......

"एतद्देश प्रसूतस्य सकाशात् अग्रजन्मनः
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्, पृथिव्याः सर्वमानवाः ।"

अर्थात् हमारे देश के ऋषि मुनियों एवं सन्यासियों ने अपने-अपने श्रेष्ठ गुणों के द्वारा सम्पूर्ण भूमण्डल के लोगों को शिक्षित किया है । पण्ड़ित जी उन्हीं ऋषि मुनियों की कोटि में आने वाले व्यक्ति है जिन्होंने 'कृणवन्तो विश्वमार्यम्' के मन्त्र का उच्चारण किया था । उनके लिए सारी पृथ्वी परिवार की तरह ही थी । "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना से अनुप्राणित थे । "नहिमानवात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चत्" का भाव तो उनके अन्दर था ही वे मानवता से

---

1. तथैव

भी आगे का विचार करने वाले महापुरुष थे । पश्चिम के लोग तो इस पर विचार नहीं करते, वे तो अधिक से अधिक अन्तर्राष्ट्रीयतावादी या मानवतावादी है । मानवेतर् सृष्टि की मान्यता अपने ही देश में है । मछलियों, गायों और चीटियों आदि का भरण पोषण और उनको अपने ही समान मानने वाले लोग यहां है । इतना ही नहीं जो देखने में निर्जीव सृष्टि है उसको भी अपना एक अंग मानकर उसमें भी भगवान का अस्तित्व है ऐसी समझ अपने देश में है - "इन्सानों की बात तो क्या यहां पत्थर भी पूजे जाते हैं" मानव क्या है ? मानवेतर् प्राणि क्या है ? बाकी सृष्टि क्या है ? यह जो अस्तित्व है - सारी सृष्टि है, वह एक ही है । "सर्व खल्विदं ब्रह्म यहां जो कुछ भी है वह ब्रह्म मय है ईश्वर से व्याप्त है अर्थात् दैवी एकता है । रामचरित मानस के रचयिता गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी -

"ईश्वर अंश जीव अविनाशी" एवं

"सियाराम मय सब जगजानी" कहकर सम्पूर्ण सृष्टि की एकता का परिचय कराया है ।

मानव एकता का विचार भारतीय संस्कृति ने ही किया है और तो और सम्पूर्ण प्राणिमात्र तथा चराचर एकता का भी विचार किया है । यह विचार पृथगात्मकता की भूमिका से नहीं, विविधता के मूल में विद्यमान एकता के आधार पर किया है । इस संसार में ऊपर से कितनी ही विविधता दिखाई देती हो, उस विविधता के मूल में एकता है और सृष्टि की विविधता उसकी आन्तरिक एकता की ही अभिव्यक्ति है । विविधता से विभूषित समस्त सृष्टि में एक ही चैतन्यतत्व समाया है । यही इस विविधता में एकता का प्रमुख सूत्र है । एकात्म जीवन के सम्बन्ध में भारतीय संस्कृति की इस धारणा को अखण्ड मण्डलाकार रचना की संज्ञा दी गयी है । "अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं एन चराचरं" इसमें प्रत्येक मण्डल उसके आगे तथा पीछे के मण्डल से सम्बन्ध रखकर ही विकसित होता है । यह रचना व्यक्ति से प्रारम्भ होती है । व्यक्ति के बाद परिवार । परिवार व्यक्ति से प्रारम्भ होता है । किन्तु उसका सम्बन्ध न छोड़ते हुए आगे बढ़ता है और जाति (समुदाय) का सूत्रपात करता है । समुदाय विकसित होकर राष्ट्र में परिणित होता है और इसी क्रम में आगे बढ़ता हुआ सम्पूर्ण मानव समूह तथा विश्व में परिणित हो जाता है । किन्तु भारतीय चिन्तन यहीं पर नहीं रुकता इससे भी आगे का विचार किया गया है । परमेष्ठी तत्व का विचार हुआ है यह तत्व समस्त ब्रह्माण्ड को अपने में समा लेता है यही नहीं उसमें स्वयं

भी व्याप्त रहता है । यह परमेष्ठी तत्व सर्वातीत है, सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी और सर्वमय भी है यही परमतत्व एकात्म मानव दर्शन की आत्मा है इस अखण्ड मण्डलाकार रचना में प्रत्येक इकाई का दूसरी इकाई से कोई विरोध नहीं परस्पर पूरकता है । अतः ऐसे उदात्त विचार दर्शन के प्रणेता का राष्ट्र प्रेम अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में बाधक कैसे हो सकता है ? वरन् अन्तर्राष्ट्रीयता का आधार बना जाता है । पण्ड़ित जी के विचार से भारत में राष्ट्र भाव का उदय पश्चिम की तरह स्वार्थ के रूप में प्रकट नहीं हुआ । उसका आधार आपसी संघर्ष नहीं समन्वय है । भारत का यह राष्ट्रवाद प्राणिमात्र के प्रति कल्याण की भावना लेकर प्रकट हुआ है ।

"सर्वे भवन्तु सुखिनं सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित दुःख भाग भवेत् ।

की कामना संजोए हुए है ।

"नतु अहं काये राज्यं न मोक्षं न पुनर्भवम्
केवलम् दुःख तप्तानामप्राणिनाम् अर्तिनाशनम् ।

अर्थात् यहां समस्त प्राणियों के दुःखो को नाश करने की प्रार्थना की जाती है । इसीलिए पश्चिमी राष्ट्रवाद की विभीषकाओं से विश्व को बचाने के लिए भारत के राष्ट्रवाद को सशक्त और सक्षम बनकर खड़ा होना होगा । यही विश्व कल्याण का मार्ग है ।

(ख) राष्ट्रीय स्वाभिमान -

पण्ड़ित दीनदयाल जी उपाध्याय ने राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की निम्न पक्ति का उद्धरण देकर राष्ट्रीय स्वाभिमान की विशद् व्याख्या की है ।

"जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है
वह नर नही है पशु निरा और मृतक समान है ।"

यानि प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना अहम् (स्वाभिमान) होता है । अपने श्रेष्ठ कुल का, श्रेष्ठ कार्यों का, श्रेष्ठ गुणों का एवं श्रेष्ठ राष्ट्र का । यह स्वाभिमान (अहम्) हृदय की एक बलवती भावना है जिसके कारण वह समाज में अपना सिर ऊंचा करके चलता है और अपने अहम् की तुष्टि के लिए कुछ भी करने को उद्यत रहता है । यदि कहीं कोई अन्य व्यक्ति उसके अहम् को चोट पंहुचाता है तो वह अपने प्राणों की भी बाजी लगाने में किञ्चिदपि परवाह नहीं करता । हमारे यहां पर कहावत भी प्रचलित है -

"के हरि मूंछ भुजंग सिर पतिव्रता की देह
सूर कटारी विप्रधन सर कट्टइ सो लेई "

अर्थात् जीते जी स्वाभिमान पर चोट सहन नहीं कर सकता । मरकर भी स्वाभिमान की रक्षा करता हुआ इतिहास के पन्नों में अपना नाम लिख जाता है । इसके विपरीत जो व्यक्ति अपने तथा अपने राष्ट्र के स्वाभिमान की रक्षा नहीं कर सकता । वह पशु से भी गया बीता यानि कि मरे हुए के समान रहता है ।

भगवान कृष्ण ने 'गीता' में अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है कि हे अर्जुन अपने स्वाभिमान पर चोट पंहुचाने वाले से युद्ध करके मर जाना अपमान सहते हुए जीने से श्रेष्ठतर है ।

"हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं जित्वावा भोक्षसे महीम् ।
तस्मादुस्तिष्ठ कौन्तेय, युद्धाय कृत निश्चयः ।" [1]

---

1. श्रीमद्भगवदगीता अध्याय - 2
पृष्ठ - 45 श्लोक - 37

यदि स्वाभिमान की रक्षा करते हुए युद्ध में मारे गए तो स्वर्ग को प्राप्त करोगे तुम्हारा स्वाभिमान जिन्दा रहेगा तथा संसार में तुम्हारा नाम अमर रहेगा और यदि युद्ध में विजय श्री प्राप्त हुई तो स्वाभिमान के साथ पृथ्वी के राज्य का भोग करोगे । इसलिए सभी संशय त्याग कर युद्ध के लिए कृत निश्चय हो जाओ ।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि "जिसने गर्व से नहीं कहा कि यह मेरी अपनी मातृभूमि है इसका मुझे स्वाभिमान है वह व्यक्ति दोहरी मौत मरता है । उसकी मृत्यु तो होती है उसके बारे में कोई कवि गीत नहीं गाता ।" अर्थात् उसका नाम भी मिट जाता है प्राणों का बलिदान करके राष्ट्रीय स्वाभिमान को बचाने वाले वीरों की यश गाथाएं अमर हो जाती है -

"शहीदों की चिताओं पर लगेंगे हर बरस मेले
वतन पर मरने वालों का यही बाकी निशां होना ।"

पण्ड़ित दीनदयाल जी ने राष्ट्र को 'पुरुष' रूप में निरूपित किया है । अतः व्यक्ति की तरह राष्ट्र का भी अपना स्वाभिमान होना स्वाभाविक है और यह भावना व्यक्ति तथा राष्ट्र दोनों के विकास के लिए आवश्यक भी है । हमें गुलामों से मुक्त होकर स्वतन्त्र होने की प्रेरणा भी इसी भाव से प्राप्त हुई । देश स्वतन्त्र होने के बाद भारत का अपना ध्वज, अपना संविधान अपनी ब्यवस्था आदि बनाने की जो बातें हमने गौरवपूर्ण ढंग से ग्रहण की वे सब इसी स्वाभिमानी बृत्ति की परिचायक है । अन्तर्राष्ट्रीय खेल प्रतियोगिता में जब अपने देश के खिलाड़ी जीतते है और स्वर्ण पदक प्राप्त करते हैं तो हम इसी भावना से हर्ष प्रकट करते हैं । यह स्वाभिमान न हो तो कोई जीते कोई हारे हमें उससे भला क्या लेना देना है । साफ है कि राष्ट्रीय स्वाभिमान जैसी कोई वस्तु अवश्य रहती है जो किसी भी स्वतन्त्र देश के लिए कम महत्व की बात नहीं । स्वाभिमान में ममत्व छिपा रहता है । इस अपनेपन में ही कार्य की प्रेरणा का वह तत्व निहित है जिसे अहम् कहते हैं । यह अहम् का भाव ही है जो राष्ट्र के घटकों को नये निर्माण और नवीन अविष्कारों की प्रेरणा देता है । इसी आधार पर स्वाधीनराष्ट्र विकट प्रसंगों में ऐसे साहसिक निर्णय लेने में सफल होते हैं जो ऐतिहासिक माने जाते हैं । यही ऐतिहासिक कदम राष्ट्र के गौरव को बढ़ाते हैं तथा भूलवश या कायरतावश उठाये गये कदम या निर्णय या स्वाभाविक घटने वाली कुछ घटनाएं लज्जा का कारण भी बनती है । 1962 में चीन-भारत युद्ध में भारत की

पराजय हमारे लिए लज्जा का विषय है । उसी समय लोकसभा में अविश्वास प्रस्ताव पर बोलते हुए समाजवादी नेता डा. राममनोहर लोहिया ने कहा था - "भारत का वर्तमान इतिहास राष्ट्रीय शर्म का इतिहास है ।" कतिपय बुद्धिजीवियों ने उनकी भाषा को 'असन्तुलित' कहकर उसकी गम्भीरता को कम करने का प्रयास किया था । कोरे तर्कों तक सीमित रहने वाले यही बुद्धिजीवी विगत 16 वर्षों की उस ऐतिहासिक बिडम्बना को समझने में असमर्थ रहे जिसके कारण भारत को 'पराजित राष्ट्र' कहलाने का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ ।

26 जनवरी 1929 को रावी तट पर की गई भारत के 'पूर्ण स्वाधीनता' की प्रतिज्ञा को विस्मृतकर 3 जून 1947 को जब हमने 'खण्डित स्वराज्य' स्वीकार करने की तत्परता दिखलाई उसी दुर्भाग्य पूर्ण क्षण ने हमारे पराजय के इतिहास का श्री गणेश किया । देश की एक-एक इंच भूमि शत्रुओं से मुक्त कराने के लिए लगभग बारह सौ वर्षों तक यह राष्ट्र संघर्ष करता रहा । इतना लम्बा संघर्ष दुनिया के किसी राष्ट्र ने नही किया । इस काल में हुए अगणित बलिदान हमसे यह आशा रखते थे कि जिस देश के स्वाभिमान की रक्षा के लिए उन्होंने अपने सर्वस्व की आहुति दी थी, आगे आने वाली पीढ़ियां उसकी रक्षा करेंगी । हमने उन पूर्वजों के साथ विश्वासघात किया उनकी पवित्र धरोहर को खण्ड़ित कर डाला । अपनी ही स्वीकृति से अपने ही हाथों से माता की प्रतिमा भंग कर दी गई उसे एक निर्जीव जमीन का टुकड़ा मानकर हमने शत्रुओं से सौदेबाजी की । 'शान्ति' और 'सौहार्द' के नाम पर हमने इतना बड़ा पाप किया जिसमें लगभग एक करोड़ लोग मौत के घाट उतार दिए गए थे और करोड़ों दर-दर भटकने के लिए बाध्य हो गए थे ।

एक बार कायरता ने हृदय में प्रवेश किया और मातृभूमि के प्रति उत्कट् भक्ति भावना दबा दी गयी तो फिर प्रत्येक पग पर अपमानास्पद समझौते करने से कोई लाभ प्राप्त नहीं होता । अतः भूमिदान के साथ राष्ट्रीय स्वाभिमान के दान का जो सिलसिला प्रारम्भ हुआ, आज तक विराम् न ले सका । 'शान्ति' की खरीद के लिए हमने सिन्ध दिया, बलूचिस्तान दिया, पश्चिम सीमा प्रान्त दिया, आधा पंजाब दिया, आधा बंगाल दिया, पर शान्ति देवी रूठी ही रही । कश्मीर पर हमला हुआ और पुनः शान्ति के नाम पर हमने एक तिहाई कश्मीर का भी दान कर डाला । पाकिस्तानी दानव अपनी सफलता पर अट्टहास कर उठा और भारत का आहत् स्वाभिमान कराहता रहा । उसने बेरूवारी की मांग की, नहरी पानी का विवाद खड़ा किया, शान्ति के पुजारियों ने विश्वशान्ति के नाम पर दानव की क्षुधा शान्त करने के लिए बेरूवारी दे दी, नहरी पानी दे दिया ।

8। करोड़ रुपये का उपहार भी दिया । भारत की जनता ने इसका विरोध किया । राष्ट्रीय स्वाभिमान का मूल्य जानने वाले राष्ट्रवादी नेताओं ने चेतावनी दी । परन्तु विश्वशान्ति के ठेकेदारों ने एक न सुनी हमें समझाया गया "कश्मीर जाता है तो जाने दो - बेरूवारी की छोटी सी जमीन के लिए पड़ोसी राष्ट्र से बैर मोल लेना कोई बुद्धिमानी थोडे ही है" दुश्मन की भूख बढ़ती गयी और हम उसे शान्त करने के लिए भूमि धन और स्वाभिमान सभी कुछ दांव पर लगाते चले गए ।

हमारी कायरता ने दूसरे दानव को प्रोत्साहित किया । चीन ने भी अपने पंजे बढ़ाने शुरू किये । उसने तिब्बत को उदरस्थ किया हमने 'शान्ति' पाठ कर उसका 'श्राद्ध' कर डाला, हम पंचशील की लोरियां गाते रहे और वह हमारी सीमा में घुसकर सड़कें बनाता रहा, हवाई अड्डे बनाता रहा, सेना जुटाता रहा । हमारे सत्ताधीशों ने जानबूझकर मौन धारण किये रखा । ताकि जनता में रोष व्याप्त न हो सके। बात यह थी कि वह लड़ना नहीं चाहते थे लड़ाई की तैयारी करने के लिए कहने वालों को 'जंगबाज' की उपाधि देते हुए वार्ता का दौर चला रहे थे। समझौता कर लिया और भारत की जनता के नाम संदेश दे दिया कि "जिस जमीन पर घास का एक तिनका भी नहीं उगता उसके लिए लड़ाई करना मूर्खता सिद्ध होगी ।"

उपरोक्त घटनाओं के प्रति अपनी तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए पण्ड़ित दीनदयाल जी ने लिखा है कि "कुछ लोग मानवता का विचार सबसे पहले करने की बात करते हैं उनकी दृष्टि से एक देश या राष्ट्र का विचार करना संकीर्णता है पर यह दृष्टिकोण शुद्ध नहीं है । देशभक्ति और मानवता की सेवा में कहीं कोई विरोध नहीं । मानवता की सेवा करने के लिए देशभक्ति प्रथम सोपान है । जिसे अपनी जननी और जन्मभूमि के प्रति ही प्रेम नहीं वह मानवता की सेवा क्या करेगा ? जो व्यक्ति नारी मात्र को माता मानकर सबकी सेवा करने का प्रयत्न करे पर अपनी माँ की सेवा को संकीर्णता कहे उसे क्या कहा जाए ? सबकी सेवा करते हुए अपनी माँ तो अपनी माँ रहेगी । जो व्यक्ति अपनी माँ को संकटापन्न अवस्था में छोड़कर दूसरों की माताओं की सेवा करता फिरे वह चाहे कितने भी ऊँचे आदर्शवाद से अनुप्रेरित क्यों न हो व्यवहारिकता के प्रतिकूल ही माना जाएगा । अपनी माँ चाहे कुरूप हो या सुन्दर इसका विचार नहीं किया जाता माँ तो

अपनी माँ है इस नाते वह वन्दनीय है इसमें माँ की अथवा उसके किसी अंग की उपयोगिता का हिसाब लगाकर कोई विचार नहीं होता । माँ के अंगों की उपयोगिता और अनुपयोगिता का विचार ही मातृभक्ति की भावना के बिपरीत है । हमारे प्रधानमन्त्री का यह कथन कि चीन ने जिस भूमि पर अधिकार कर लिया है वह बंजर है जन शून्य है वहां घास का एक तिनका भी नहीं उगता । अतः उसके लिए मानवता का विनाश करना बुद्धिमानी नहीं है, मातृभक्ति की भावना के सर्वथा प्रतिकूल है हमने भारत को माता के रूप में माना है । इसका कण-कण हमारे लिए पवित्र है। [1]

"यह कंकड पत्थर रेत नहीं, यह तो जननी है माता है"

स्वामी विवेकानन्द जब भारतीय धर्म संस्कृति का ध्वज विश्व भर में फहराकर लौटे तो मद्रास की भूमि पर उतरते ही रेत में लोट-पोट हो गए और इसका कारण पूंछने पर बताया कि मैं काफी समय तक विदेश में रहा हूँ तो जो भी सहज बिकृति आयी होगी उन्हें दूर कर रहा हूँ ।" यह है एक सन्यासी के राष्ट्रीय स्वाभिमान का उदाहरण ।

हम जरा इंग्लैण्ड का उदाहरण लें । वहां ठंडक से लोग सिकुड़ते हैं अनाज के लिए बिदेशों पर निर्भर रहते हैं लेकिन यदि किसी अंग्रेज से पूछा जाए कि दुनियां में तुम्हे कौन देश सर्वाधिक प्रिय है तो वह बिना रुके उत्तर देगा, "इंग्लैण्ड मुझे सर्वाधिक प्रिय है" एक अंग्रेज कवि ने भी इसी प्रकार का भाव प्रकट किया है । 'इंग्लैण्ड' विद आल दाई फाल्टस आई लव दी'

लंका में विजय प्राप्त करने के उपरान्त जब लक्ष्मण जी ने भगवान राम से कहा कि हे भ्राता यह सोने की लंका अत्यन्त धन धान्य से समृद्ध है क्यों न इसे राजधानी बना लिया जाए तब राम ने जो उत्तर दिया वह उनके मर्यादा पुरुषोत्तम होने का प्रबल उदाहरण है -

"अपि स्वर्णमयी लंका न में लक्ष्मण रोचते
जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।"

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के कार्यकर्ता के मुख से कुछ इसी प्रकार के गीत प्रस्फुटित

---

1. राष्ट्र जीवन की दिशा

राष्ट्र प्रकृति और विकृति
पण्डित दीनदयाल उपाध्याय
पृष्ठ - 74-75

होते रहते हैं ।

"स्वर्णमयी लंका न मिले माँ
अवधपुरी की धूल मिले
सोने में काँटे चुभते हैं
मिट्टी में है फूल खिले ।"

परन्तु दुर्भाग्य है इस देश का यहां के सत्ताधीशों द्वारा एकता और अखण्डता का नारा लगाकर सत्ता हथियाने के बाद भारत भूमि का दान करना 'दक्षिणा' समझा जाता है । अभी विगत वर्ष 1992 में ही तीन बीघा क्षेत्र की कई एकड़ भूमि पश्चिम बंगाल की सरकार ने बंग्लादेश को पट्टे पर दे दी । अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद के हजारों कार्यकर्ताओं ने वहां पंहुचकर इसका विरोध किया तो उनके ऊपर लाठियां चलाई गयीं । "खालिदा बेगम जिन्दाबाद" --

'ज्योति बसु धन्यवाद' के नारों से वातावरण गूंज रहा था मानो राष्ट्रीय स्वाभिमान को चिढ़ाया जा रहा हो उसको चुनौती दी जा रही हो ।

इस प्रकार अपने राष्ट्रीय गौरव के मान बिन्दुओं को याद करके हम गौरवान्वित होते हैं और शर्मनाक घटनाओं के याद आते ही मन लज्जा और ग्लानि से भर जाता है ।

महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, गुरूगोविन्द सिंह, पृथ्वीराज चौहान आदि महापुरुषों का स्मरण आते ही हृदय में स्वाभिमान की पुलक उत्पन्न होती है । इसके विपरीत बाबर, मुहम्मद गोरी, गजनबी, औरंगजेब, अलाउद्दीन, क्लाइव और डलहौजी जैसे आक्रान्ताओं की याद आते ही हमारे मन में आक्रोश उत्पन्न होता है आहत स्वाभिमान को पुनः प्रतिष्ठित करने का जोश उत्पन्न हो उठता है और विगत वर्ष सन् 1992 की 6 दिसम्बर को हुआ भी यही । आक्रान्ता बाबर के सेनापति मीरबाकी द्वारा सन् 1528 में अयोध्या के रामजन्म भूमि मन्दिर को तोड़कर बाबरी मस्जिद का निर्माण कराया गया था । यह भारत के गाल पर लगा हुआ कलंक का टीका था इसको धोने के लिए केशरिया वाना धारे हजारो स्वयंसेवकों एवं राष्ट्रभक्त रामभक्तों ने तथाकथित बाबरी मस्जिद को जड़ से उखाड़कर सरयू में विसर्जित कर दिया । यह था भारत के आहत स्वाभिमान को पुनः प्रतिष्ठित करने का गौरवपूर्ण प्रयास । अतः करोड़ो भारतवासियों ने इस दिन को 'राष्ट्रीय स्वाभिमान' का दिन घोषित किया ।

वर्तमान परानुकरण राष्ट्रीय स्वाभिमान के लिए खतरा सिद्ध हो रहा है । विदेशी वादों पर हम निर्भर होते जा रहे हैं राष्ट्रजीवन किस ढ़ांचे में ढ़ालना है इसका हल अभी तक नहीं ढूंढ पाए । हमारा राष्ट्र वैभव कैसा होना चाहिए । उसका क्या स्वरूप होगा ? इसका हमें खुद बिचार करना होगा । बिदेशों से उधार ली गयी बिचार धाराओं से हमारे देश का स्वाभिमान जागृत नहीं किया जा सकता । हमारे देशवासी इनसे त्याग बलिदान और परिश्रम की प्रेरणा नहीं प्राप्त कर सकते । यही कारण है कि आज निराशा का वातावरण चारो ओर दिखाई पड़ रहा है । राष्ट्र आत्मबिश्वास खो बैठा है । कर्मचेतना सो गई है और इतना बडा करोड़ों का यह समाज परावलम्बी होकर जीवन जी रहा है । अतः देश में रहने वाले लोगों के हृदयों में देश के प्रति असीम श्रद्धा उत्पन्न करने वाले जीवन दर्शन की प्रथम आवश्यकता है और "एकात्ममानव वाद" के रूप में वह धरोहर हमारे पास उपलब्ध भी है ।

(ग) ग्राह्य एवं त्याज्य विचार पद्धति -

हमारे देश के लिए कौन सी वस्तु या विचार पद्धति उपयोगी सिद्ध हो सकती है कौन सी घातक ? इस प्रश्न का समाधान राष्ट्रीय स्वाभिमान के द्वारा ही खोजा जा सकता है । राष्ट्रीय स्वाभिमान वह निर्णायक तत्व है जो परस्पर आदान-प्रदान की मर्यादा निश्चित करता है । जिस प्रकार 'शरीर' उपयुक्त भोज्य पदार्थ ग्रहण करके ही स्वस्थ रह सकता इसके विपरीत अनुपयुक्त पदार्थ ग्रहण करने से इसके नष्ट होने का खतरा बना रहता है । ठीक उसी प्रकार उपयुक्त विचार पद्धतियों को स्वीकार करके कोई राष्ट्र सुखी, समृद्ध एवं स्वस्थ रह सकता अन्यथा उसके नष्ट होने की आशंका उत्पन्न हो जाती है । मानव शरीर का उदाहरण देकर पण्डित दीनदयाल जी ने नए विचारों एवं प्रणालियों को स्वीकार करने या अस्वीकार करने की विधि का विधिवत् वर्णन किया है ।

"जागतिक हलचल में विभिन्न राष्ट्र अनेक कारणों से एक दूसरे से सम्बन्धित होते हैं । जिनमें विचारधाराओं का आदान-प्रदान भी होता है...... किन्तु यदि हम थोड़ा सा विचार करें तो हमें पता चलेगा कि जो राष्ट्र स्वस्थ और स्वाभिमानी रहते हैं वे किसी भी

वस्तु को ग्रहण करते समय उसे एक ऐसे ढ़ंग से स्वीकार करते हैं कि वह राष्ट्रीय आदर्शों की पूरक बनकर आए"।[1] अर्थात् स्वस्थ राष्ट्र अपने राष्ट्रीय आदर्शों के अनुकूल बिचारों को ही ग्रहण करते है या फिर उनको अपने राष्ट्रानुकूल, स्वदेशानुकूल एवं युगानुकूल बनाकर ही ग्रहण करते हैं । इस तथ्य को ठीक समझने के लिए मनुष्य के शरीर का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त रहेगा सभी लोग सृष्टि के इस नियम को भली-भांति जानते हैं कि विजातीय द्रब्य किसी भी शरीर में प्रवेश करने पर रोग और उपद्रव के कारण बनते हैं "इसलिए स्वस्थ शरीर का यह लक्षण माना जाता है कि वह उन्ही विजातीय द्रब्यों को उतने ही प्रमाण और वैसे ही विधि से ग्रहण करे जिसे वह अपना बना सके । गेंहू, चावल जैसे अन्न भी मनुष्य सहसा वैसे के वैसे नहीं निगल लेता । भोजन की प्रत्येक वस्तु इस ढ़ंग से ली जाती है कि वह शरीर में विद्यमान रक्त को बढ़ाने में सहायक हो । यही बात कुटुम्बों के परस्पर ब्यवहार में लागू होती है । कोई भी कुटुम्ब ऐसा दावा नहीं कर सकता कि उसके यहां दूसरे कुटुम्ब से लेन-देन का कोई ब्यवहार नहीं होता । यह असम्भव है बिवाह जैसे आवश्यक कार्य तो बिभिन्न कुटुम्बों के बीच ही होते हैं किन्तु सभी जानते हैं कि अन्य कुटुम्ब से कन्या (दान) ग्रहण करते समय उसे सब भांति अपना बनाकर लेते हैं । उसी प्रकार राष्ट्रों के बीच होने वाले आदान-प्रदान में भी सावधानी बरतनी होती है । राष्ट्र के जीवन मूल्य, जीवन पद्धति, आदर्श और संस्कृति जीवन धारा के अनुरूप जो कुछ स्वीकार किया जाता है वह एकरसता निर्माण करता है और राष्ट्र को पुष्ट करता है । इसके बिपरीत जो बेमेल और बिरोधी होता है, वह अशान्ति उपद्रव और रोग का कारण बनता है अन्त में विनाश का कारण भी बनता है ।" हम यदि अपने ही देश का उदाहरण देखें तो हमें पता चलेगा कि अपने राष्ट्रजीवन में शक, हूण, कुशाण आदि कई जातियां आयीं और समा गयीं । राष्ट्रजीवन धारा शक्तिशाली होने के कारण वे एक रस बनकर राष्ट्र की एक ऐसी अभिन्न अंग बन गयी कि उन्हें आज अलग से खोजना भी असम्भव है ।"[2] सरलतापूर्वक समझने के लिए दूध का उदाहरण ले लिया जाये यदि दूध के अनुपात में पानी मिला दें तो दूध पानी को आत्मसात् कर लेगा और यदि

---

1. राष्ट्रजीवन की दिशा, परस्पर आदान-प्रदान की विधि — सारांश
   पण्डित दीनदयाल उपाध्याय — पृष्ठ 186 - 187
2. राष्ट्रजीवन की दिशा — तथैव — पृष्ठ - 187

दूध में कोई बिजातीय पदार्थ जैसे कोई अम्ल मिला दिया जाए तो दूध की प्रकृति में विकार उत्पन्न हो जाएगा यहां तक कि विनिष्ट हो जाएगा ।

भारतवर्ष के गुलाम होने के साथ यहां का राष्ट्रीय स्वाभिमान भी क्षीण हुआ यहां तक कि बिस्मृत होता गया । अपने राष्ट्रजीवन के सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा शिथिल पड़ी तो देश दुरावस्था की ओर खिसकता गया । बेमेल सम्मेलन के दुराग्रह से राष्ट्र को बड़े कटु अनुभव झेलने पड़े । एकरसता का मुख्य सिद्धान्त है अपनी समस्त निष्ठाओं का राष्ट्र के भीतर निवास । इस एकरसता को ताक में रखकर भारत-बाह्य निष्ठाओं को भी गले लगाने का यत्न हुआ । परिणाम बहुत स्पष्ट है । मुस्लिम लीग को गले लगाने का परिणाम भारत विभाजन में प्रकट हुआ ।"

अत्यन्त कष्ट का विषय यही है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हमारे प्रमुख नेता अपने सामर्थ्य की ओर ध्यान दिए बिना ही वैभवशाली बलवान राष्ट्रों के साथ खड़ा होने का दिवास्वप्न देखने लगे । अपने पिछड़ेपन एवं द्ररिद्रता पर शर्म महसूस होने लगी परिणामतः परानुकरण चल पड़ा और राष्ट्र में अन्तर्द्वन्द्व प्रारम्भ हो गया जो राष्ट्र को शनैः शनैः क्षीण करता जा रहा है । "विचारधाराओं के समान रीति रिवाज, परम्परा और व्यवहार सम्बन्धी घरेलू रहन-सहन आदि छोटी-छोटी बातों में भी यह बात चरितार्थ होती है । खान-पान, रहन-सहन, सामाजिक व्यवहार के तरीकों में जिन्होंने बिना सोचे-समझे यूरोपीय अथवा अमेरिकी पद्धतियां अपनायीं वे भारतीय होते हुए भी एक अजीब स्थिति में फंसे हैं ऐसे लोगों को जीवन में शान्ति नहीं मिलती । उनका असली रूप समाप्त ही हो गया लेकिन वे पूरी तरह से विदेशी नहीं बन पाए । पण्ड़ित दीनदयाल जी से एक ऐसे ही व्यक्ति अपनी व्यथा सुनाते हुए बोले, "क्या बताऊं उपाध्याय जी मेरी बड़ी अजीब स्थिति है जब मैं अमेरिका या इंग्लैण्ड जाता हूँ तो कहता हूँ कि मैं भारतीय हूँ पर जब भारत आता हूँ तो मेरी बोली, वेश-भूषा, विचार और दृष्टिकोण को देखते हुए कहना पड़ता है कि मैं अंग्रेज हूँ ।"

पण्ड़ित दीनदयाल जी उपाध्याय कहा करते थे कि पहले हमारे आदर्श, संस्कृति, भाषा, देश में बनी हुई वस्तुएं थी देश की माटी के बारे में स्वाभिमान, गर्व एवं आस्था पायी जाती थी स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इन बातों की प्रेरकता लुप्त हो गयी और हिन्दू जीवन प्रणाली से दूर जाने की प्रवृत्ति को शक्ति मिली ।" मैकाले शिक्षा प्रणाली के माध्यम से और देश की हजारो

ईसाई शिक्षा संस्थाओं में इस प्रवृत्ति को जानबूझकर खाद-पानी दिया गया । सम्पर्क भाषा के रूप में अंग्रेजी की ठकुराई बनी हुई है । राष्ट्रभाषा विषयक मार्गदर्शक सूत्र पर आज भी आचरण नहीं हुआ गौ वध समाप्त करने के लिए यहां की सरकार अभी भी तैयार नहीं है । ग्रह्याग्राह्यता का बिचार हम रख नहीं पाए । वास्तविकता तो यह है कि हमारे संविधान में भी राष्ट्रीय स्वत्व को प्रतिबिम्बित नहीं होने दिया गया । संविधान निर्माण के समय से ही आत्म विस्मृति तथा परानुकरण की प्रवृत्ति हमारे अन्दर घर कर गयी है और धीरे-धीरे बलवती होती जा रही है । बहुत लोग दलील पेश करते हैं कि आखिर युग धर्म का विचार करना ही चाहिए और यह बात सच भी है देश काल परिस्थिति के स्वामी केवल इंग्लैण्ड अमेरिका ही है ? क्या माडर्न का लेबल देने का हकदार वही है ?

हमारे यहां भी तो अपने जीवन मूल्यों की, स्थापना के महत्व को बढ़ाने वाली अच्छी बाते हो सकती है । हम उन्हें (विदेशी बातें) अच्छी तरह समझते हुए भी पालन करें तो भी अन्तर्द्वन्द्व और अशान्ति बढ़ेगी । हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि हमारे जीवन पर पड़ने वाले विदेशी प्रभाव हमारी स्वावलम्बन भावना को क्षीण करते रहते हैं और एक समय ऐसा आता है कि सम्पूर्ण जातीय जीवन ही विनाश की कगार पर खड़ा हो जाता है । विश्व में बड़ी-बड़ी जातियां इसी प्रकार नष्ट हो गयी । हम भी यदि सम्पूर्ण जीवन के क्रियाकलाप बाहर की अंधी नकल पर ही आधारित करते चले गए तो प्रगति नहीं कर सकेंगे । इसलिए सम्पूर्ण जीवन का आधार स्वाभिमान ही हो सकता है और वही हमें विश्व से योग्य बातों के परस्पर आदान-प्रदान की संतुलित पद्धति का मार्गदर्शन करा सकता है ।

(घ) आधुनिकता और पुरातनता के समायोजक -

पुण्यश्लोक पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय सांस्कृतिक विरासत के प्रति सर्वाधिक सतर्क एवं जागरूक थे । उन्होंने भारतीय संस्कृति को सर्वोच्च अहमियत प्रदान की और उसे वर्तमान सन्दर्भों के अनुकूल ढ़ालकर प्रस्तुत किया । उन्होंने प्राचीन को अर्वाचीन से स्पष्टतःजोड़ा और अतीत को वर्तमान के झरोखे से देखा । 'चन्द्रगुप्त' की भूमिका में मनोगत शीर्षक के अन्तर्गत उन्होंने लिखा है 'प्रस्तुत पुस्तक में ऐतिहासिक तथ्यों के ढ़ांचे पर अपनी भाषा का मांस चढ़ाकर चन्द्रगुप्त का चरित्र लिखा गया है । 'जगद्गुरू शंकराचार्य' भारतीय जीवन दर्शन को नूतन सन्दर्भो से प्रस्तुत करने का नितान्त अभिनव प्रयास था । वे पाश्चात्य सभ्यता के जितने विरोधी थे उतने ही रूढ़ियों और अंध विश्वासों के भी । वे रूढ़ियों एवं अन्ध विश्वासों को समाज तथा राष्ट्र की उन्नति में अवरोधक मानते थे ।

भारतीय इतिहास के गौरवमय अतीत के मार्मिक प्रसंगों की व्याख्याएं उन्होंने आधुनिक राष्ट्रीय चेतना के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया जो अत्यन्त प्रेरणा दायक सिद्ध हुई । चिरपरिचित ऐतिहासिक प्रसंग उनकी मेधा और वाणी का स्पर्श पाकर एक नूतन अर्थवित्ता एवं नाटकीय रोमांचकता से भर उठते थे । वे सच्चे अर्थों में भारतीय इतिहास के पुनराख्याता थे ।

पण्ड़ित दीनदयाल जी का 'एकात्म मानववाद' ऐतिहासिक विचार श्रंखला की कडी के रूप में उत्पन्न हुआ । यह 16वीं - 17वीं सदी के यूरोपीय पुर्नजागरण तथा बीसवीं सदी के ऐशियायी पुर्नजागरण के मेल का परिणाम है । 20वीं सदी के एशियायी पुर्नजागरण का नेतृत्व भारत ने किया । एशियाई पुर्नजागरण "यूरोपीय मानववाद एवं भारतीय आत्मवाद" का संगम स्थल बन गया । राजाराम मोहन राय, स्वामी विवेकानन्द व महर्षि दयानन्द सरस्वती जैसे लोगों ने इस पुर्नजागरण के शंख को फूंका । स्वामी विवेकानन्द ने इन दोनों (यूरोपीय मानववाद एवं भारतीय आत्मवाद) की एकात्मा की कामना करते हुए आव्हान किया -- "हमें निर्भीक होकर अपने घर के सब दरवाजे खोल देने होंगे । संसार के चारो ओर से प्रकाश की किरणें आयें, पाश्चात्यों का तीव्र प्रकाश भी आए । जो दुर्बल है, दोषयुक्त है, उसका नाश होगा ही । यदि वह चला जाता है तो जाए, उसे रखकर हमें क्या लाभ होगा ? जो वीर्यवान, बलप्रद है वह अविनाशी है उसका नाश कौन कर सकता है ।"[1]

---

1. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय कर्तव्य एवं विचार — एकात्म मानववाद
डा. महेश चन्द्र शर्मा — पृष्ठ - 399

पुनर्जागरण के इसी आवाहन में से भारतीय स्वाधीनता संग्राम उदित हुआ इस सारे चिन्तन में भारतीय पुनर्जागरण पाश्चात्य एवं भारतीय विचारों का परस्पर मन्थन व सम्मिश्रण हो रहा था इसी दौरान भारत स्वतन्त्र हुआ । विचार मन्थन चलता ही रहा । इस विचार श्रंखला की नवीनतम कडी है दीनदयाल उपाध्याय प्रणीत् "एकात्म मानववाद" ।

राजा राममोहन राय से लेकर दीनदयाल उपाध्याय तक लगभग अस्सी वर्ष के कालखण्ड में पाश्चात्य एवं भारतीय जीवनदर्शन में सतत् संघर्ष चलता रहा है । इसी सतत् संघर्ष से उत्पन्न 'एकात्म मानववाद' इस शताब्दी की प्रखर मनीषा का प्रतिनिधित्व करता है जो भारत को भारत बनाए रखना चाहती है, पर दुनिया से कटकर नहीं । जो जागतिक ज्ञान विज्ञान का उत्कर्ष चाहती है पर अध्यात्म को छोड़कर नहीं जो संसार के नवीनतम् प्रयोगों में योगदान करना चाहती है पर स्वयं को भूलकर नहीं । विवाद केवल तत्वों के अनुपात व प्रक्रिया का है कुछ भारत को ज्यादा भारत व कम दुनियां बनाना चाहते हैं कुछ दुनियां बनाने के आग्रह में भारत तत्व पर कम जोर देना चाहते हैं । किसी का आधुनिक पर ज्यादा जोर है किसी का भौतिकता पर, किसी का अध्यात्म पर ज्यादा जोर है किसी का पदार्थ पर किसी को नए प्रयोग का बहुत उत्साह है तो किसी को प्राचीन का ज्यादा आकर्षण है । इसी सन्दर्भ में 'पाश्चात्य मानववाद' के भारतीयकरण की प्रक्रिया का परिणाम है 'एकात्म मानववाद' । इसकी पृष्ठभूमि के दो आयाम है - प्रथम, पाश्चात्य जीवनदर्शन तथा द्वितीय भारतीय संस्कृति । 'मानववाद' मुख्यतः पाश्चात्य अवधारणा है तथा एकात्मा भारतीय । पण्डित दीनदयाल जी पाश्चात्य जीवन की श्रेष्ठता को स्वीकार करते थे लेकिन उसकी विकृति के खिलाफ ज्यादा चौकस थे क्योंकि उनको लगता था कि पाश्चात्य के मोह में लोग उसकी विकृति को नजरअन्दाज कर रहे हैं । भारत को पश्चिम की अनुकृति बना रहे हैं तथा समाज में एक सम्भ्रम उत्पन्न हो रहा है । इस विषय में उन्होंने लिखा -

"गांधी जी के जाने के बाद राज्य सत्ता जिनके हाथ में आयी वे भारत की भाषा व भावना को न समझ पाए और न उसका वह सपना रख पाए जो उसको अपना लगता । हमने अपने सम्पूर्ण जीवन को अंग्रेजियत के चश्मे से देखा । फलतः हमारी राजनीति अर्थनीति समाज व्यवस्था साहित्य और संस्कृति पर अंग्रेजियत की गहरी छाप है । भारतीयता केवल ऊपर-ऊपर दिखती है । .... बिभिन्न राजनैतिक दल चाहे वे समाजवादी हो या गैर समाजवादी, यूरोप

की राजनैतिक विचारधाराओं से ही प्रभावित हैं वे भारत को किसी न किसी की अनुकृति बना देना चाहते हैं ।"[1] उपाध्याय जी के मतानुसार पश्चिम की अच्छी बातों में भी तालमेल का अभाव है । "राष्ट्रवाद विश्वशान्ति के लिए खतरा पैदा करता है । प्रजातन्त्र पूंजीवाद के मेल से शोषण का कारण बन गया । पूंजीवाद को समाप्त कर समाजवाद आया तो उसने प्रजातन्त्र और उसके साथ व्यक्ति की स्वतन्त्रता की बलि ले ली । अतः पश्चिम के सामने यह प्रश्न खड़ा है कि इन सभी अच्छी बातों का तालमेल कैसे बैठाया जाए ?"[2] इसीलिए पण्ड़ित जी पश्चिम के अंधानुकरण के विरोधी थे लेकिन सभी मानवीय प्रयत्नों को आदर देते थे । नवीन प्रयोगों में उनका उपयोग भी करना चाहते थे । सभी संशोधित अच्छी बातों को वे पाश्चात्य अवधारणा के आधार पर नहीं, मानवीय प्रयोगों की संकल्पना के आधार पर स्वीकार करना उचित समझते थे ।......

"विश्व का ज्ञान हमारी थाली है । मानव जाति का अनुभव हमारी सम्पत्ति है । विज्ञान किसी देश विशेष की बपौती नहीं वह हमारे भी अभ्युदय का साधन बनेगा ।"[3] वे पश्चिम के प्रगति भूत 'परिणामों' की नकल नहीं करना चाहते थे । वे उन प्रगति के 'कारणों' का अध्ययन कर उनसे सीखने का आग्रह करते थे । पश्चिम के प्रतिक्रियावाद, जड़वाद, एकांकी दृष्टिकोण, जीवन का खण्ड विचार तथा उपभोग वाद की दीनदयाल उपाध्याय जी ने बहुत आलोचना की । जिसके परिणामस्वरूप पश्चिम की सब अच्छी बातें मानवजाति के खाते में जमा की गयी तथा उसकी कमियों को पाश्चात्य जीवनदर्शन की कमजोरियों के रूप में उल्लिखित किया गया सामान्यतः पश्चिम के प्रतिक्रियावाद, जड़वाद, एकांकी दृष्टिकोण, जीवन का खण्ड-खण्ड विचार तथा उपभोगवाद की दीनदयाल उपाध्याय ने पर्याप्त आलोचना की । दीनदयाल उपाध्याय द्वारा प्रस्तुत किया गया बिश्लेषण आधुनिक गांधीवादी दर्शन के अनुकूल है । पश्चिम जगत् के प्रसिद्ध गांधीवादी विल्फ्रेड वेलॉक ने गांधी जी के विषय में लिखा है -

"गांधी जी पश्चिमी सभ्यता की निन्दा प्रधानतः इस कारण करते थे क्योंकि वह

---

1. तथैव
2. एकात्मदर्शन राष्ट्रवाद की सही कल्पना
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ - 11
3. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय कर्तव्य एवं विचार,
   "एकात्म मानववाद"
   डा. महेश चन्द्र शर्मा
   पृष्ठ - 402

व्यक्तिगत सम्पत्ति व शक्ति के लिए मनुष्य को यन्त्र के समान बनाकर मानवीय श्रम का शोषण करती है । इसके परिणामस्वरूप एक ऐसा समाज उत्पन्न होता है जिसमें परस्पर बिरोधी वर्ग अपने बिरोधी आदर्शों के द्वारा हिंसक क्रान्ति तथा प्रति क्रान्ति में जुटे रहते हैं । इस पदार्थवाद में से वस्तुओं और सेवाओं की निरन्तर पूर्ति के लिए एक भयंकर होड़ लगी रहती है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव तथा अन्त में विश्व युद्ध और विश्व क्रान्ति का जन्म होता है ।"[1] पश्चिम के प्रति इस प्रकार के दृष्टिकोण से जवाहरलाल नेहरू असहमत थे उन्होंने एक पत्र में महात्मा गांधी को लिखा था -

"मैं सोचता हूँ कि आप पश्चिम की सभ्यता को बहुत गलत आंकते हैं और उसकी बहुत सी कमियों को जरूरत से ज्यादा महत्व देते हैं । आपने कहीं पर कहा है कि भारत को पश्चिम से कुछ नहीं सीखना है, और भूतकाल में वह बुद्धिमत्ता के चरम शिखर तक पहुंच गया था । मैं इस दृष्टिकोण से एकदम असहमत हूँ और यह नहीं सोचता कि तथाकथित रामराज्य पुराने जमाने में बहुत अच्छा था और न मैं फिर उसे वापस लाना चाहता हूँ । मेरे ख्याल में पश्चिमी या औद्योगिक प्रगति की भारत में अवश्य विजय होगी । हो सकता है उसमें बहुत सी आवश्यक तब्दीलियां करनी पड़े और नई चीजे जोड़नी पड़े, लेकिन फिर भी वह मुख्यतः औद्योगिकता पर आधारित होगी । आपने औद्योगिकता की बहुत सी जाहिर बुराईयों की कड़ी आलोचना की है और उसके गुणों की ओर मुश्किल से ध्यान दिया है । इन बुराइयों को हर कोई जानता है । पश्चिम के ज्यादातर बिचारकों की यह राय है कि ये बुराइयां उद्योगवाद की वजह से नहीं बल्कि उस पूंजीवादी तरीके की वजह से हैं जोकि दूसरों के शोषण पर निर्भर करता है ।"[2]

उपाध्याय जी द्वारा पश्चिम का ऐसा कृष्णपक्षीय बिवेचन तो प्रस्तुत किया गया लेकिन वे इसके शुक्ल पक्ष से भी अनभिज्ञ नहीं थे । स्वतन्त्रता व बन्धुता का आदर्श, विवेक एवं अनुसन्धान का आधार एवं साहसिक प्रयोगवाद पश्चिम द्वारा अर्जित श्रेष्ठत्व के लिए कारणीभूत

---

1. पण्डित दीनदयाल उपाध्याय कर्तव्य एवं विचार एकात्ममानववाद
डा. महेश चन्द्र शर्मा,
पृष्ठ - 406

2. तथैव

है इन घोषित श्रेष्ठताओं को पूरी तरह से प्राप्त न कर सकने के जो अनेक कारण हैं, उपाध्याय जी मानते हैं कि उनमें से बडा कारण यह है कि मानव की बिकार मूलक प्रवृत्ति को उन्होंने, इन अच्छे लक्ष्यों को प्राप्त करने की प्रक्रिया के रूप में स्वीकार कर लिया । परिणामस्वरूप इस प्रवृत्ति ने उनके हर अच्छे आदर्श को परस्पर लड़वा दिया । अतः पश्चिम से व्यवहार करते समय हमें चौकस रहना चाहिए । वह ब्यवहार भी बराबरी के स्तर पर होना चाहिए । हमें अपने 'स्वत्व' तथा सांस्कृतिक मूल्यों के अधिष्ठान पर बिभिन्न प्रयोग करके मानवीय विकास की प्रक्रिया में सहभागी बनना चाहिए, किसी पर अवलम्बित नहीं रहना चाहिए । इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा -

"निःसन्देह आज विश्व से कुछ लें परन्तु विश्व ऐसी स्थिति में नहीं है कि हमारा कुछ मार्गदर्शन कर सके । वह तो स्वयं चौराहे पर है । ऐसी अवस्था में हम उससे किसी प्रकार का मार्गदर्शन नहीं पा सकते । हमें तो यह सोचना चाहिए कि अब तक की विश्व प्रगति को देखते हुए कहीं ऐसी सम्भावना है या नहीं कि हम उनकी प्रगति में कहीं योगदान कर सकें ? विश्व की प्रगति का अध्ययन कर लेने के बाद हम भी उन्हें कुछ दे सकते हैं, यह विचार हमें विश्व का अंग बनकर/करना चाहिए । हम केवल स्वार्थी न बनकर, विश्व की प्रगति में सहयोगी बनें । यदि हमारे पास कोई वस्तु है जिससे कि विश्व का लाभ होगा तो वह देने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए । मिलावट के युग के अनुरूप, विशुद्ध विचारों को बिकृत करके उनका मिश्रित रूप न लें बल्कि उनको सुधार कर तथा मन्थन करके ग्रहण करना चाहिए । हमें विश्व पर बोझ बनकर नहीं उसकी समस्याओं के छुटकारे में सहायक बनकर रहना चाहिए । हमारी परम्परा और संस्कृति विश्व को क्या दे सकती है यह हमें बिचार करना है ।"[1]

पश्चिम की प्रगति एवं विचार प्रवाह के प्रति उपाध्याय का उपयुक्त चिन्तन "अपनी अहमियत का इजहार" करवाने वाला है । वे पश्चिम को मानवीय सभ्यता की मुख्य धारा मानकर उसमें डूबने को तैयार नहीं है । अपने राष्ट्रीय स्वत्व के साथ मानव सभ्यता की धारा

---

1. एकात्ममानव दर्शन — पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय, पृष्ठ - 12

को समृद्ध करने की मानसिकता से उपाध्याय ने भारतीय संस्कृति को अपने चिन्तन का आधार बनाया । भारतीय संस्कृति में एक दीर्घकालिक निरन्तरता है । एशिया व यूरोप की तुलन करते हुए श्री अरविन्द लिखते हैं - " यूरोप शताब्दियें में जीता है और एशिया युगों मे, यूरोप राष्ट्रों में बंटा है एशिय सभ्यता और संस्कृतियों में। सारे यूरोप की एक ही सभ्यता है, जिसका स्रोत एक ही है, वह पुरानी और कहीं से ली हुई है । एशिया में तीन सभ्यताएं हैं जिनमें से हरेक मौलिक और स्थानीय है । यूरोप की हर चीज छोटी और अल्प जीवी है । उसे अमरता का रहस्य नही मिला है ।

.........आज यूरोप विज्ञान, दर्शन, सभ्यता आदि के जिन शिखरों पर हॉफते हांफते चढ़ रहा है, उन ऊंचाईयों तक एशिया बहुत पहले चढ़ चुका है, लेकिन उसके बाद कुछ ढील आ गयी है, ह्रास और अधोगति नहीं आई ।"[1] पण्डित जी की चिन्तन धारा महर्षि अरविन्द की चिन्तन धारा के अनुकूल ही है ।

पण्ड़ित दीनदयाल जी भारतीय संस्कृति के प्रति स्वाभिमान का भाव रखते थे तथा तात्विक दृष्टि से उसकी तर्क संगत निरन्तरता के कायल थे । अतः उन्होनें भारतीय संस्कृति के शुक्ल पक्ष का अधिक विवेचन किया है । सब अच्छी बातें भारतीय संस्कृति के खाते में तथा बुरी बातें मानवीय स्वभाव दोष कालावाह्यता तथा विदेशी सम्पर्क के खाते में जमा है । दुनियावाले भी अन्य संस्कृति विशेषकर पशिचमी संस्कृति की तुलना में भारतीय संस्कृति को श्रेष्ठतर मानते थे । वे भारतीय संस्कृति की विशेषता के कायल थे क्योंकि उनकी दृष्टि में यह सम्पूर्ण जीवन का सम्पूर्ण सृष्टि का संकलित विचार करती है, "एकात्मवादी" है आध्यात्म प्रधान होते हुए भौतिक उत्कर्ष की हिमायती है । व्यष्टि से परमेष्ठी तक को अविभक्त मानती है । धर्म प्रधान होने के कारण राजा, प्रजा, समाज सुसंयमित रहते हैं यह किसी पुस्तक या व्यक्ति को अन्तिम प्रमाण नहीं मानती । "नेति नेति" या "वादे वादे जायते तत्वबोधा" इसकी विशेषता है । सहिष्णुता इसका परम लक्षण है "एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति" का विचार रखती है । यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे तथा "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की भावना से आप्लावित है । यह मजहबी नहीं है गीता में भगवान श्री कृष्ण कहते हैं "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव मजाम्यहम् । अर्थात् जो मुझे जिस रूप में भजता है मैं उसी रूप में मिल जाता हूँ । "इदम् न मम्" ऐसा इसका

---

1. तथैव (भारतीय संस्कृति) पृष्ठ 408

यज्ञमयी भाव है । यह 'समन्वय' वादी है । व्यक्ति व समाज में समन्वय भौतिकता व आध्यात्मिकता में समन्वय, राष्ट्र एवं विश्व में समन्वय विचारों व पंथो में समन्वय तथा हर संघर्ष का सामना करने की अद्भुत क्षमता भारतीय संस्कृति का वैशिष्ट्यपूर्ण लक्षण है ।

पण्डित दीनदयाल जी ने अपने विभिन्न लेखों एवं भाषणों में भारतीय संस्कृति को अत्यन्त गौरवपूर्ण ढंग से परिभाषित किया है लेकिन वे सांस्कृतिक श्रेष्ठता के नाम पर "यथास्थितिवाद" के पूर्णतया विरूद्ध थे । उन्होंने लिखा है -

"हमने अपनी प्राचीन संस्कृति का विचार किया है लेकिन हम कोई पुरातत्ववेत्ता नहीं है हम किसी पुरातत्व संग्रहालय के संरक्षक बनकर नहीं बैठना चाहते । हमारा ध्येय संस्कृति का संरक्षण करना नहीं अपितु उसे गति देकर सजीव व सक्षम बनाना है । ..... हमें अनेक रूढ़ियां समाप्त करनी होगी, बहुत से सुधार करने होंगे ।"[1]

आज यदि समाज में छुआछूत और भेदभाव घर कर गये हैं जिसके कारण लोग मानव को मानव समझकर नहीं चलते और जो एकता के लिए घातक सिद्ध हो रहे हैं हम उनको समाप्त करेंगे ।

पुरानी संस्थाओं में उत्पन्न निहित स्वार्थों के विषय में उपाध्याय जी ने कहा है -

"...... पुरानी संस्थाओं में जिनका निहित स्वार्थ है उन्हें धक्का लगेगा । कुछ लोग जो प्रकृति से अपरिवर्तनवादी हैं, उन्हें भी सुधार और सृजन के इन प्रयत्नों से कुछ कष्ट होगा किन्तु बिना औषधि के रोग ठीक नहीं होता । व्यायाम का कष्ट उठाये बिना बल नहीं आता । अतः हमें यथास्थिति का मोह त्यागकर नवनिर्माण करना होगा ।"[2]

पण्डित जी ने बम्बई के अपने ऐतिहासिक भाषण में 'एकात्ममानववाद' की अत्यन्त भावपूर्ण शब्दों में व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहा है -

---

1. एकात्म मानव दर्शन

राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल अर्थ रचना

पण्डित दीनदयाल उपाध्याय

पृष्ठ - 74

2. तथैव

पृष्ठ - 73

'विश्व का ज्ञान और आज तक की अपनी सम्पूर्ण परम्परा के आधार पर हम ऐसे भारत का निर्माण करेंगे, जो हमारे पूर्वजों के भारत से भी अधिक गौरवशाली होगा, जिसमें जन्मा मानव अपने व्यक्तित्व का बिकास करता हुआ सम्पूर्ण मानवता ही नहीं अपितु सृष्टि के साथ एकात्मता का साक्षात्कार कर 'नर से नारायण' बनने में समर्थ हो सकेगा । यह हमारी संस्कृति का शाश्वत, दैवी और प्रवाहमान रूप है । चौराहे पर खड़े विश्वमानवके लिए यही हमारा दिग्दर्शन् है । भगवान हमें शक्ति दे कि हम इस कार्य में सफल हों, यही प्रार्थना है ।" ।

दीनदयाल उपाध्याय द्वारा प्रणीत् एकात्ममानव वाद की यही ऐतिहासिक व तात्विक पृष्ठभूमि है । इतिहास की वह धारा जिसके कारण यूरोप तथा एशिया में पुर्नजागरण का संचार हुआ परिणामस्वरूप पाश्चात्य एवं भारतीय विचारों में परस्पर मंथन हुआ । पाश्चात्य विचार व भारतीय संस्कृति की तात्विक पृष्ठभूमि में जहां पाश्चात्य प्रयोगों तथा भारत की प्राचीन संस्कृति का महत्व है, वहीं स्वान्तत्रोत्तर भारत का राजनैतिक चिन्तन निर्णायक रूप से एकात्म मानववाद के सृजन का कारण बना । इस प्रकार हम महसूस करते हैं कि दीनदयाल उपाध्याय जी ने बहुत विवेक पूर्वक पश्चिम विचार धारा व भारतीय संस्कृति में मेल बैठाने का प्रयत्न किया । उन्होंने लिखा -

...... "हमारा राष्ट्र कोई ऐसा भू-प्रदेश तो नहीं जो आज सहसा समुद्र से उभरकर आ टिका हो । हमारा सहस्रो वर्षो का राष्ट्र जीवन इस भूमि पर रहा है । इतने लम्बें काल खण्ड में हमारी प्रकृति और परम्परा अक्षुण्ण रही । हमें इसका ठीक विचार कर अपने प्रतिभा के भरोसे आधुनिक प्रगति की दिशा तय करनी होगी । हमारी जीवन पद्धति हमारा मार्गदर्शन करने के लिए विद्यमान है । यह सही है कि हम हजारों वर्षों के इतिहास को जैसा का वैसा लेकर नही चल सकते । तथापि हमारी जीवन पद्धति के जो मूल तत्व है उन्हें भुलाकर भी हम नहीं चल सकते । हमें उन्हें युगानुकूल बनाकर ग्रहण करना होगा । नूतन सूझबूझ और पुरातन गुण गरिमा का मणिकांचन संयोग उपस्थित करते चलना होगा । आधुनिक कार्ययोजना और पुरातन सन्दर्भ शिक्षा लेकर नव निर्माण के चरण बढ़ाने होंगे ।[2]

---

1. तथैव

पृष्ठ - 76

2. राष्ट्र जीवन की दिशा, सारांश,
आधुनिक प्रगति की दिशा

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
पृष्ठ - 191

(ड) **समन्वित सुख के पक्षधर -**

सुखसागर में एक कथा आती है कि प्रहलाद जी के स्वर्गारोहण के समय उन्हें लेने स्वयं धर्मराज आए तो प्रहलाद जी बोले कि हे प्रभू आप केवल मुझे ही अकेले स्वयं स्वर्ग ले जाएगें इस संसार में बहुत दुःखी प्राणी है यदि आप इनको भी ले चलें तो बहुत ही अच्छा रहेगा । तो धर्मराज ने कहा कि प्रहलाद जी कोई भी प्राणी इस जीवन को छोड़कर स्वर्ग जाने के लिए तैयार ही नहीं है लेकिन आप अगर चाहते हैं तो पूंछ लीजिए यदि कोई स्वर्ग चलने को तैयार हो तो ले चलें । प्रहलाद जी ने एक अति वृद्ध से स्वर्ग चलने के बारे में पूछा तो उस वृद्ध ने जबाव दिया, "कि अभी मैं अपने नाती पोतों का सुख भोग नहीं पाया और आप मुझे मृत्यु का निमन्त्रण देने के लिए आ गए जाइए आप ही जाइए मैं नहीं जाना चाहता ।" यहां तक कि प्रहलाद जी ने कई दुःखी लोगों से उक्त प्रश्न किया लेकिन सभी जगह से नकारात्मक उत्तर मिला । अतः उन्होंने एक सुअर को अपने बच्चों के साथ कीचड़ में लेटा हुआ देखा उन्होंने सोचा यह कितना दरिद्र प्राणी है दुःखी होगा इसको स्वर्ग ले जाए तो अच्छा रहेगा और उससे भी स्वर्ग जाने के लिए कहा तो कहते हैं उसने भी प्रतिउत्तर में कहा, 'कि आप देख नहीं रहे मैं अपने बच्चों के साथ कितना सुखी हूँ आप मुझ पर कृपा करें आप ही स्वर्ग चले जाएं ।"

उपरोक्त कथा से यह आशय स्पष्ट होता है कि प्रत्येक प्राणी में जीवित रहने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है । जबकि "यह जीवन क्षण भंगुर है" 'संसार असार है' 'सुख कम दुःख ज्यादा है' ऐसी बातों को मनुष्य भली-भांति जानता है वार्तालाप में प्रयोग भी करता है फिर भी उसकी दीर्घकाल तक जीवित रहने की इच्छा समाप्त नहीं होती । भारतीय संस्कृति ने भी इस सहज प्रवृत्ति का समर्थन ही किया है ।" जीवेत् शरदः शतम्" एवं "व्यशेम देवहितं यदायुः" जैसे वाक्यों का उद्घोष हमारी संस्कृति ने ही किया है । 'आयुष्मान भव' 'चिरञ्जीवी भव' आदि आशीर्वचनों का प्रचलन इस दृष्टि से अर्थपूर्ण माना गया है ।

केवल दीर्घजीवी होने से ही मनुष्य को सन्तोष नहीं होता । वह चाहता है कि यह दीर्घजीवन सुखमय हो । जीवन भर वह जो लगातार दौड़धूप तथा प्रयास करता रहता है वह सुखी जीवन के लिए ही होता है उसके सारे विचार और व्यवहार इसी दृष्टि से चलते रहते हैं

कि जीवन में अधिक से अधिक सुख कैसे प्राप्त होगा । उसके अनुकूल वेदनीयता की सभी बातें उसे सुख एवं प्रतिकूल वेदनीयता की दुःख पंहुचाती है । अर्थशास्त्र में मनुष्य को आर्थिक प्राणी कहा गया है उसकी आवश्यकताओं को असीमित बताया गया है अतः वह ज्यादा से ज्यादा आवश्यकताओं की पूर्ति करके अधिक से अधिक सुख प्राप्त करना चाहता है । हमारे ऋषि मुनियों ने भी "सर्वे भवन्तु सुखिनः" की कामना की है । हमारे यहां अपना सुख प्राप्त करने के लिए दूसरों के सुखाधिकारों का हनन अनुचित एवं अधर्म माना गया है । "परहित सरिस धर्म नहि भाई । पर पीड़ा समनहि अधमाई ।" और यह आदेश भी दिया गया है "आत्मनं प्रतिकूलानि परेसां न समाचरेत्" कि जो कृत्य या व्यवहार स्वयं को सुख नहीं पहुचाते वैसा व्यवहार आप दूसरों से भी न करें । अतः हमारे यहां सार्वजनिक सुख, सार्वभौमिक सुख को ही श्रेयस्कर माना गया है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि 'सुख' आखिरकार है क्या ? इसे कैसे प्राप्त किया जाए ? चाणक्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में यही प्रश्न उपस्थित किया, "सुखस्य मूलम किम्" और उसका पूर्ण समीकरण के साथ उत्तर दिया,

"सुखस्य मूलं धर्मः धर्मस्य मूलम् अर्थम् ।
अर्थस्य मूलं राज्यम् राज्यस्य मूलम् इन्द्रियजय : ।"

अर्थात् राज्य एवं अर्थ एवं धर्म आदि व्यवस्थाएं मूलतः मनुष्य के सुख को सिद्ध करने के लिए उत्पन्न हुई है । और भी कहा गया है, "धनात् धर्मः ततो सुखम्"

सम्पूर्ण समाज व्यवस्थां के प्रयोग एवं व्यक्तिगत विकास के उद्यम, इन्हीं प्रश्नों के समाधान के लिए संयोजित हुए हैं । उपाध्याय जी के अनुसार व्यक्ति का सुख चतुर्आयामी है । भौतिक, मानसिक, बौद्धिक व आध्यात्मिक सुख इन चारो सुखों की प्राप्ति से ही मनुष्य सुखी होता है । जीवन रक्षक एवं रंजक बाते सुख तथा प्राणघातक बातें 'दुःख' लगती हैं । सुख की भावना मनुष्य में आकर्षण व दुःख की भावना विकर्षण पैदा करती है । 1

सामान्यतः मनुष्य के सुख की कल्पना प्रायः एकांकी हुआ करती है । वह मानता

---

1. पण्डित दीनदयाल उपाध्याय
विचार दर्शन खण्ड - 2

'एकात्ममानव दर्शन'
विनायक वासुदेवनेने

है कि इन्द्रियों द्वारा मिलने वाला सुख अर्थात् शारीरिक सुख ही सम्पूर्ण सुख है । विविध विषय भोगों की पूर्ति ही सर्वस्व सुख है ऐसा वह भाव बना लेता है और भौतिक आवश्यकताओं, इच्छाओं तथा वासनाओं की पूर्ति के लिए अधिकाधिक साधन एकत्र करने लगता है । फिर अधिकाधिक धनार्जन ही उसका लक्ष्य बन जाता है । लेकिन -

"नजातु कामः काम्यानामुदभोगेन शाम्यते ।

हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एव विवर्धते।"

उपभोग से वासनाओं का शमन नहीं होता जिस प्रकार आहुति देने से अग्नि और भी प्रज्ज्वलित होती है । उसी प्रकार उपभोग के कारण वासनाऐं कम नहीं होती बढ़ती ही जाती हैं। इस प्रकार मनुष्य की सुख प्राप्ति की आकांक्षा कभी भी समाप्त नहीं होती और वह स्वयं समाप्त हो जाता है ।

"तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा"

भगवत् गीता के अनुसार -

'विषय इन्द्रिय संयोगाद्यन्तदग्रेऽमृतोपमम्

परिणामें विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।"

जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है वह पहले योगकाल में अमृत केतुल्य प्रतीत होने पर भी परिणाम में विष के तुल्य होता है ।[1]

भारतीय संस्कृति ने सुख प्राप्त का समन्वित मार्ग दर्शाया है शारीरिक सुखों के साथ मन, बुद्धि और आत्मा के सुखों का बिचार किया गया है । पण्ड़ित दीनदयाल जी उपाध्याय ने मनुष्य को शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा चारों का समुच्चय माना है । अतः एकांगी सुख को स्वीकार न करते हुए उन्होंने समन्वित सुख को ही स्वीकार किया है ।

पण्ड़ित जी के अनुसार मानव जीवन में भौतिक सुखों का महत्वपूर्ण स्थान है किन्तु शारीरिक सुख ही सर्वस्व सुख नहीं है शरीर के साथ मन भी होता है और मन का भी

---

1. श्री मद् भगवत गीता

अध्याय - 18 पृष्ठ - 253

श्लोक - 38

अपना सुख भी अपना सुख दुःख हुआ करता है । इस सम्बन्ध में पण्ड़ित जी एक कथानक सुनाते थे । एक कम्युनिष्ट अपने मित्र को समझा रहे थे कि जीवन में सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न रोटी का है (क्योंकि कार्ल मार्क्स ने रोटी को प्रथम प्राथमिकता की वस्तु कहा) उस मित्र ने उसकी बात सुन ली लेकिन बार-बार उक्त बात को दुहराने से मित्र नाराज होकर बोला कि "क्या तुम सचमुच यह मानते हो कि दुनिया में रोटी का प्रश्न ही सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न है ?" उस कम्युनिष्ट ने उत्तर दिया 'निश्चय ही" इस पर उस मित्र ने उससे कहा "ठीक है, तुम्हारी रोटी की समस्या मैं हल किए देता हूँ । कल से तुम प्रतिदिन मेरे घर आया करो मैं तुम्हें पेट भर बढ़िया भोजन खिलाऊंगा । किन्तु इसके साथ मेरी एक शर्त है कि सायंकाल भरी सड़क में खड़ा करके मैं तुम्हें चार जूते लगाऊंगा ।" वह कम्युनिष्ट अवाक् रह गया । तात्पर्य यह है कि जैसे मनुष्य का शरीर होता है वैसे ही मन भी होता है मन में चिंता रही तो शरीर सुखी नहीं रहता । प्रत्येक ब्यक्ति शरीर का सुख चाहता है किन्तु किसी को कारागार में डाल दिया जाए तो उसे क्या सुख होगा ?

महाभारत में उदाहरण है "दुर्योधन के घर की मेवा त्याग कर भगवान कृष्ण ने विदुर के घर का साग खाया था ।" रामचरित मानस में राम ने शबरी के जूठे बेर खाये थे ।" अतः मान सम्मान के साथ हमारे यहां विष स्वीकार है बिना मान के अमृत भी स्वीकार्य नहीं माना गया ।

"मानसहित विष खाइकै शम्भु भये जगदीश
बिनामान अमृत पिए राहु कटायो शीष"
रहीम दास जी ने भी कहा है -
"रहिमन रहिला की भली, जो परसइमन लाइ
परसत मन मैला करे सो मैदा जरि जाइ ।"

सम्मान के साथ रूखी रोटी भी असम्मान के मेवा से अच्छी है । अतः मन के सुख का भी विचार करना पड़ेगा इसे भूलकर नहीं चलेगा ।

इसी प्रकार बुद्धि का भी सुख है । बुद्धि के भी सुख का बिचार करना पड़ता

है, मानव के पास शरीर और मन के साथ बुद्धि भी हुआ करती है । वह चिन्तन करता है । चिन्तन का सुख होता है, अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य की बुद्धि अधिक विकसित रहती है वह क्षणिक व शाश्वत सुख के भेद को समझना चाहता है । सृष्टि के नियमों को देखकर (उत्पत्ति-स्थिति-विलय) मानव के हृदय में कौतुहल उत्पन्न होता है, इसको वह आश्चर्य चकित दृष्टि से देखता है और इसका रहस्य जानने की उत्सुकता उत्पन्न होती है । अशान्ति उत्पन्न होती है । अनुसन्धान प्रारम्भ हो जाता है । यदि उसकी बुद्धि वहां तक पंहुच गयी तो वह सुखी अन्यथा दु:खी महसूस करता है । संसार के इस गति के बारे में जिसको उत्सुकता नहीं होती उसको तुलसी दास जी ने मूढ़ या बुद्धिहीन कहा है -

"सबसे बड़े वे मूढ़, जिन्ह-हिन व्यापइ जगत् गाते ।"

तत्वज्ञो और वैज्ञानिकों को जब उनके गहन प्रश्नों के उत्तर मिल जाते हैं तब वह अत्यन्त सन्तुष्ट और उनका मुख कमल खिला हुआ दिखाई देता है । यह सुख वृद्धि का सुख कहा जाएगा । स्नानगृह में स्नान करते हुए जब "आर्कमिडीज" को 'सापेक्ष घनत्व' का रहस्य मालूम हुआ तो वह 'यूरेका' 'यूरेका' चिल्लाता हुआ उसी स्थिति में स्नानगृह से बाहर आकर दौड़ने लगा । यही वृद्धि सुख है ।

पण्ड़ित दीनदयाल जी के अनुसार केवल बुद्धि के सुख तक ही भारतीय चिन्तन नहीं पंहुचता । इसके आगे का भी विचार किया गया है । 'आत्मसुख' का । मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि के साथ आत्मा भी है । इसीलिए मनुष्य के सुख का विचार करते समय आत्मा के सुख का विचार भी आवश्यक हो जाता है ।

अब यहां यह प्रश्न उठेगा कि आत्मा तो दिखाई नहीं देती वह है भी या नहीं शरीर, मन और बुद्धि का अस्तित्व तो हम मानकर चलते ही हैं जबकि मन और बुद्धि भी दिखाई नहीं देते । अत: यदि हम मन और बुद्धि के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं तो फिर हमें आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए । जब हमने यह मान लिया कि आत्मा का अस्तित्व होता है तो प्रश्न यह खड़ा होगा कि वह वास्तव में क्या वस्तु है ? कैसी है ? कहां रहती है ? गीता के रचनाकार ने स्वयं इसका उत्तर देते हुए कहा है -

"इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेम्यः परं मनः

मनस्तु पराबुद्धिः यो बुद्धेः परतस्तु सः ।"[1]

इन्द्रियों को स्थूल शरीर से श्रेष्ठ बलवान तथा सूक्ष्म कहते हैं इन इन्द्रियों से परे मन है । मन से भी परे बुद्धि है और जो बुद्धि से अत्यन्त परे है वह आत्मा है ।

और स्वयं भगवान कृष्ण ने आगे कहा -

अहमाऽत्मा गुडाकेश सर्वभूताशय स्थितः ।[2]

हे अर्जुन समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मा हूँ ।

अतः हमें उपरोक्त प्रश्न का उत्तर 'गीता' के द्वारा प्राप्त हो जाता है । आत्मा ही ब्रह्म एवं ब्रह्म ही आत्मा है "अयमाऽत्मा बृहठ" या "अहं ब्रहठोऽस्मि" कहकर आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है ।

पण्ड़ित दीनदयाल जी ने कहा है "बुद्धि का सुख भी अन्तिम और चिरानन्द सुख नहीं है । बुद्धि के सुख से भी श्रेष्ठ होता है आत्मा का सुख माँ अपने बच्चे को गोद में लेकर इसी आत्मिक सुख का अनुभव करती है । यह सुख आत्मा की विशालता का सुख होता है । एक बार इस सुख को पहचान लिया तो मनुष्य उसकी खोज में अधिकाधिक विशालता को स्वीकार करता जाता है ।" आध्यात्मिक सुख को परमानन्द सुख कहते हैं ।" जब व्यक्ति का व्यक्तित्व इतना विशाल बन जाए कि उसमें पराएपन का भाव ही न रहे वह ईर्ष्या द्वेष, मोह, मत्सर संघर्ष, प्रतिस्पर्धा से ऊपर उठ जाए उस समय मिलने वाला आनन्द परमानन्द होता है, स्नेह समर्पण सेवा, शान्ति से ही आध्यात्मिक सुख प्राप्त होता है । इस अनन्त आनन्द के बारे में 'गीता' बताती है -

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुन्तमम्

उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतम् कल्मषम्[3]

---

1. श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय - 4 पृष्ठ - 70 श्लोक - 42
2. श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय - 10 पृष्ठ - 147 श्लोक - 20
3. श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय - 6 पृष्ठ - 103 श्लोक - 27

जिसका मन शान्त हो गया है ऐसा आध्यात्मिक पुरुष ब्रह्म के साथ एकीभाव होकर उत्तम आनन्द को प्राप्त करता है ।

सर्व भूतस्थमानं सर्व भूतानि चात्मनि

ईक्षते योगमुक्तात्मासर्वत्र समदर्शन :" [1]

आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में एवं सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में कल्पित देखने वाला, अर्थात् स्वार्थ निरपेक्ष निर्मल व्यवहार वाला व्यक्ति इस परमानन्द को प्राप्त होता है । यही आनन्द यही सुख आत्मा का सच्चा सुख है ।

---

1. श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय - 6 पृष्ठ - 104 श्लोक - 29

(च) **चारो पुरुषार्थों का संकलित विचार -**

पाश्चात्य जगत के बिचारकों ने शरीर को साध्य समझकर उसकी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का ही विचार किया है । इसीलिए अत्यन्त भौतिक समृद्धि के बावजूद भी सुखी नहीं रह सके । कारण यह है कि वे मनुष्य का पूर्ण विचार नहीं कर पाए। हमारे यहां इसका विशेष ध्यान रखा गया है । हमने शरीर को साधन मात्र समझा है । इस नाते से हमने शरीर का विचार किया है । पण्डित जी ने लिखा है , "जितनी भौतिक आवश्यकताएं है उनकी पूर्ति का महत्व हमने स्वीकार किया है परन्तु उन्हें सर्वस्व नहीं माना है । मनुष्य के शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की आवश्यकताओं की पूर्ति उसकी विविध कामनाओं, इच्छाओं तथा एषणाओं की सन्तुष्टि और उसके सर्वांगीण विकास की दृष्टि से व्यक्ति के सामने कर्तव्य रूप में हमारे यहां चतुर्विध पुरुषार्थ की कल्पना की गयी है । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पुरुषार्थ है । पुरुषार्थ का अर्थ उन कामों से है जिनसे पुरुषत्व सार्थक हो । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इनकी इच्छा मनुष्य में स्वाभाविक होती है और उसके पालन से उसको आनन्द प्राप्त होता है ।"

...... भारत ने इसीलिए मनुष्य का विभाजित विचार न करके पूर्णता के साथ बिचार किया मनुष्य की बिभिन्न प्रवृत्तियों को चार मोटे-मोटे भागों में वर्गीकरण करके उन सबकी संतृप्ति ही मानव का पुरुषार्थ बताया । ये चारो पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एक दूसरे के पूरक हैं । जो कर्म इन सबको प्राप्त करने वाला हो वही श्रेष्ठ है । इनमें से किसी की भी अवहेलना करके चलने वाला व्यक्ति दुःख और अशान्ति का भागी बनता है । इन चारों में से किसी एक को श्रेष्ठ या शेष का आधार समझना भी ठीक नहीं होगा । वैसे हमारे यहां मोक्ष को परम् पुरुषार्थ माना गया है क्योंकि उसको प्राप्त करने के बाद कुछ भी प्राप्त करने योग्य नहीं बचता किन्तु बिना धर्म अर्थ और काम के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है । बहुत बार इस बात का प्रचार किया गया है कि भारतीय संस्कृति तो केवल आत्मा का ही विचार करती है शेष के बारे में वह बिचार नहीं करती भगवान् रजनीश ने भी यही मानकर काफी कटाक्ष किया है, "भारत की समस्यायें पृथ्वी की

हैं और भारत की आँखें सदा से आकाश पर लगी रही हैं भारत की जो प्रतिभा है, बुद्धिमत्ता है वह मोक्ष की तरफ झुकी हुई है । समस्यायें शरीर की हैं और भारत की जो प्रतिभा है वह आत्मा के नीचे बात नहीं करती । समस्यायें जीवन की है और भारत की प्रतिभा कहती है कि जीवन माया है । समस्यायें यहां की हैं और भारत की प्रतिभा वहां दूर आकाश की तरफ देखती रहती है ।"[1] किन्तु दीनदयाल जी ने बताया कि यद्यपि हमने मोक्ष को परम् पुरुषार्थ माना है लेकिन अकेले इसके लिए प्रयत्न करने से मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता । वास्तव में अन्य पुरुषार्थों की अवहेलना करने वाला कभी मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता । आकाश की ओर देखने वाले का पैर पृथ्वी के गड्ढ़े में पड़ सकता है । इसके विपरीत् शेष पुरुषार्थों को लोक संग्रह के बिचार से निष्काम भाव से करने वाला व्यक्ति कर्म बन्धन से छूटकर मोक्ष का अधिकारी हो सकता है ।

पण्डित जी ने चारों पुरुषार्थों का सम्यक बिचार किया है उन्होंने कहा कि "हम आत्मा की चिन्ता करते हुए शरीर को नहीं भूलते । उपनिषद में तो स्पष्ट कहा गया है कि "नाऽयमात्मा बलहीनेन लम्यः" दुर्बल व्यक्ति आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता । इसी प्रकार 'शरीर माद्यं खलु धर्म साधनम्' भी कहा गया अर्थात् शरीर धर्म का प्रथम साधन है । और धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है । वेद ब्यास के अनुसार "धर्मादर्थश्च कामश्च" किन्तु हमने यह भी स्वीकार किया है कि अर्थ के बिना धर्म नहीं टिकता । वास्तव में ये चारों पुरुषार्थ अन्योन्य आश्रित हैं । एक से दूसरे की रक्षा और संवर्द्धन होता है । जिस प्रकार प्राण अन्न से बलवान होते हैं तथा सबल प्राण अन्न को पचा सकते हैं वैसे ही धर्म से अर्थ और काम की तथा अर्थ और काम से धर्म की धारणा होती है ।"

........"अर्थ के अन्तर्गत राजनीति और अर्थनीति का समावेश होता है । दण्डनीति और वार्ता भी इसी के अन्तर्गत आती है । काम का सम्बन्ध मनुष्य भी विभिन्न कामनाओं की पूर्ति से है । धर्म में उन सभी नियमों व्यवस्थाओं आचरण संहिताओं तथा मूलभूत सिद्धान्तों का अन्तर्गतभाव होता है जिनसे अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि हो ।"

---

1. नए भारत की खोज — भगवान रजनीश, पृष्ठ - 8

पण्ड़ित जी ने धर्म को राज्य का आधार माना है और कहा है कि यदि समाज में धर्म न हो तो केवल कानून या भय के द्वारा समाज नहीं टिक सकता । मनुष्य चोरी छिपे गलत कार्य करने लगता है । मनमानी एवं स्वेच्छारिता के कारण अव्यवस्था का निर्माण होता है । धर्म के सहारे ही 'काम' पुरुषार्थ भी ठीक से टिक पाता है। अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए कब, कहां, कितना किन साधनों का उपयोग किया जाना चाहिए यह धर्म के द्वारा ही निश्चित हो पाता है । अन्यथा यदि स्वस्थ ब्यक्ति ने रोगी का एवं रोगी ने स्वस्थ ब्यक्ति का भोजन किया तो दोनों का ही अकल्याण होगा । मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने के नाते सामाजिक गुणों का विकास करता है और धर्म उसके इस कार्य में सहायक सिद्ध होता है । धर्म आधारभूत पुरुषार्थ तो है लेकिन पण्ड़ित दीनदयाल जी ने कहा कि केवल 'धर्म' पुरुषार्थ को ही लेकर चलने से समाज जीवन नहीं चल सकता अन्य 'पुरुषार्थों' को साथ लेकर चलना ही पड़ेगा । 'धर्म' अर्थ के अभाव में नहीं टिक पाएगा क्योंकि कहा गया है कि "धनात् धर्मः ततो सुखम्" धन से ही धर्म की वृद्धि सम्भव है । अर्थाभाव से धर्म नष्ट होने का खतरा उत्पन्न हो जाता है । "भूखे भजन न होहि गोपाला" वाली उक्ति चरितार्थ होती है । ....तुलसी दास जी ने भी अर्थाभाव से धर्म नष्ट होने की बात कही है ....

"आरत काह न करई कुकरमू ।
मांगई भीख छाड़ि निज धरमू ।।"

इसी प्रकार एक सुभाषित है -

"वुभुक्षितः किं न करोति पापम्
क्षीणाः नराः निष्करूणाः भवन्ति ।"

अतः अर्थ के अभाव में धर्म नष्ट हो जाता है और धर्म नष्ट होने से समाज नष्ट हो जाता है । इसलिए पण्ड़ित दीनदयाल ने अर्थ के अभाव को दूर करना धर्म संरक्षण के लिए अत्यन्त आवश्यक माना है । लेकिन अर्थ के प्रभाव से उत्पन्न होने वाली बुराइयों की ओर भी ध्यान आकर्षित कराते हुए बताया है -

अर्थ का अभाव ही नहीं अर्थ का अत्यधिक प्रभाव (आधिक्य) भी धर्म का नाश करता है यह भारत का अपना दृष्टिकोण है । पश्चिम के लोगों ने अर्थ के प्रभाव का विचार नही किया । भोग - विलास युक्त जीवन व्यतीत करने की लालसा से अधिक धन कमाने में होड़

लगा दी और जो व्यक्ति धन के घोड़े पर सवार हो जाता है वह देश, धर्म, समाज सभी की चिन्ता करना भूल जाता है । अर्थ की अधिकता से जीवन भोग विलासी होता है और शारीरिक क्षीणता उत्पन्न होती है तथा क्षीणकाय मनुष्य पौरुषहीन होकर अर्थाभाव को प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है । इस प्रकार धीरे-धीरे सारा समाज विनाश की ओर पंहुच जाता है ।

इसी प्रकार काम पुरुषार्थ का भी विचार किया गया है । 'धर्म' और 'अर्थ' के बाद आने पर काम, पुरुषार्थ है अन्यथा वह विकार ही कहा जाएगा । "काम, क्रोध, मद, लोभ सब नाथ नरक के पंथ" तुलसी दास जी ने कहा है । अतः धर्मानुसार कमाए गए अर्थ से धर्मानुरूप साधनों के उपयोग से कामनाओं को संतुष्ट करना पुरुषार्थ है । धर्म हीन अर्थ काम को उच्छृंखल बनाता है । यदि मनुष्य अधर्म पूर्वक रिश्वत लेकर अवैध धन्धे करके चोरी या लूट के द्वारा धन अर्जित करेगा तो निश्चित ही ऐसा धन, शराब, जुआं, नशाखोरी एवं कुकृत्यों में लगाएगा । काम की वासना के वशीभूत होकर धन एवं स्वास्थ से क्षीण होकर उपहास एवं निन्दा का पात्र बनता हुआ विनाश को प्राप्त हो जाएगा ।

कामनाओं के यदि धर्मानुसार संयमित रखा गया तो साहित्य एवं ललित कलाओं की उत्पत्ति होती है जो मन को भटकने की अपेक्षा सत्कर्म में लगाती हैं । व्यक्ति का स्वस्थ मनोरंजन होता है व्यक्ति व समाज का सम्यक विकास होता है । संयम एवं साधना में मन आनंदित होने लगता है । तथा मानव का 'कामपुरुषार्थ' सार्थक हो जाता है और कामान्ध होकर केवल विषय वासनाओं की पूर्ति में लग जाने से धर्म की भी हानि होगी अर्थ तो नष्ट होगा ही । अतः धर्म युक्त काम का ही निर्वाह किया जाना चाहिए ।

मोक्ष का अर्थ होता है मुक्त होना । सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्ति । मोक्ष का अभिप्राय है कि मनुष्य, अर्थ कामादि के चक्करों से मुक्त हो जाए मन में कोई आशक्ति न रह जाए 'कामादि दोष रहितं कुरू मानसं च" यह प्रार्थना करता है । हमारे यहां मोक्ष को परमपुरुषार्थ माना गया है । गीता में स्वयं भगवान कृष्ण ने अर्जुन से कहा है ।

"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज
अहं त्वां सर्व पापेम्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।"[1]

सभी कर्तव्यों कर्मों को मेरे ऊपर छोड़कर केवल मुझ सर्वशक्तिमान की शरण

---

1. श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय 18 श्लोक - 66 पृष्ठ संख्या - 263

में आ मैं तुझे मोक्ष प्रदान करुंगा । तू चिन्ता मत कर ।

इसी प्रकार विदुर जी ने कहा है कि "अर्थ, धर्म और काम सभी बन्धन कारक है मोक्ष ही सबसे बड़ी वस्तु है । मोक्ष प्राप्ति के बाद कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता है । कोई कामना नहीं रह जाती है । इसलिए निष्काम भाव से मोक्ष प्राप्त कर लेना यही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है ।"[1] लेकिन युधिष्ठिर इस विचार से सहमत नहीं थे । उन्होंने कहा कि कोई भी एक पुरुषार्थ बड़ा नहीं है - चारों को जो एक साथ लेकर चलेगा वही पुण्य है । एक को पाने का जो प्रयास करेगा वह अधूरा है और एक को प्राप्त करने का प्रयास करने वाला पापी भी है । एक का विचार करना मानव जीवन के टुकड़े करना है किन्तु यह सत्य है कि मानव जीवन के टुकड़े नहीं किए जा सकते ।

पण्ड़ित दीनदयाल जी ने भी यही कहा कि मानव जीवन का खण्ड़ - खण्ड़ विचार करना गलत है और जिसने भी ऐसा किया तो गलत किया । पश्चिम का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उन्होंने बताया कि "वहां पर मनुष्य के केवल एक अंग के बारे में विचार किया जाता है । राजनीति में मनुष्य को राजनैतिक प्राणी अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आर्थिक प्राणी आदि की कल्पनाऐं एकांगी हैं । क्योंकि आर्थिक प्राणी कमाने में ही लगा रहेगा चाहे जैसे भी कमाए धर्म अधर्म का भेद वह नहीं कर पाएगा। राजनीतिक प्राणी चाहे जैसे भी राजनैतिक हितों को साधने का प्रयास करेगा और समाज में विघटन उत्पन्न हो जाएगा । अतः भारतीय हिन्दूदर्शन के अनुसार चारों पुरुषार्थों का समग्र विचार किया जाना चाहिए । यह एक ऐसा जीवन दर्शन है जो मानव जीवन को एक इकाई मानकर विचार करता है ।

"धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों में धर्म आधारभूत पुरुषार्थ है तो मोक्ष परम पुरुषार्थ है । शरीर मन बुद्धि और आत्मा के लिए जिन चतुर्विध पुरुषार्थों की योजना हमारे यहां है उन्हीं में मोक्ष एक पुरुषार्थ है ।"[2] अतः चारों पुरुषार्थों को समान मानकर हमें चारों की उपासना करनी चाहिए ।

---

1. राष्ट्रजीवन की दिशा, सारांश पृष्ठ संख्या - 193
2. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन खण्ड - 2 "एकात्म मानवदर्शन" पृष्ठ - 51 विनायक वासुदेवनेन

(छ) धर्म की प्रभुसत्ता पर विश्वास

पण्ड़ित दीनदयाल जी को धर्म पर अटूट विश्वास था उन्हीं के शब्दों में -

"यदि हमारा प्राण कहीं है तो वह धर्म में है धर्म गया कि प्राण गया ।"[1] लेकिन धर्म का जो उनका अर्थ था वह अत्यन्त उदार, अत्यन्त व्यापक, सर्वग्राही था, जबकि आजकल धर्म का बहुत ही 'संकुचित' अर्थ लगाया जाने लगा है । वह धर्म के प्रति संकुचित दृष्टिकोण के विरोधी थे । उनका कहना था -

"धर्म का सम्बन्ध केवल मन्दिर मस्जिद से नहीं है । उपासना पद्धति धर्म का एक अंग हो सकती है किन्तु धर्म तो व्यापक है । मन्दिर मस्जिद लोगों में धर्माचरण की शिक्षा का प्रभावी माध्यम भी रहे हैं । किन्तु जिस प्रकार विद्यालय विद्या नहीं हैं वैसे ही मन्दिर धर्म से भिन्न हैं । हो सकता है प्रतिदिन कोई व्यक्ति पाठशाला जाये फिर भी अनपढ़ रह जाये । उसी प्रकार प्रतिदिन मन्दिर या मस्जिद में जाने वाला व्यक्ति भी धर्म विहीन हो सकता है । मन्दिर मस्जिद में जाना मत मजहब, रिलीजन है ।"[2] पण्ड़ित दीनदयाल जी मत, मजहब, रिलीजन, सम्प्रदाय आदि को सागर में बूंदों की तरह धर्म में समाहित मानते थे । धर्म के प्रति उनका दृष्टिकोण विशुद्ध भारतीय और उदार था । क्योंकि हमारे प्राचीन भारतीय ऋषियों मुनियों ने धर्म के अत्यन्त व्यापक स्वरूप का प्रतिपादन किया है ।

महर्षि कणाद् उसे धर्म मानते हैं जिससे अभ्युदय (भौतिक उन्नति) तथा निश्रेयस् (आध्यात्मिक उन्नति) दोनों की सिद्धि हो "यतोऽअभ्युदय निश्रेयस् सिद्धिर्सधर्मः" महर्षि जेमिन ने विहित कर्मों के पालन तथा निषिद्ध कर्मों के त्याग को धर्म बताया । मनुस्मृति के रचयिता महाराज मनु ने धर्म को अत्यन्त व्यापक रूप से परिभाषित करते हुए कहा है कि "अपने देश के रागद्वेषहीन सदाचारी विद्वान् जिसका अनुष्ठान करते हैं और अपना हृदय भी जिसे स्वीकार करता हो उसे धर्म कहते हैं । विद्वद्भिः सेवितः सदभिः नित्यम् अद्वेषरागिमः

हृदयेनम्यनुसानो धर्मस्तन्निबोधते ।[3]

---

1. एकात्ममानवदर्शन, व्यष्टि समष्टि में समरसता पृष्ठ - 43
   मा.स. गोलवरकर, दीनदयाल उपाध्याय दत्तोपन्त ठेगड़ी
2. तथैव
3. मनुस्मृति 2/1

उन्होंने धर्म के दस लक्षण बताते हुए धर्म की व्यापकता को निरूपित किया है ।

"धृतिस्क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रय निग्रह:
धी: विद्या सत्मक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम ।" [1]

(1) धैर्य (2) क्षमा (3) मनोयोग (4) चोरी न करना (5)
(5) पवित्रता (6) इन्द्रियों पर नियन्त्रण (7) बुद्धिमत्तापूर्वक कार्य करना
(8) विद्या (9) सच बोलना (10) क्रोध न करना ।

अत: धर्म इतना व्यापक है कि उसके समग्र रूप को एक साथ देख पाना सम्भव नहीं है ।

"व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'धर्म' शब्द संस्कृत की 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ होता है धारण करना । इसलिए कहते हैं 'धारणान्धर्ममित्याहु:' । जिसे धारण किया जाए वह धर्म है व्यक्ति और समाज धर्म के आधार पर टिके हुए हैं । धर्म का आविर्भाव मानव जाति में प्रेम शान्ति सद्भावना और अर्थव्यवस्था बनाए रखने के लिए ही हुआ है ।" [2]

विश्व धर्म संसद के प्रथम दिन, अपने संक्षिप्त भाषण में स्वामी विवेकानन्द ने धर्म की जो परिभाषा दी शायद पण्ड़ित जी भी उनकी उस परिभाषा से अक्षरस: सहमत थे । भारतीय संस्कृति के पुरोधा होने के नाते ही स्वामी जी उपाध्याय जी के लिए आदर्श पूर्वजों में से एक थे ।

.... "जिस स्नेह और सौहार्द के साथ आपने हम लोगों का स्वागत किया है उसके फलस्वरूप मेरा हृदय अकथनीय हर्ष से प्रफुल्लित हो रहा है । मुझे ऐसे धर्मावलम्बी होने का गौरव है जिसने संसार को सहिष्णुता तथा सभी धर्मों को मान्यता प्रदान करने की शिक्षा दी है । हम सब धर्मों के प्रति केवल सहिष्णुता पर विश्वास नहीं करते वरन् समस्त धर्मों को सच्चा मानकर ग्रहण करते हैं । मुझे आपसे यह निवेदन करते हुए हर्ष होता है कि मैं ऐसे धर्म का अनुयायी हूँ जिसका विश्व की अन्य भाषाओं में कोई पर्यायवाची नहीं है । मुझे ऐसे देश के व्यक्ति होने का अभिमान है जिसने इस पृथ्वी की समस्त पीड़ित और शरणागत

---

1. मनुस्मृति 6/92
2. भारतीय शिक्षा की वर्तमान समस्याएं

जातियों तथा विभिन्न धर्मों के वहिष्कृत मतावलम्बियों को आश्रय दिया है ।"[1]

"........ यदि कभी कोई सार्वभौमिक धर्म हो सकता है तो वह ऐसा ही होगा जो देश या काल में मर्यादित न हो; जो उस अनन्त भगवान के समान ही अनन्त हो, जिस भगवान के सम्बन्ध में वह उपदेश देता है, जिसकी ज्योति श्री कृष्ण के भक्तों पर और ईसा के प्रेमियों पर सन्तों पर और पापियों पर समान रूप से प्रकाशित होती हो, जो न तो ब्राह्मणों का हो न बौद्धों का, न ईसाइयों का, न मुसलमानों का वरन् इन सभी धर्मों का समष्टि स्वरूप होते हुए भी जिसमें उन्नति का अनन्त पथ खुला रहे जो इतना व्यापक हो कि अपनी अनन्त प्रसारित बाहुओं द्वारा सृष्टि के प्रत्येक मनुष्य का आलिंगन करे और उसे अपने हृदय में स्थान दे ।"[2]

प्राचीन काल में हमारे देश में धर्माधिष्ठित जीवन रचना थी यह प्रमाण भी हमारे प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध है — — —

---

1. शिकागो धर्म संसद में विवेकानन्द — 11 सितम्बर 1893
2. शिकागो धर्म संसद में विवेकानन्द नवम् दिवस — 19 सितम्बर 1893
3. महाभारत, वनपर्व

"न राजा न च राजासीत्

न दण्डयो न च दण्ड़िक:

धर्मणैव प्रजा सर्वा:

रक्षन्ति स्म परस्परम् ।"।

तथा 'धर्मो रक्षति रक्षित:'[1] जैसे वेद वाक्यों में उपरोक्त अवधारणा निहित है ।

पण्ड़ित दीनदयाल जी ने धर्म की परिभाषा करते हुए कहा - 'धर्म धारणा से किसी भी वस्तु, व्यक्ति या प्रकृति की धारणा जिन तत्वों से होती है वह उसका 'धर्म' है जैसे अग्नि का धर्म उष्णता है ।"[2]

धारणा के नियम देशकाल परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं जैसे शरीर की सुरक्षा धर्म है, सर्दियों में गर्मी धारणा का नियम है तो गर्मियों में ठण्डी वस्तुएं धारित की जाती है ।"

धर्म की अवधारणा भारतीय जीवन की विशेषता है । इसी कारण भारत दीर्घ जीवी हुआ है । धार्मिक व्यवस्थाओं के कारण समाज में सदैव व्यवस्थित जीवन चलता रहता है । अत: भारत को धर्म निरपेक्ष घोषित करने के वे बहुत खिलाफ हैं ।

उपाध्याय जी अवधारणत: सेक्युलर स्टेट के समर्थक है । लेकिन वह 'सेक्युलर समाज' तथा 'सेकुलर' का अनुवाद 'धर्म निरपेक्षता' करने के बिरोधी है । वह कहते हैं कि राज्य धर्म तो लौकिक ही होता है लेकिन समाज की धारणा केवल 'लौकिक' अथवा 'भौतिक वाद' से नहीं हो सकती । समाज को भौतिक व अध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति चाहिए । अत: समाज केवल 'भौतिकवादी' अथवा सेक्युलर नहीं हो सकता । 'सेक्युलर' स्टेट अर्थात् 'लौकिक राज्य' को समाज की आध्यात्मिक उन्नति में सहयोगी होना चाहिए तभी व्यापक अर्थों में समाज के धर्म का पालन हो सकेगा ।

सामान्यत: सेक्युलर के लिए भौतिक, धर्महीन, धर्मरहित, धर्मनिरपेक्ष अधार्मिक,

---

1. महाभारत वनपर्व 2/3/10 क्र. । पृष्ठ - 21
2. राजस्थान बौद्धिक वर्ग 7/6/1965 क्र 30 दीनदयाल उपाध्याय कृतत्व एवं विचार - दार्शनिक अवधारणाएं धर्म पृष्ठ - 377

निधर्मी, असाम्प्रदायिक शब्दों का प्रयोग होता है । ये सभी शब्द समानार्थी नही हैं । पश्चिम में सेक्युलर स्टेट की अवधारणा 'चर्च' राज्य के विरूद्ध उत्पन्न हुई, लेकिन भारत वर्ष में वास्तविक रूप से राज्य की कल्पना के अन्तर्गत लौकिक राज्य की ही कल्पना है । हमारे यहां धर्म गुरू को कभी राजा का स्थान नहीं दिया गया । "..... आज हमारे यहां के नेतागण यद्यपि पश्चिमी आदर्श को अपनाकर भावी भारत की रचना करना चाहते हैं । उनके अनुसार पश्चिम के अर्थ में 'सेक्युलर स्टेट' का अर्थ 'लौकिक राज्य' ही लगाया जा सकता है, किन्तु भारतीय जनता धर्म राज्य या राम राज्य की भूखी है और वह केवल लौकिक उन्नति में सन्तोष नहीं कर सकती फलतः हमारे राज्य के लिए लौकिक राज्य 'सेक्युलर स्टेट' का ठीक पर्याय होने पर भी मंजूर नहीं होगा ।"[1]

पण्ड़ित जी ने कहा है कि हमारे यहां बिना धर्म के तो किसी के भाव की उसके अस्तित्व की कल्पना कठिन है । अतः हम समझते हैं कि हमारा राज्य, धर्म को तिलांञ्जलि नहीं दे सकता, इसलिए अधार्मिक धर्म निरपेक्ष, धर्म रहित, धर्महीन, धर्मविरत शब्द न तो हमारे राज्य को ही प्रकट करते हैं और न 'सेक्युलर स्टेट' का ठीक पर्याय ही हो सकते हैं ।"[2]

अंग्रेजी के रिलीजन शब्द का पर्यायवाची शब्द हमारे यहां मत है तथा एक मत को सम्प्रदाय कहा जाता है । जैसे शैव सम्प्रदाय, वैष्णव सम्प्रदाय ख्रिस्ती सम्प्रदाय आदि । निश्चित ही पहले भी और आज भी राज्य किसी एक सम्प्रदाय का नहीं हो सकता । राज्य की दृष्टि तो सभी के लिए एक समान होनी चाहिए । यही राज्य का सही आदर्श है । ऐसा राज्य किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रति पक्षपात या किसी के प्रति घृणा का व्यवहार न करते हुए भी, जीवन की लौकिक और आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करते हुए धर्म राज्य हो सकता है ।

असम्प्रदायिक शब्द के द्वारा हमारे नेताओं का अर्थ भी अधिक स्पष्ट होता है । क्योकि आज 'सेक्युलर' शब्द का प्रयोग केवल पाकिस्तान से, जिसने अपने आपको "इस्लामी राज्य" घोषित किया है भिन्नता दिखाना ही है । भारत इस्लामी राज्य के समान किसी एक सम्प्रदाय का राज्य नहीं है यही हमारे नेता प्रकट करना चाहते हैं और इसके लिए उन्होंने 'सेक्युलर' शब्द

---

1. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय कर्तव्य एवं विचार दार्शनिक अवधारणाऐं धर्म पृष्ठ-377
डा. महेश चन्द्र शर्मा

2. सेक्युलर अर्थ-अनर्थ राष्ट्रीय जीवन की दिशा
रमाशंकर अग्निहोत्री भानु प्रताप शुक्ल पृष्ठ - 67-68

चुना है । उपयुक्त सभी कारणों से असाम्प्रदायिक शब्द ही सेक्युलर का निकटतम् भाषान्तर है, उसी का प्रयोग किया जाना चाहिए ।"[1]

'असम्प्रदायिक राज्य'

सेक्युलर स्टेट का उचित भाषान्तर होते हुए भी राज्य के आदर्श की योग्य अभिव्यक्ति नहीं करता है । अतः उपाध्याय 'असाम्प्रदायिक धर्मराज्य' के समर्थक हैं । अवधारणतः उपाध्याय जी का धर्मराज्य लोकतान्त्रिक संविधान वादी शासन ही है । लेकिन 'थ्रियोकेटिक स्टेट' के अनुवाद के रूप में 'धर्मराज्य' भाषान्तर को वे अस्वीकार करते हैं ।'[2]

पण्ड़ित जी कहते हैं कि 'धर्मराज्य' का अर्थ 'श्योक्रेटिक स्टेट' नहीं है इसे अच्छी प्रकार से समझ लें । 'थ्योक्रेटिक स्टेट' का अर्थ है जहां पर किसी पंथगुरू का राज्य हो । एक पंथ के लोगों को सब अधिकार हों और अन्य पंथावलम्बी या तो रह ही न सकें अथवा दास या दूसरी श्रेणी के नागरिक बनकर रहें । ...... पाकिस्तान नयी थ्योक्रटिक स्टेट बनी है । वे अपने को इस्लामी राज्य कहते हैं वहां मुसलमानों को छोड़कर अन्य जितने लोग हैं वे दूसरे श्रेणी के नागरिक हैं ।"[3] पण्ड़ित जी के अनुसार 'धर्मराज्य' में यह नहीं होता प्रत्युत् प्रत्येक को अपने सम्प्रदाय की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है । थ्योक्रेटिक स्टेट में एक पंथ को स्वतन्त्रता और दूसरों को प्रत्यक्ष बन्धन रहते हैं । .... धर्मराज्य में मजहब की स्वतन्त्रता है पर थ्योक्रेटिक स्टेट में नहीं ।"

धर्मराज्य में राज्य मनमाना काम नहीं करेगा । उसे धर्म के अनुसार चलना पड़ेगा । हमारा सर्वप्रभुत्व धर्म में है । संसद सर्वोच्च न्यायालय, विधायिका और न्याय पालिका सभी राज्य के अंग हैं । इनमें से कोई बड़ा या कोई छोटा नहीं है । इन सबके ऊपर बैठा हुआ धर्म सबसे बड़ा है जो सबको अपनी मर्यादा के अन्तर्गत कार्य करने के लिए प्रेरित करता है । प्रजातन्त्र में बहुमत सर्वशक्ति सम्पन्न होता है लेकिन बहुमत भी धर्म विरूद्ध आचरण नहीं कर सकता ।

---

1. सेक्युलर अर्थ-अनर्थ राष्ट्र जीवन की दिशा पृष्ठ - 68
2. दीनदयाल उपाध्याय - कर्तव्य एंव विचार दार्शनिक अवधारणाएं धर्म पृष्ठ - 378
3. व्यष्टि और समष्टि में समरसता । पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

पण्ड़ित दीनदयाल जी का मानना है कि बहुमत द्वारा लिया गया निर्णय भी धर्म विरूद्ध हो सकता है जैसे स्वतन्त्रता प्रत्येक राष्ट्र का धर्म है, जनहित प्रत्येक राष्ट्र का धर्म है । इसके विपरीत यदि वहां का बहुमत ऐसी सरकार चुनकर गद्दी पर बैठा दे जो राष्ट्र की स्वतन्त्रता और जनहित की अपेक्षा करती हो तो निश्चित ही बहुमत द्वारा लिया गया यह निर्णय धर्म विरूद्ध होगा । पण्ड़ित जी ने अपने इन विचारों की पुष्टि करते हुए कहा कि द्वितीय विश्व युद्ध में जब हिटलर ने फ्रांस के ऊपर आक्रमण किया तो फ्रांस के प्रधानमन्त्री मार्शल पेतॉ ने आत्म समर्पण का निर्णय लिया और फ्रांस की जनता ने उसका समर्थन किया किन्तु दि गॉल (फ्रांस का जनरल) भागकर लन्दन गया । लन्दन से उसने ललकारा कि मैं इस सर्मपण को स्वीकार नहीं करता हूँ । फ्रांस स्वतन्त्र है और स्वतन्त्र रहेगा । वहां बैठकर फ्रांस की सरकार बनाई और पुनः फ्रांस को स्वतन्त्र किया । अब यदि बहुमत का निर्णय ही धर्म मानकर चले तो दि गॉल को कभी भी ठीक नहीं कहा जा सकता । उसे न लड़ने का अधिकार होता न स्वतन्त्रता का नाम लेने का । दि गॉल को यदि अधिकार आया तो इसलिए कि राष्ट्र बहुमत और जनता सबसे बड़ा है । राष्ट्र का धर्म इन सबसे ऊपर है । उसने जिस तत्व से अधिकार प्राप्त किया वह थी फ्रांस की स्वतन्त्रता । स्वतन्त्रता प्रत्येक राष्ट्र का धर्म है । उसकी रक्षा करना तथा खोने पर उसे प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तब्य है । हमारे यहां भी अंग्रेजों से लड़ने के लिए बहुमत नहीं खड़ा हुआ कुछ क्रान्तिकारी खड़े हुए ।"[1] कश्मीर और गोवा के बारे में जनमत संग्रह की मॉग भी गलत है । राष्ट्रीय एकता का निर्णय मत संग्रह से नहीं होना चाहिए । सत्ता पर बैठाना या उतारना बहुमत से तय हो सकता है लेकिन सत्ता का कार्य क्या होगा ? यह धर्म से तय होना चाहिए ।

पण्ड़ित जी बड़ी दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि "प्रजातन्त्र की व्याख्या में जनता का शासन ही पर्याप्त नहीं यह शासन जनता के हित में भी होना चाहिए । जनता के हित का निर्णय तो धर्म ही कर सकता है । अतः जनराज्य को धर्मराज्य भी होना आवश्यक है । सच्चा प्रजातन्त्र वही हो सकता है जहां स्वतन्त्रता और धर्म दोनों हों ।"[2]

---

1. व्यष्टि समष्टि में समरसता, एकात्ममानववाद — पण्ड़ित दीनदयाल जी उपाध्याय
2. तथैव

(ज) **समन्वयवादी दृष्टिकोण -**

"पण्ड़ित दीनदयाल जी उपाध्याय सच्चे राष्ट्र भक्त थे । उनकी राष्ट्रीयता की धारणा मात्र काल्पनिक न थी, अपितु वह बडी ब्यवहारिक थी । इसके साथ उनकी राष्ट्रभक्ति उनके अन्तर्राष्ट्रीयवादी होने में बाधक नहीं थी । उल्टे अन्तर्राष्ट्रीयता उनके प्रगतिशील-राष्ट्रवाद का स्वाभाविक परिणाम थी । उनका मानना है कि समाज के सभी अंगों के साथ समान रूप से तथा एक साथ ही उनमें से किसी एक के साथ भी बिना कोई अन्याय किए लगाव बनाए रखा जा सकता है । आवश्यकता होती है एक यथार्थवादी तथा भेदविहीन दृष्टिकोण की । मानव की भी कल्पना भेदविहीन रूप में की जानी चाहिए किसी ब्यक्ति के शरीर मस्तिष्क दृष्टि एवं आत्मा की कल्पना सम्यक् रूप से हो , न कि अलग-अलग करनी चाहिए ।

इसी के आधार पर उपाध्याय जी ने "समन्वयकारी मानववाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो पाश्चात्य देशों की संकुचित एवं सीमाबद्ध विचारधाराओं के ठीक विपरीत हैं ।"[1] उन्होंने बताया कि "जो लोग विदेशी जीवन तथा विचारों को भारत की प्रगति का आधार बनाकर चलना चाहते हैं वे भी यह भूल जाते हैं कि ये विदेशी विचार एक परिस्थिति विशेष तथा प्रवृत्ति विशेष की उपज है । ये सार्वलौकिक नहीं है । उनपर पश्चिमी देशों की राष्ट्रीयता, प्रकृति और संस्कृति की अमिट छाप है । साथ ही वहां के ये बहुत से विचार अब पुराने पड़ चुके हैं । ----------

कालमार्क्स का सिद्धान्त देश और काल दोनों दृष्टियों में इतना बदल चुका है कि आज हम मार्क्सवादी विश्लेषण को तोते की तरह रटकर आंख मूंदकर भारत पर लागू करें तो वह वैज्ञानिक अथवा विवेकपूर्ण दृष्टिकोण नहीं कहा जाएगा ।"[2]

उपाध्याय जी की कल्पना मानव जाति तक ही सीमित नहीं है । उनका समन्वय वाद इस बात का द्योतक है कि मानव चेतना विश्व ब्यापी चेतना के रूप में विकसित हो सकती है । उन्होंने अपने विचार प्रणाली के लिए अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त नाम 'समन्वयवाद' ही दिया ।

---

1. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय व्यक्ति दर्शन, हमें प्रकाश की ओर ले चलो
दत्तोपन्त ठेंगडी
दीनदयाल शोध संस्थान, रानी झाँसी मार्ग, नई दिल्ली

2. एकात्म मानववाद
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

यह उनके क्रियाकलाप तथा व्यवहारिक क्षेत्र के अनुकूल था ।[1]

"भारतीय संस्कृति की ही विशेषता है एकात्मता - वह टुकडे-टुकडे में बंटना नहीं चाहती । विच्छिन्नता में उसका विश्वास नहीं । वह समग्रता-अखण्डता की आकांक्षिणी है हमारे यहां संघर्ष क्यों हो रहा है ? इसलिए कि हम पश्चिम की तरह भौतिकता एवं पूंजी में समृद्धि करना चाहते हैं । एक एक व्यक्ति भौतिकता की समृद्धि द्वारा सुखी व सन्तुष्ट होना चाहता है । दूसरा मार्ग निवृत्ति का है - सब कुछ त्याग हो कुछ न रखो पास । यह सन्यास मार्ग है । निवृत्तिमूलक मार्ग है । सच पूंछिए तो हम प्रवृत्ति निवृत्ति के मार्ग में उलझ गए हैं । परन्तु "अति सर्वत्र वर्जयेत किसी की अति न हितकर है न व्यवहारिक है । इसलिए हमारी संस्कृति 'समन्वय' सिखाती है । प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय ।"[2] दिनकर लिखते हैं ......'प्रवृत्ति की गाढ़ी स्याही शान्ति और निवृत्ति का पानी मिलाया नहीं जाएगा शान्ति और अध्यात्म की कविता नहीं लिखी जाएगी ।"

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन अभिनन्दन ग्रन्थ 'चार धार्मिक क्रान्तियां' शीर्षक लेख में यह बताया गया है कि समन्वय से ही मानवता का विकास होता है ।

चारों पुरूषार्थों के समन्वय से ही हमारा जीवन ठीक प्रकार से चल सकता है केवल एक से नहीं - कालमार्क्स ने कहा "रोटी सबसे पहली चीज है राज्य तो केवल रोटी वालों का समर्थक होता है । अतः रोटी के लिए लड़ो ।" लड़कर, झगड़कर, मारकर रोटी मिली तो नींद हराम हो गयी । अब वह नींद के लिए परेशान है "नींद लाओ किसी तरह से नींद लाओ ।" उपाध्याय जी कहते हैं शरीर के लिए रोटी जरूर चाहिए क्योंकि शरीर ही सारे धर्म का साधन है शरीर को उन्होंने साधन माना है साध्य नहीं । साधन मानने वाले न धर्म का ध्यान रखते न नीति का । हमारे यहां पुरुषार्थ चार माने गए हैं - धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ध्यान रहे कि धर्म ही शेष तीन पुरुषार्थों को नियमित करता है गंतव्य तक पंहुचाता है । अतः अर्थ का उत्पादन तथा वितरण धर्म सम्मत आचार सम्मत हुआ तो आदर्श समाज बनेगा । मानवता का सर्वांगीण विकास होगा ।"[3]

---

1. एकात्म मानववाद दीनदयाल उपाध्याय
   सुरूचि प्रकाशन केशव कुञ्ज नई दिल्ली । पृष्ठ - 14
2. उत्तर प्रदेश संदेश । सितम्बर 1991 अंक - 9, दीनदयाल जी की वैचारिक क्रान्ति
   डा. मृत्युञ्जय उपाध्याय पृष्ठ - 68
3. तथैव

उपाध्याय जी अर्थ के क्षेत्र में 'समन्वय' वादी थे । वह मनुष्य और मनुष्य के बीच विद्यमान वर्तमान सम्बन्धों से सन्तुष्ट नहीं थे । जहां शोषण हो, गरीबी-भुखमरी हो, अर्थतन्त्र पर एकाधिकार हो । वहां कैसा सम्बन्ध कैसा रिश्ता ? वे कहा करते थे कि व्यक्ति को सम्मान और प्रतिष्ठा बिना आर्थिक विषमता दूर किए नहीं प्राप्त हो सकती ।

उनका कहना था कि "न तो हमें समाजवाद चाहिए और न ही पूंजीवाद वरन् मनुष्य की प्रगति और प्रसन्नता हमारा ध्येय है जिसमें मनुष्य को मात्र मुहावरा बनकर न रह जाना पड़े । इसके लिए उन्होंने काम निर्धारण पर बल दिया । खेत के मालिकों और कारखानों के मालिकों के साथ मजदूरों का सम्बन्ध होना चाहिए । धन में सबका बराबर भाग क्योंकि पैसा भी पूंजी और श्रम भी पूंजी । अतः अन्न दोनों को उचित मात्रा में चाहिए ।"[1]

पण्ड़ित जी हिन्दू और मुसलमान के बीच समन्वय स्थापित करके भारत को अत्यधिक शक्तिशाली बनाना चाहते थे । उनके इस उदार दृष्टिकोण की चरम सीमा जनसंघ के कालीकट अधिवेशन पर उनके समापन भाषण में प्रकट हुई । उन्होंने कहा था -

"हमें मुसलमान भी चाहिए हमें साम्यवादी भी चाहिए हमें सभी प्रान्त के व्यक्ति चाहिए जो भारत में हैं और जो भारतीय परम्पराओं में आस्था रखने को तत्पर हैं । वे कोई भी हमें उन सबका सहयोग चाहिए । हमें जनसंघ को भारत के निर्माण का प्रतीक बनाना है ।"[2]

उनकी इस बात से यह कहा जा सकता है कि जयशंकर प्रसाद द्वारा लिखित कामायनी की निम्न पंक्तियों से वे काफी सहमत थे ।-

शक्ति के विद्युतगण जो व्यस्त
विकल विखरे हैं हों निरूपाय ।
'समन्वय' उनका करें समस्त
विजयिनी मानवता हो जाए ।।

पण्ड़ित जी ने राजनीतिक क्षेत्र में विरोधी दलों से भी राष्ट्र एवं मानवता

---

1. उत्तर प्रदेश सन्देश — डा. प्रभाकर शुक्ल, उपाध्याय जी अर्थ के क्षेत्र में समन्वय वादी थे, पृष्ठ - 79-90

2. 2. वे शुद्ध दृष्टि से सोचने वाले महानचिंतक थे — नारायण स्वरूप शर्मा, उत्तर प्रदेश सन्देश पृष्ठ 35-36

के लिए समन्वय स्थापित करने में संकुचित दृष्टिकोण नहीं अपनाया । सन् 1964 में पाकिस्तान में व्यापक रूप से हिन्दुओं पर आक्रमण हुए । तब डा. राममनोहर लोहिया ने इस विषय पर पण्ड़ित जी से चर्चा करनी चाही । पण्ड़ित जी उनसे मिले और चर्चा के पश्चात् संयुक्त वक्तव्य देने का निश्चय किया गया । जबकि ऐसी स्थितियों में समाजवादी दल का रवैया सामान्यतः जनसंघ के दृष्टिकोण से पूर्णतः वेमेल रहता था । संयुक्त वक्तव्य में भारत के मुसलमानों और भारत पाक एकीकरण की बात कही गयी थी । यथा -

"जहां तक हिन्दु स्थान के मुसलमानों का सवाल है हमारा यह ध्रुव विचार है कि देश के सभी नागरिकों के समान उनके जानमाल की रक्षा हर हालत में होनी चाहिए । कोई घटना और तर्क ऐसे नहीं जिनके सामने इस सत्य को झुकना जरूरी हो जो राज्य अपने नागरिकों को और जो नागरिक अपने पडोसियों को जीने का अधिकार न दिला सके वह जंगली है ।"[1]

यहां तक कि पण्ड़ित दीनदयाल जी उपाध्याय भारत और पाक को एकता के सूत्र में बांधकर एक समन्वित शक्ति बनाने का सपना देख रहे थे । डा. लोहिया के साथ उनके संयुक्त वक्तव्य से इस बात की पुष्टि होती है -

"हमारा मत है हिन्दुस्तान पाकिस्तान की पृथकता कृत्रिम है, हम चाहते हैं कि दोनों सरकारें टुकड़े-टुकड़े में बातचीत न करके सम्पूर्ण बातचीत खुले मन से करें । इससे समस्याओं का निराकरण हो सकेगा और पारस्परिक सद्भावना पैदा होकर हिन्द पाक महासंघ किसी न किसी रूप में बनने का क्रम शुरू हो सकेगा ।"[2]

"समय और हम" में जैनेन्द्र कुमार ने लिखा है - जिन्होंने बन्धन के मध्य मुक्ति और मृत्यु के बीच अमरता की साधना की है, ऐसे पुरुष स्वयं ही जीवन का मापदण्ड बन गए हैं । इनसे ही हम जीवन सत्य को समझा करते हैं । "पण्ड़ित जी जीवन के ऐसे ही मापदण्ड हैं जो आजीवन परिस्थितियों की विपरीतता विषमता के मध्य भारत, विश्व और मानवता का समन्वय स्थापित करने के लिए आजीवन जूझते रहे ।'[3]

---

1. जनसंघ के मूल विचारक, पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय — जगदीश प्रसाद माथुर
2. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय, व्यक्ति दर्शन — दीनदयाल शोध संस्थान रानी झाँसी मार्ग, नई दिल्ली - पृष्ठ - 60-61
3. पण्ड़ित जी की वैचारिक क्रान्ति — डा. मृत्युञ्जय उपाध्याय उत्तर प्रदेश सन्देश पृष्ठ 67-68

[झ] व्यष्टि और समष्टि की समरसता का विचार -

पुरातन काल से व्यक्तिवाद तथा समष्टिवाद के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में विवाद चलता आया है । कुछ विचारक व्यक्तिवाद में व्यक्तिगत लाभ, समृद्धि शक्ति तथा उन्नयन यहां तक कि मोक्ष के व्यक्तिगत अर्जन पर बल देते हैं और कहते हैं कि जो कुछ है वह व्यक्ति है, वही प्रमुख है और यदि कुछ है तो उसके द्वारा यदि हितस्नाय नहीं होता तो वह निरर्थक है । उसके विपरीत समष्टिवाद के समर्थक व्यक्ति की प्रधानता को नकारते हैं और उसकी सार्थकता केवल समष्टि के सन्दर्भ में आंकते हैं व्यक्ति का महत्व नहीं, समष्टि का महत्व है । क्योंकि समष्टि में व्यक्ति समाहित है ।

मानव अपने जन्म के लिए अपने माता-पिता का ऋणी है । परन्तु जन्म लेते ही वह समाज का अभिन्न अंग बन जाता है । उसके जीवन के लिए उसके विकास के लिए उसके उन्नति के लिए समाज अपना महत्वपूर्ण योगदान करता है । इसलिए मानव का समाज के प्रति, राष्ट्र के प्रति, उत्तरदायित्व है । सामूहिक या सामाजिक वैभव और समृद्धि में उसे अपने कर्तव्यों का पालन करना है और सीमित 'अहम्' के दायरे से हटकर अपना चिन्तन बनाना है ।

मानव के व्यवहार में व्यक्तिवादी पक्ष तथा समष्टिवादी पक्ष का द्वन्द निरन्तर चलता रहता है । इस द्वन्द में व्यक्ति जितना भी हो अधिक अपने स्वार्थमय पक्ष को परास्त करता है । समष्टि के चिन्तन की ओर अग्रसर होता है तथा अपनी कार्यशैली तथा कार्यों को निखारता है उतना ही अधिक सफल होता है ।

इस द्वन्द के परिप्रेक्ष्य में पण्डित दीनदयाल उपाध्याय ने अपने चिन्तन को स्पष्ट करते हुये लिखा -

"व्यक्तिवाद अधर्म है । राष्ट्र के लिए काम करना धर्म है । राष्ट्र धर्म को साधने के लिए जो कुछ करना पड़े करना ही उचित है । सच झूठ सबकी कसौटी समष्टि का हित है ।"[1] समष्टि का विचार कर कार्य करने वालों की शक्ति की सामूहिक संगठन शक्ति है व्यक्तिवादी संगठित शक्ति नहीं बना पाते । इसीलिए राष्ट्रीयता का मार्ग ही व्यक्ति का मार्ग है । राष्ट्रीयता ही वह कसौटी है जिस पर हमारी प्रत्येक कृति प्रत्येक व्यवस्था ठीक या गलत गिनी जायेगी ।

---

1. राष्ट्र जीवन की दिशा 'मैं और हम' पं दीन दयाल उपाध्याय

पृष्ठ 28, 29

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने व्यक्तिवाद की तुलना में समष्टिवाद को वरीयता दी । यह सर्वथा उचित भी है । लेकिन इसका तात्पर्य व्यक्तिवाद को हीन बनाना नहीं है । व्यक्तिवाद और समष्टिवाद की विशद व्याख्या करने के बाद उन्होंने इन दोनों वर्गों में समन्वय की आवश्यकता पर जोर दिया । इस सम्बन्ध में उनका मत है कि व्यक्ति को गुणवान, शक्तिवान बनना चाहिए, अपनी शारीरिक मानसिक तथा बौद्धिक शक्तियों का विकास करना चाहिए । अपनी छवि बनाने के लिए कर्म के मार्ग का अनुकरण करना चाहिए । यह सब व्यक्ति के लिए बीरोचित है । परन्तु इस व्यक्ति को संघ से जुड़ा रहना चाहिए । संघ से समाज से और राष्ट्र से सम्बद्ध होकर ही वह अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकेगा संघ बनाकर न रहने से अथवा पृथक्-पृथक् रहने से व्यक्ति और संघ दोनों की अवनति होगी , विनाश होगा । पण्ड़ित उपाध्याय जी ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि "यदि मनुष्य अमरत्व चाहता है तो वह अमरत्व उसी संभूति से ही मिल सकता है ।

इस सम्बन्ध में पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय का समष्टिवादी दर्शन हमारा पथ प्रदर्शन करता है । क्षुद्र अहंकार से ऊपर उठकर बृहद परिवेश और सन्दर्भ में बिचार करने तथा कार्य करने की प्रेरणा देता है । उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि "राष्ट्र का स्मरण कर कार्य होगा तो सबका मूल्य बढ़ेगा । राष्ट्र को छोड़ा तो सब शून्य जैसा ही है । राष्ट्र के आधार पर ही व्यक्ति की कीमत बढ़ती है । राष्ट्र को छोड़ा तो कीमत घटती है ।"[1]

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय के मत में व्यक्ति का चिन्तन ठीक हो तो उसके कार्य भी कारगर होंगे, सिद्धि भी प्राप्त कर सकेंगे और राष्ट्र का हित लाभ होगा । व्यक्तिवाद और समष्टिवाद दोनों साथ-साथ रहे तो लाभदायक होते हैं । व्यक्तिवाद के अनुष्ठान से व्यक्ति के कष्ट पूरे किये जा सकते हैं और समष्टिवाद के अमरत्व की प्राप्ति होती है ।

पण्ड़ित जी समष्टि को एक जीवमान इकाई के रूप में मानते थे । वे सदैव व्यष्टि और समष्टि को अभिन्न अंग मानकर चले । वे दोनों में किसी भी प्रकार के टकराव को, असमानता को अशुभ मानते थे - "यदि व्यक्ति अधिक सम्पन्न बलवान हो गया हो तो वह समाज को घर रबड़ेगा और यदि समाज के ही हाथ में सब सूत्र तो व्यक्ति की सब स्वतन्त्रताओं का अपहरण होना चाहिए । ऐसा मानकर चलना और इन दो स्थितियों में से किसी एक को चुनने के लिए बाध्य

---

1. पण्ड़ित जी ने समष्टि को वरीयता दी — भगवत स्वरूप, उत्तर प्रदेश संदेश, पृ० 18

होना क्या मानव के उदान्त चरित्र की स्थापना की भूमिका हो सकेगी ? दो के फेर में हम दोनों को ही गवां बैठेंगे । इसलिए आज जो व्यक्ति के सम्पन्न होने से ऊब जाते हैं वे समाज पर बल देने लगते हैं और जो समाज के सर्वसत्ता सम्पन्न होने से कराहते हैं वे व्यक्ति को मजबूत करने की बोली बोलते हैं, किन्तु इस द्वैत में रास्ता निकालना असम्भव है । भारत ने अपने चिन्तन में इसीलिए यह निष्कर्ष निकाला कि व्यक्ति और समाज में विरोध मानना ही भूल है, विकृतियों की, अव्यवस्था की बात छोड़ दें । उसे दूर करने के उपाय करना भी जरूरी होते हैं किन्तु मूल सत्य यह है कि व्यक्ति और समाज अभिन्न और अविभाज्य हैं । सुसंस्कृत अवस्था यही है कि जहां व्यक्ति अपनी चिन्ता करते हुए भी समाज की चिन्ता करेगा । दोनों में सामान्य स्थिति है पूरकता है । समाज का बिगाड़कर अपनी भलाई करने का विचार जो करेगा वह गलत सोचेगा । यह विकृत अवस्था है इसमें उसका भी भला नहीं होने वाला क्योंकि समाज जिस स्थिति में पंहुचेगा उसे व्यक्ति को ही भोगना पड़ेगा ।"[1]

पण्ड़ित जी ने व्यक्ति को समाज का अंग ही माना है बिना व्यक्ति के समाज की कल्पना ही नहीं इसलिए व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक हैं "सामान्य अवस्था यही है कि हम अपनी चिन्ता करते हुए समाज की चिन्ता करे हमारे हित और समाज के हित में विरोध नहीं संघर्ष नहीं" पण्ड़ित जी एक प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि "हम व्यक्तिवादी भी हैं और समाजवादी भी भारतीय चिन्तन के अनुसार हम व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करते और समाज के हितों की चिन्ता बराबर करते रहते हैं । समाज के हितों की चिन्ता करते हैं इसलिए समाजवादी हैं और व्यक्ति के हितों की उपेक्षा नहीं करते इसलिए व्यक्तिवादी भी ।

....."हमारी मान्यता है कि बिना व्यष्टि के किसी समष्टि की कल्पना भी नहीं की जा सकती और बिना समष्टि के व्यष्टि का क्या मूल्य ? इसलिए हम दोनों के बीच समन्वय करना चाहते हैं ।"[2]

व्यष्टि और समष्टि के बीच समरता स्थापित करना पण्ड़ित दीनदयाल जी का आदर्श था सिद्धान्त था जिसके लिए उन्होंने अपना सारा जीवन समर्पित कर दिया ।

---

1. व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध — पृष्ठ - 115
   राष्ट्र जीवन की दिशा — रमांशकर अग्निहोत्री, भानु प्रताप शुक्ल
2. तथैव — पृष्ठ - 116

(ञ) आध्यात्मवादी दर्शन -

श्री मद् भगवद्गीता के आठवें अध्याय के प्रारम्भ में भगवान कृष्ण से अर्जुन ने पूछा- "कि अध्यात्मम्" आध्यात्म क्या है ? तब श्री कृष्ण ने उत्तर दिया "स्वभावोऽध्यात्मुच्यते" अर्थात् प्रत्येक वस्तु का जो मूल भाव है स्वभाव है, उसे आध्यात्म कहते हैं । इस दृष्टि से मानव के सन्दर्भ में आध्यात्मिक उन्नति का अर्थ होगा - उसे अपने मूल भाव या 'स्वरूप' अर्थात् निर्गुण निराकार सर्वव्यापी परम तत्व का अधिकाधिक बोध होते जाना । इस प्रकार व्यक्ति को अपने मूल स्वरूप का बोध होने लगता है कि जिस परमात्मा का अंश मुझमें है उसी का अंश अन्य लोगों में भी है । फिर धीरे-धीरे हर व्यक्ति में भगवान देखने की अवस्था मन को प्राप्त होने लगती है ।"[1] 'जैसे सिया राम मय सब जग जानी ।' या ईश्वर अंश जीव अविनाशी' भगवद्गीता के अध्याय छः में भगवान् कृष्ण ने कहा -

'सर्वभूतस्यमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि

ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः।'[2]

अर्थात समभाव से देखने वाला व्यक्ति आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में कल्पित देखता है । समाज उसी परमेश्वर का चलता फिरता रूप है और उस समाज पुरुष की सेवा पुरुषोत्तम की अथवा परमात्मा की पूजा है यह धारणा मन में पक्की हो जाती है यही आध्यात्म है ।

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने राष्ट्र की सहस्र-सहस्र प्रजा शक्ति को ही तो परमेश्वर का स्वरूप माना है "शाक्त शैव वैष्णव, गाणपत्य उसी सहस्रानन सहस्रबाहु सहस्रपाद सहस्राक्ष राष्ट्र पुरुष की भिन्न भिन्न स्वरूप में पूजा करते हैं ।"

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने जिस विचार धारा से प्रभावित होकर सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया वह 'तिलकवादी' भारतीय परम्परा की बिचार धारा थी । राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डा. केशव बलीराम हेडगेवार तिलकवादी कांग्रेसी थे जो तिलक की मृत्यु के बाद

---

1. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन खण्ड - 2 — एकात्म मानवदर्शन
2. भगवद्गीता अध्याय छः श्लोक 29
3. जगद्गुरू शंकराचार्य - दीनदयाल उपाध्याय — विविधता में एकता पृष्ठ संख्या - 81

श्री अरविन्द को भारतीय राजनीति का नेतृत्व सौंपना चाहते थे । श्री अरविन्द ने यह स्वीकार नहीं किया । महात्मा गांधी के नेतृत्व वाली राजनीति मुख्यतः गोखले विचारों की अनुगामिनी थी । लोकमान्य तिलक और महर्षि अरविन्द पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान से भारतीय ज्ञान परम्परा को श्रेष्ठ मानते थे । 'पुनश्च हरिओऽम' तथा 'वेदान्तिक स्वराज्य' की बात करते थे । "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है" की घोषणा में 'स्वराज्य' का अर्थ 'स्वत्वपूर्ण राज्य' की स्थापना था 'स्वत्व' अर्थात् भारतीयत्व जोकि मुख्यतः हिन्दू परम्परा के 'तत्वज्ञान' मूल्य दृष्टि और दर्शन पर आधारित था ।

गोखले और दादा भाई नौरोजी जैसे लोग पश्चिमी ज्ञान विज्ञान एवं व्यवस्था को आधुनिक मानव की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि मानते थे । वे विदेशी अंग्रेजों को हटाकर भारतीय जन द्वारा संचालित पाश्चात्य व्यवस्थाओं वाला 'सुराज्य' चाहते थे । दादा भाई नौरोजी ने 'अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया' नामक बिख्यात पुस्तक भी लिखी । वे प्राचीन भारतीय जीवनदर्शन व पाश्चात्य आधुनिक जीवन दर्शन में मेल के हिमायती थे । डा. हेडगेवार ने अपने को उससे अलग कर "हिन्दू राष्ट्र के संगठन" के लिए नए संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना की । पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय इसी राष्ट्रवाद के प्रवक्ता थे, जो भारतीय सांस्कृतिक परम्परा की विशुद्धता में विश्वास करता था । इसलिए पण्ड़ित जी के आध्यात्मवादी दृष्टिकोण को समझने के लिए भारतीय विचार परम्परा के अध्ययन की महती आवश्यकता है ।

भारतीय विचार परम्परा वैदिक विचार धारा से प्रारम्भ होती है जो विश्ववादी है - "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथ्वियाः" तथा कृष्णवन्तो विश्वमार्यम्" का उद्‌घोष करने वाली है वैदिक विचार परम्परा केवल आध्यात्मिक अथवा आत्मा परमात्मा परक विचार करने वाली परम्परा नहीं है । वह लौकिक समाज की समता व राष्ट्रीय समृद्धि का भी चिन्तन करती है ।[1]

"आ ब्रह्मन ब्राह्मणों ब्रह्मवर्चसी जायताम्"

× × × × × × × × × ×

---

1. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय कर्तव्य एवं विचार, "भारतीय चिन्तन का प्रभाव'

डा. महेश चन्द्र शर्मा

पृष्ठ संख्या - 335-336

निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु

फलवत्यो न ओषद्यय: पच्यन्ताम्

योगक्षेमो नः कल्पताम् ।

अर्थात सम्पूर्ण राष्ट्र में ब्राह्मण ब्रह्मतेज से युक्त हो । ब्रह्मतेज के साथ-साथ भौतिक समृद्धि के लिए भी प्रार्थना की गयी है कि हमारी आवश्यकतानुसार राष्ट्र में वर्षा होती रहे औषधियां फल देती रहें और सभी का योगक्षेम चलता रहे ।

भारतीय वैदिक चिन्तन ब्रह्म प्रकृति व मानव के सम्यक सम्बन्धों को विश्लेषित करता है । अतः दान, यज्ञ, गोपालन व कृषि अर्थशास्त्र की तत्कालीन समाजशास्त्रीय विवेचना भी वैदिक ज्ञान का हिस्सा है । "एकं सद् विप्रा वहुधा वदन्ति" जैसे वेद वाक्यों से वैचारिक सहिष्णुता एवं "तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु" से उत्तम संकल्पों का भाव परिलक्षित होता है । वैदिक विचार धारा ब्रह्मवादी है जो मानव को ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए प्रेरित करती है और 'नेति नेति' कहते हुए नवीन अनुसंधानों के लिए जागृत करती है ।

भारतीय विचार परम्परा 'वादे वादे जायते तत्व बोधा' (विचार विमर्श से तत्व का बोध होता है) की परम्परा है वेद, उपनिषद, रामायण व महाभारत के आधार पर जिस धर्म का प्रणयन हुआ । वह सनातन धर्म, आर्यधर्म, तथा कालान्तर में हिन्दू धर्म कहलाया । पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय इसी सनातन धर्म से प्रभावित थे । उन्होंने अपने साहित्य एवं विचार प्रतिपादन में वेद पुराण स्मृतियां उपनिषद् तथा वेदान्त को बहुत अधिक मात्रा में संदर्भित किया है । इसी धारा में से उन्होंने अपनी तकनीकी शब्दावली का संयोजन किया है । इस भारतीय विचार परम्परा को जिन दो तात्कालिक महापुरुषों से ग्रहण किया है वे हैं राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघ चालक मा.स. गोलवरकर तथा अ.भा. प्रचार प्रमुख उमाकान्त केशव आपटे ।

आधुनिक महापुरुषों में विवेकानन्द तिलक व अरविन्द को दीनदयाल जी ने अपने विचारों के अनुकूल पाया । गांधी व विनोबा को भी कुछ मात्रा में उद्दृत किया है । इस प्रकार

---

1. यजुर्वेद 22/22 क्र. । पृष्ठ 2
2. ऋग्वेद 1/164/46 क्र. । पष्ठ 11
3. यजुर्वेद 64/1 क्र. । पृष्ठ 19

लगभग दो दशकों के अध्ययन व अनुभव के बाद पण्ड़ित जी ने अपनी विचार धारा को 'एकात्म मानववाद' के नाम से निरूपित किया । भारतीय जनसंघ की 'सिद्धान्त और नीति' नामक पुस्तक में अपने इस दर्शन को उद्घोषित करते हुए उसकी प्रस्तावना में शंकराचार्य व चाणक्य का स्मरण करते हुए कहते हैं :-

"आज भारत के इतिहास में क्रान्ति लाने वाले दो पुरुषों की याद आती है एक तो जगद्गुरू शंकराचार्य की जिन्होंने सनातन वैदिक धर्म का सन्देश लेकर देश में व्याप्त अनाचार को समाप्त किया । दूसरे चाणक्य की जिन्होंने 'अर्थशास्त्र' धारण का उत्तरदायित्व लेकर संघ राज्यों में बिखरी हुई शक्ति को संगठित कर साम्राज्य की स्थापना की । आज इस प्रारूप को प्रस्तुत करते समय वैसा ही तीसरा महत्वपूर्ण प्रसंग आया है । जब विदेशी धारणाओं के प्रतिबिम्व पर आधारित मानव सम्बन्धी अधूरे व अपुष्ट विचारों के मुकाबले विशुद्ध भारतीय विचारों पर आधारित मानव कल्याण का सम्पूर्ण विचार 'एकात्म मानववाद' के रूप में उसी सुपुष्ट भारतीय दृष्टिकोण को नए सिरे से सम्बद्ध करने का काम हम प्रारम्भ कर रहे हैं ।"[1]

यह स्पष्ट है कि पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय 'शंकराचार्य' के वेदान्त और 'चाणक्य' के अर्थशास्त्र से अधिक प्रभावित थे । उन्होंने जिस पुस्तक से सर्वाधिक प्रेरणा प्राप्त की वह पुस्तक है 'दैशिक शास्त्र' जो वैदिक साहित्य से लेकर वेदान्त दर्शन तक के साहित्य और सामाजिक विचार दर्शन की व्याख्या करती है । यह पुस्तक तपः पूत तत्व दर्शी महात्मा श्री 108 सोम्वारी बाबा जी महाराज से इन सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त कर स्व. श्री बद्री शाह तुलधारिया द्वारा प्रकाशित की गयी । पुस्तक की प्रेरणा लोकमान्य तिलक के 'कर्मयोग शास्त्र' से प्राप्त हुई । जिसके बारे में स्वयं पण्ड़ित जी ने कहा है -

"गीता के आधार पर कर्मयोग का प्रतिपादन कर लोकमान्य भारत की आध्यात्मिकता को निवृत्ति से पृवत्ति की ओर खींच लाए । भारतीय संस्कृति के सत्य तत्वों को हिमालय की कन्दराओं से निकालकर जीवन के चौराहे पर ला खड़ा कर दिया ।"[2]

---

1. जनसंघ : सिद्धान्त और नीति — नई दिल्ली — सुरूचि प्रकाशन — केशव कुञ्ज
2. 'लोकमान्य के सपनों का भारत' — लेखमाला — पाञ्चजन्य 24 अगस्त 1959 — पृष्ठ - 13

पण्ड़ित दीनदयाल जी का आध्यात्मिक दर्शन दो अलग - अलग विचार धाराओं के मन्थन से निकला हुआ नवनीत है। एक ओर वैष्णव शैव, शाक्त एवं विभिन्न द्वैतवादी मतों को एक सूत्र में बांध कर सनातन धर्म की पुर्नस्थापना करने वाले जगद्गुरू शंकराचार्य के विचारदर्शन से प्रेरणा ली तो दूसरी ओर भारतीय दर्शन के उदान्त आत्म तत्व तथा सत्य अहिंसावादी नैतिक दर्शन के विपरीत लेकिन युगानुसार आचार्य चाणक्य की कृति 'अर्थशास्त्र' से भी प्रभावित थे। उनके इस संकलित आध्यात्मवादी दर्शन को उनकी जगद्गुरू शंकराचार्य एवं सम्राट् चन्द्रगुप्त नामक पुस्तकों में स्पष्ट तथा अलग-अलग रूपों में देखा जा सकता है - जगद्गुरू शंकराचार्य के राष्ट्रधर्म और सम्प्रदाय नामक शीर्षक में अपने आध्यात्म दर्शन को शंकराचार्य के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त किया है -

"आप हिन्दू हैं और बौद्ध भी, आप हिन्दू हैं और वैष्णव भी, आप हिन्दू हैं और शैव भी , आप सब कुछ हैं...... आप इस पुण्यभूमि हिन्दुस्तान के निवासी आर्यों की सन्तान है प्राचीन परम्परा को मानने वाले है, राम और कृष्ण की सन्तान हैं । अतः हिन्दू हैं । भगवान् बुद्ध की आत्मा का आपने साक्षात्कार किया है । अतः बौद्ध हैं विष्णु के अवतार भगवान बुद्ध के पुजारी होने के नाते आप वैष्णव हैं और राष्ट्र के शिव की आराधना आपको शैव भी बनाएगी ।"[1]

'सम्राट चन्द्रगुप्त' के 'चाणक्य की चिन्ता' नामक शीर्षक में अपने व्यवहारिक कूटनीतिक दर्शन' को चाणक्य के द्वारा व्यक्त किया है - 'यह समय सत्य असत्य के विचारने का नहीं है वत्स । अपने राष्ट्र का कल्याण और उसकी स्वतन्त्रता ही सबसे बड़ा सत्य है ।"

अतः निःसंकोच भाव से यह कहा जा सकता है कि पण्ड़ित जी का आध्यात्म दर्शन जहां एक ओर आत्मा परमात्मा प्रकृति के रहस्यों से सम्बन्धित है वेद पुराण स्मृतियां उपनिषद और वेदान्त का निचोड़ तथा सनातन धर्म के आदर्शों से ओतप्रोत है और मोक्ष के मार्ग को प्रशस्त करने वाला है वहीं दूसरी ओर लौकिक, व्यवहारिक एंव युगानुकूल होने के नाते भौतिक समृद्धि

---

1. जगद्गुरू शंकराचार्य — राष्ट्र, धर्म और सम्प्रदाय
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ संख्या - 90
लोकहित प्रकाशन राजेन्द्र नगर, लखनऊ

की ओर ले जाने वाला वाहक है । उनका आध्यात्मदर्शन भौतिक का विरोधी नहीं है वरन् भौतिक क्षेत्र में बहुत कुछ योगदान करने में समर्थ है। उन्होंने आध्यात्म को जीवन का शिखर और भौतिकवाद को जीवन का आधार स्वीकार किया है । यही कारण है कि उनके आध्यात्म की फलश्रुति 'एकात्म मानव दर्शन' मानव जीवन का आधार बनती जा रही है ।'

भगवान रजनीश ने अपनी पुस्तक 'शिक्षा में क्रान्ति' में अन्ध विश्वासों से मुक्ति' नामक शीर्षक में आध्यात्मवाद की ऐसी ही व्याख्या प्रस्तुत की है ।

"मन्दिर हम देखते हैं मन्दिर में आकाश की तरफ उठे हुए कलश होते हैं मन हो सकता है किसी कवि का, किसी स्वप्नशील का .... हम एक ऐसा मन्दिर बनाएं जिसमें सिर्फ कलश हों, स्वर्ण के चमकते हुए, आकाश की तरफ उठे हुए सूरज की किरणों में नाचते हुए हंसते हुए हम सिर्फ स्वर्ण के कलश ही बनाऐं । हम गन्दी नींव न बनाएंगे । क्योंकि गन्दी नींव गन्दी जमीन में गड़ी होती है अंधेरे में छिपी होती है.... कूड़ेकरकट में दबी होती है ......

...... कल्पना तो अच्छी है लेकिन यह जिन्दगी में सफल नहीं हो सकती क्योंकि वह स्वर्ण के शिखर जो दिखाई देते हैं..... वे उस गन्दी नींव पर ही खड़े हैं जो नीचे जमींन में दबी है । अगर नींव को भूल गए तो स्वर्ण कलश गिरेंगे, बुरी तरह गिरेंगे और आकाश में खड़े न रह जाएंगे और वहीं गिरेंगे जहां गन्दी नींव होती है । उन्हें ऊपर उठाए रखने में उन्हें आकाश की ओर उन्मुक्त रखने में वही नींव जो जमीन के भीतर छिपी है वही आधार है ।

......भारत ने जिन्दगी को इसी भाँति ढालने की कोशिश की कलश की जिन्दगी बनानी चाही, नींव को इन्कार कर दिया । जिन्दगी की नींव है भौतिक जिंदगी की नींव है मैटीरियल जिन्दगी की नींव है पदार्थ और जिन्दगी में शिखर है परमात्मा में । हमने कहा हम पदार्थ को इन्कार करेंगे । हम भौतिकवादी नहीं हैं । हम शुद्ध आध्यात्मवादी हैं हम तो सिर्फ आध्यात्म के कलशों में ही जियेंगे हम आकाश की ओर उन्मुख होंगे, धरती की तरफ नहीं देखेंगे । सुन्दर था सपना लेकिन सुन्दर सपने कितने ही हों सत्य नहीं हो पाते हैं सिर्फ सपने का सुन्दर होना सत्य के लिए पर्याप्त नहीं है ।

मैंने सुना है यूनान में एक बहुत बड़ा ज्योतिषी था वह एक सांझ निकल रहा है रास्ते से । आकाश के तारों को देखता हुआ और एक कुंए में गिर पड़ा है क्योंकि आकाश के तारों में जिसकी नजर लगी हो उसको जमीन के गड्ढे दिखाई पड़ें मुश्किल है । दोनों एक साथ नहीं हो पाता । वह गड्ढे में गिर पड़ा है । एक सूखे कुऐं में । हड्डियां टूट गई हैं, चिल्लाता है । एक बूढ़ी औरत ने उसे निकाल लिया है । निकलते ही वह उस बूढ़ी औरत से कहता है कि माँ शायद तुझे पता नहीं कि मैं कौन हूँ । मैं एक बहुत बड़ा ज्योतिषी हूँ । सम्भवतः मुझसे ज्यादा आकाश के तारों के सम्बन्ध में आज पृथ्वी पर कोई नहीं जानता है अगर तुझे कभी आकाश के तारों के बारे में कुछ जानना हो तो मेरे पास आना । उस बूढ़ी औरत ने कहा बेटे तुम फ्रिक मत करो मैं कभी न आऊंगी क्योंकि अभी जिसे जमीन के गड्ढ़े नहीं दिखाई पड़ते उसके आकाश के तारों के ज्ञान का क्या भरोसा ? पास का नहीं दिखाई पड़ता है दूर का तुम्हें क्या दिखाई पड़ता होगा ।

.......हमने पाँच हजार वर्ष आकाश के तारों को देखकर चलने की कोशिश की है आकाश के तारे बहुत सुन्दर हैं...... आकाश के तारों में जीने की इच्छा बहुत महान है । लेकिन जमीन भी है और पैर जमींन पर ही रहते हैं । आँखें भला आकाश में हो और जमीन पर गड्ढ़े भी हैं । गड्ढ़ों में गिर जाने की सम्भावना भी है । हमने जमीन को इन्कार ही कर दिया था । हमने कह दिया यहां सब माया है । सब झूठ है यह सब पदार्थ का जगत असत्य है । सत्य तो कहीं और है जो दिखाई नहीं पड़ता जो दिखाई पडता है वह असत्य । जो दिखाई नहीं पडता वह सत्य है । ऐसा शीर्षासन करने की हमने कोशिश की है ऐसे हम उल्टे खड़े होने की चेष्ठा में बुरी तरह गिरे हैं ।

आकाश के तारे देखने का हक उन्हीं को है जिसने जमीन के गड्ढ़े मिटा लिए हैं जिनके पैर इतने मजबूत हो गए हों कि अब नीचे गिरने का कोई डर नहीं लेकिन हमने तो पैरों को इंकार ही कर दिया है । भारत के इतिहास की बुनियादी भूल यह है कि हमने भौतिक को इंकार किया और हमने सोचा कि अध्यात्म कुछ भौतिक का विरोधी है यह भूल ऐसी ही है । जैसे कोई कहे जड़ें फूलों की विरोधी हैं । हमने फूलों को प्रेम तो किया लेकिन फूलों के

हत्यारे हम ही सिद्ध हुए क्योंकि फूलों को प्रेम करना ही फूलों को बचाने के लिए पर्याप्त नहीं है । जड़ों को भी प्रेम करना पड़ता है ।

पश्चिम ने भी आधी जिन्दगी स्वीकार कर ली है । उसने सिर्फ जड़ों को ही स्वीकार कर लिया । .... फूल पश्चिम ने अस्वीकार कर दिये हैं । पश्चिम है नियत भौतिकवादी और पूरब था नियत आध्यात्मवादी दोनों ही अधूरी गलतियां हैं आधे-आधे की भूल है । पश्चिम भौतिकवाद में बहुत गहरे गया है और उसकी तैयारी है आध्यात्म में जाने की । पश्चिम दूसरी अति पर जाएगा और हम आध्यात्म में बहुत गहरे चले गए हैं । अब हमारा पेण्डुलम भौतिकवाद की तरफ जाने की तैयारी में है । हम दूसरी अति में जाने की कोशिश कर रहे हैं । खतरा यह है कि कहीं पश्चिम पूरब न हो जाए और पूरब पश्चिम न हो जाए ।

तो दूसरी बात ध्यान में रखने की है कि भारत को अपने अतीत की भूल से बचना है और पश्चिम को भी अतीत की भूल से बचना है । .... पूरी जिन्दगी स्वीकृत करनी चाहिए । मेरा कहना है कि भौतिकवाद जीवन का आधार बने और आध्यात्म जीवन का शिखर । न तो शिखर को इन्कार करना उचित है न दुनियां को इन्कार करना उचित है । जीवन इकट्ठा है ।"[1]

सम्भवतः हमारी संस्कृति विदेशी आक्रान्ताओं की संस्कृति के प्रभाव से कुछ प्रदूषित हो गयी होगी । उसमें कुछ विसंगतियां उत्पन्न हो गयी होगी जिससे हमने जीवन को टुकड़ो-टुकड़ों में विचार करना प्रारम्भ कर दिया होगा । अन्यथा "भारतीय संस्कृति की पहली विशेषता यह है कि वह सम्पूर्ण जीवन का, सम्पूर्ण सृष्टि का संकलित विचार करती है । उसका दृष्टिकोण एकात्मवादी है । टुकड़े टुकड़ों में विचार करना विशेषज्ञ की दृष्टि में ठीक हो सकता है परन्तु व्यवहारिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं । पश्चिम की समस्या का मुख्य कारण उनका जीवन के सम्बन्ध में टुकड़े टुकड़ों में विचार तथा फिर उन सबको थेगली लगाकर जोड़ने का प्रयत्न है ।"[2]

भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में पण्ड़ित जी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि -

---

1. शिक्षा में क्रान्ति, अंध विश्वासों से मुक्ति
भगवान रजनीश पृष्ठ - 10, 11, 12, 13, 14

2. एकात्म मानवदर्शन एकात्म मानववाद
भारतीय संस्कृति एकात्मवादी पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
पृष्ठ - 18

"यह भ्रम भूलक धारणा है कि भारतीय संस्कृति और धर्म आध्यात्म प्रधान होने के कारण भौतिक जीवन की समस्याओं के प्रति उदासीन है । यह भ्रम दूषित प्रचार एवं आध्यात्मिकता का गलत अर्थ करने का परिणाम है । वास्तविकता तो यह है कि हमारी धर्म की व्याख्या भौतिकता का पूर्ण विचार लेकर चलती है ।

"यतोऽम्युदय निः श्रेयससिद्धिः सधर्मः

अर्थात जिससे ऐहिक और पारलौकिक उन्नति प्राप्त हो वह धर्म है । जिसने इस लोक को छोड़ दिया वह परलोक को नहीं बना सकेगा । भौतिकता और आध्यात्मिकता परस्पर बिरोधी अथवा बिलग भाव नहीं है ।" [1]

जगद्गुरू शंकराचार्य के वेदान्त और कौटिल्य के अर्थशास्त्र की तरह पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने 'एकात्म मानववाद' के रूप में अपने आध्यात्मदर्शन को प्रस्तुत करके भारतीय विचार परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेय प्राप्त किया है ।

---

1. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय व्यक्ति दर्शन
भारतीय संस्कृति और भौतिक प्रश्न पृष्ठ संख्या - 171

(त) 'एकात्म मानववाद'

एकात्म मानववाद का अर्थ -

एकात्म मानववाद का अर्थ है मानव-जीवन तथा सम्पूर्ण प्रकृति के साथ एकात्म सम्बन्धों का दर्शन । अतः यह केवल 'मानव' दर्शन न होकर एक परिपूर्ण 'एकात्म दर्शन' है इसमें केवल मानव और मानव के बीच सम्बन्धों का ही नहीं अपितु मानव और मानवेन्टर प्रकृति के सम्बन्धों का दर्शन होता है । 'एकात्म मानववाद' अर्थात 'समग्र जीवन दर्शन' । पण्ड़ित जी एक जन्मजात प्रतिभा सम्पन्न और मूलगामी चिन्तक थे । उनका चिन्तन केवल व्यक्ति जीवन से लेकर सम्पूर्ण मानव जाति तक सीमित नहीं है परन्तु मानवेन्टर प्रकृति और उससे भी आगे बढ़कर परमेष्ठी अर्थात 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' की धारणा को व्यक्त करने वाला है ।

एकात्मवाद की पृष्ठ भूमि -

स्वतन्त्रता के पूर्व देश की समस्त राजनीति एवं आन्दोलनों का एक मात्र लक्ष्य था अंग्रेजों को हटाकर देश को स्वतन्त्र कराना । स्वतन्त्रता के बाद देश की दशा और दिशा क्या होगी ? ऐसा बहुत कम लोगों ने ही विचार किया । लोकमान्य तिलक ने स्वतन्त्रता आन्दोलन की भूमिका को स्पष्ट करने वाले 'गीता रहस्य' एवं महात्मा गांधी ने 'हिन्द स्वराज्य' लिखकर आगामी भारत के चित्र को प्रस्तुत किया । कांग्रेस और अन्य राजनीतिक दलों ने भी यदाकदा ऐसे विचार एवं प्रस्ताव प्रस्तुत किए । लेकिन इस विषय का जितनी गम्भीरता से विचार आवश्यक था । सम्भवतः वह नहीं हो सका ।

इससे बड़े दुर्भाग्य की बात तो यह थी कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के कई वर्षों के उपरान्त भी देश की कोई निश्चित दिशा तय नहीं हो सकी । अतः ऐसी परिस्थिति में पण्ड़ित दीनदयाल जी जैसे आजीवन राष्ट्रव्रती प्रखर मनीषा सम्पन्न व्यक्ति के मस्तिष्क में विचार मन्थन प्रारम्भ होना स्वाभाविक है और इसी विचार मन्थन के परिणाम स्वरूप 'एकात्म मानववाद' नामक 'नवरसायन' हमको प्राप्त हो सका । भारत की भावी दिशा क्या होनी चाहिए ? इस सम्बन्ध में अपनी विचारधारा का प्रतिपादन करते समय उन्होंने तत्कालीन प्रचलित यूरोपीय विचार धाराओं को 'स्वदेशी' कसौटी पर कसने का प्रयत्न किया है । उस समय भारत की राजनीति उक्त यूरोपीय

विचारधाराओं से बहुतायत मात्रा में प्रभावित थी । अतः उनकी पृष्ठ भूमि को पण्ड़ित जी ने प्रस्तुत किया । .... जिन विचारधाराओं ने यूरोपीय राजनीति और समाज समाज जीवन को प्रभावित किया है । वे मुख्यतः तीन विचार धाराऐं हैं राष्ट्रवाद, जनतन्त्र और समाजवाद । राष्ट्रवाद सबसे प्राचीन और आज भी प्रभावशाली विचारधारा है । इसाई धर्म के प्रमुख होने के कारण रोम के पोप की अधिसत्ता यूरोप के सभी राज्यों में थी । रोम के पोप का हुक्म था कि राज्यों को सत्ता की अधिमान्यतः पोप की सम्मति और आशीर्वाद पर ही निर्भर होगी । फलस्वरूप यूरोप के राजा, महाराजा, ब्यापारी, पूंजीपति पोप के प्रति अंध भक्ति से व्याकुल हो उठे और विरोध में संगठित होने का प्रयास प्रारम्भ कर दिया । परिणामस्वरूप यूरोप में छोटे के राष्ट्रों का उदय हुआ । इन राष्ट्रों में विस्तारवादी नीतियों के कारण आपसी संघर्ष भी प्रारम्भ हुआ । अतः उस समय को राष्ट्रों के उदय यानि राष्ट्रवाद और आपसी संघर्ष का युग माना गया ।

राष्ट्रवाद के उदय के कारण पोप की अधिसत्ता समाप्त हो गयी किन्तु धीरे-धीरे राजा की अधिसत्ता का प्रारम्भ हुआ । राजा लोग अपने आप को ईश्वर का अंश और प्रजा का भाग्य विधाता मानने लगे । अतः निरंकुशता का जन्म होने लगा । फलस्वरूप जनता असंतुष्ट होती चली गयी । व्यक्ति स्वातन्त्र्य की भावना बलवती होने लगी । इसी ब्यक्ति स्वातन्त्र्य और समाज की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए वैधानिक शासन के द्वारा राजाओं के अधिकारों को सीमित कर दिया गया और संसद जैसी संस्थाओं का निर्माण हुआ । जनतन्त्र का सूर्य उदित हुआ । जनतन्त्र में सभी नागरिकों को व्यक्ति स्वातन्त्र्य प्राप्त हुआ ।

जनतन्त्र की कमियों या यों कहा जाए कि ब्यक्ति स्वतन्त्र्य और समान अवसरों का गलत लाभ उठाकर कुछ चतुर लोगों ने उत्पादन के साधनों पर एकाधिकार कर लिया । ऐसे लोग अधिक धनवान शेष सभी निर्धन होते चले गए (पूंजीपति) शोषित और (मजदूर) शोषक दो वर्गों में समाज बंटने लगा । इस अन्यायपूर्ण चालाकी का बिरोध करने के लिए जो लोग अग्रसर हुए वह अपने को 'समाजवादी' कहने लगे । कार्लमार्क्स उन समाजवादियों में से एक हैं । कालमार्क्स ने समाजवाद को वैज्ञानिक आधार पर खड़ा करने का प्रयास किया और इसे वैज्ञानिक समाजवाद का नाम भी दिया ।

"वैज्ञानिक समाजवाद के अनुसार उत्पादन के साधनों का व्यक्तिगत स्वामित्व ही शोषण की जड़ है यदि इन साधनों को समाज के हाथों में दे दिया जाए तो शोषण समाप्त हो जाएगा ।"[1]

कार्लमार्क्स के चिन्तन से लोग प्रभावित हुए और रूस में मार्क्सवादी क्रान्ति हो गयी किन्तु शीघ्र ही लोगों की ध्यान में आया कि "सर्वहारा की तानाशाही" अर्थात् उत्पाद के साधनों पर समाज का नियन्त्रण एक भ्रामक नारा है । उत्पादन के साधनों पर सम्पूर्ण समाज का नियन्त्रण न होकर एक दल मात्र या दल के मुट्ठी भर पदाधिकारियों का नियन्त्रण है । तथापि इस आशा से कि यह व्यवस्था शीघ्र ही समाप्त हो जाएगी , शोषित वर्ग को सत्ता में सहभागी बनाया जायेगा , जनता ने इस निरंकुश तानाशाही का अत्याचार सह भी लिया । लेकिन कुछ दिनों के बाद शासन रहित वर्गविहीन समाज का नारा अफीम की गोली सिद्ध हुआ । लोगों की ध्यान में आया कि उनके हाथ से व्यक्ति स्वातन्त्र्य जैसे पूर्ण प्राप्त अधिकार भी छीन लिए गए ।

"राष्ट्रवाद, जनतन्त्र और समाजवाद इन तीन प्रवृत्तियों ने यूरोप की राजनीति को प्रभावित किया है । ये सब ऐसे आदर्श हैं जो अच्छे हैं मानव की दैवी प्रवृत्तियों में से इनका जन्म हुआ है । किन्तु अपने में कोई विचार पूर्ण नहीं है । इतना ही नहीं इनमें से प्रत्येक आदर्श व्यवहार में एक दूसरे का घातक बन जाता है । राष्ट्रवाद विश्व शान्ति के लिए खतरा पैदा करता है । प्रजातन्त्र पूंजीवाद के मेल से शोषण का कारण बन गया । पूंजीवाद को समाप्त कर समाजवाद आया तो प्रजातन्त्र तथा उसके साथ ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की ही बलि ले ली । अतः आज पश्चिम के सामने यह प्रश्न खड़ा है कि इन सब अच्छी बातों का तालमेल कैसे बैठाया जाए ?"[2]

पण्ड़ित दीनदयाल जी ने तत्कालीन प्रचलित विचारधाराओं की समीक्षा करने के बाद इस निष्कर्ष पर पंहुचे कि विश्व में कोई भी ऐसी विचारधारा नहीं है । जो हमारे देश के लिए पूर्णतः उपयोगी हो सके ।

"निसन्देह आज विश्व से हम कुछ लें, परन्तु विश्व ऐसी स्थिति में नहीं है

---

1. राष्ट्रवाद की सही कल्पना — पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
   एकात्म मानवदर्शन — पृष्ठ - 10

2. राष्ट्रवाद की सही कल्पना — पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
   एकात्म मानवदर्शन — पृष्ठ - 11

कि हमारा कुछ मार्गदर्शन कर सके । वह तो स्वयं चौराहे पर है । ऐसी अवस्था में हम उससे किसी प्रकार का मार्गदर्शन नही पा सकते ।"[1]

साथ साथ पण्ड़ित जी ने यह भी कहा कि मान लो हम विश्व की किसी विचारधारा को अपने देश में लागू भी करें तो क्या वह हमारे देश के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकेगा ? क्यों कि प्रत्येक देश की अपनी अलग ऐतिहासिक सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियां होती हैं और वह अपनी इस बात को पुष्ट करने के लिए एक उदाहरण भी देते थे कि "विश्व भर में मनुष्यों के शरीर के अंगों की क्रिया समान होते हुए भी जो औषधि इंग्लैण्ड में कारगर होती है वह भारत में भी उपयोगी सिद्ध होगी यह निर्विवाद नहीं कहा जा सकता ।

......यद्देशस्य यो जन्तुः तद्देशस्य तस्यौषधम् ।"[2]

दीनदयाल जी के मन में अपने राष्ट्र जीवन के बारे में गहन विचार मन्थन चल रहा था । राष्ट्र के लिए भावी दिशा क्या हो सकती है ? क्या यूरोपीय विचार हमारे लिए खरे उतर सकते हैं जो यूरोप के लिए भी उपयुक्त नहीं रह सके जो समय की कसौटी पर टिक नहीं सके जिन्हें कालजयी नहीं कहा जा सकता है ऐसे विचार या सिद्धान्त भारत के भविष्य का निर्माण कर सकते हैं क्या ? ऐसे तमाम प्रश्नों का उत्तर खोजने की उत्कट इच्छा से पण्ड़ित जी की दृष्टि भारतीय संस्कृति की ओर आकृष्ट हुई ।

"आज विश्व किंकर्त्तव्य विमूढ़ है उसे मार्ग नहीं दीख रहा है कि वह कहां जाय । पश्चिम आज इस अवस्था में नहीं कि वह निर्विवाद रूप से आत्म विश्वास पूर्वक यह कह सके कि 'नान्यः पन्थाः ।' वे स्वयं मार्ग टटोल रहे हैं । अतः उनका अन्धानुकरण करने से तो अन्धेन नीयमाना यथान्धाः की ही उक्ति चरितार्थ होगी । इस परिस्थिति में हमारी दृष्टि भारतीय संस्कृति की ओर जाती है ।"[3]

पण्ड़ित दीनदयाल जी इस बात से पर्याप्त आशान्वित थे कि भारतीय संस्कृति

---

1. राष्ट्रवाद की सही कल्पना एकात्म मानवदर्शन पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ - 12
2. एकात्म मानववाद एकात्म मानवदर्शन पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ - 15
3. एकात्म मानववाद एकात्म मानवदर्शन पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ - 17

शायद सम्पूर्ण विश्व की मानवता के लिए उपयुक्त सिद्ध हो सकती है । क्योंकि "सर्वे भवन्तु सुखिनः" और "कृण्वन्तों विश्वमार्यम्" इस संस्कृति का सन्देश है । फिर राष्ट्र के लिए यह उपयुक्त होगी ही । पण्ड़ित दीनदयाल जी उपाध्याय की एकात्म मानववाद की अवधारणा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के 'शुद्ध राष्ट्रवाद' से पूर्णतः प्रभावित है । पण्ड़ित जी प्रखर राष्ट्रवादी होने के नाते भारतीय संस्कृति के प्रति स्वाभिमान का भाव रखते थे । अतः भारतीय संस्कृति अर्थात हिन्दू संस्कृति के आधार पर भारत का नवनिर्माण करना चाहते थे और पण्ड़ित जवाहर लाल नेहरू के पश्चिम प्रभावित 'लोकतान्त्रिक समाजवाद' के आधार पर चलने वाली कांग्रेस के समानान्तर एक राष्ट्रवादी विकल्प उत्पन्न करना चाहते थे । वह पश्चिम की विकृति के प्रति ज्यादा सावधान थे । इसीलिए भारतीय संस्कृति को अपने चिन्तन का आधार बनाया वे भारतीय संस्कृति की निरन्तरता के हामी थे । उनका एकात्म मानवदर्शन भारतीयता परक चिन्तन एवं कांग्रेस द्वारा प्रतिपादित मिश्रित राष्ट्रवाद तथा पाश्चात्य वैचारिकदर्शन की प्रतिक्रिया का परिणाम है । उन्होंने भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल विचारों का प्रतिपादन किया है तथा उसके अन्दर आये हुए दोषों को विदेशी सम्पर्क के कुपरिणामों की श्रेणी में रखा है । उन्होंने जिस प्रकार से पाश्चात्य संस्कृति के तत्वों का विवेचन किया उसी प्रकार भारतीय संस्कृति की तत्वतः विवेचना करके उसकी राष्ट्रीय उपादेयता सिद्ध करने का प्रयास 'एकात्म मानववाद' में किया है ।

भारतीय संस्कृति एकात्मवादी है -

"भारतीय संस्कृति की पहली विशेषता यह है कि वह सम्पूर्ण जीवन का सम्पूर्ण सृष्टि का संकलित विचार करती है । उसका दृष्टिकोण एकात्मवादी है । टुकड़ों-टुकड़ों में विचार करना विशेषज्ञ की दृष्टि से ठीक हो सकता है । परन्तु व्यवहारिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं है । पश्चिम की समस्या का मुख्य कारण उनका जीवन का सम्बन्ध में खण्डशः विचार करना तथा उन सबको थेगली लगाकर जोड़ने का प्रयत्न है ।"[1]

पाश्चात्य संस्कृति में मनुष्य को परिस्थितियों के अनुसार मान्यता प्रदान की गयी है । कहीं उसे राजनैतिक, कहीं शारीरिक तो कहीं आर्थिक प्राणी के रूप में परिभाषित

---

1. एकात्म मानववाद — पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
एकात्म मानवदर्शन — पृष्ठ - 18

किया गया है । "पश्चिम में जो कष्ट पैदा हुआ है । उसका कारण यह है कि उन्होंने मनुष्य के एक-एक खण्ड का विचार किया । प्रजातन्त्र का आन्दोलन चला तो उन्होंने मनुष्य को कहा कि 'मैन इज ए पोलिटिकल एनीमल' इसकी राजनीतिक आकांक्षा की तृप्ति होनी चाहिए ।"[1] उन्होंने मनुष्य को रोटी मय बना दिया । सर्वाधिक प्रगतिशील देश अमेरिका में मनुष्य को भौतिक और आर्थिक प्राणी के रूप में परिभाषित किया गया और वहां कहा गया कि यदि व्यक्ति की आर्थिक एवं भौतिक उन्नति हो गयी तो उसे सुख की प्राप्ति होगी किन्तु वहां आर्थिक और भौतिक उन्नति के वावजूद सुख का अभाव है लोगों की नींद गायब हो गयी । अतः पाश्चात्य देशों में व्यक्ति के सभी पहलुओं को ध्यान में रखकर संगठित एवं एकात्म रूप में विचार नहीं किया गया । इसके विपरीत पण्ड़ित दीनदयाल जी ने भारतीय संस्कृति पर आधारित 'एकात्म मानववाद' के रूप में हमें ऐसा विकल्प दिया जो व्यक्ति को केवल राजनैतिक प्राणी या आर्थिक प्राणी न मानकर तथा समाज को किसी विशेष उत्पादन प्रणाली का विष्ट - प्रेषण करने वाला जनसमूह न मानकर इसको एक जीवमान संकल्पना के रूप में ग्रहण करता है ।

'एकात्म मानववाद' में मानव के समग्र जीवन के सम्बन्ध में विचार करते हुए पण्ड़ित दीनदयाल जी ने बताया कि जीवित रहने की इच्छा ही मानव की प्रमुख स्वाभाविक प्रबृत्ति है जीवित रहने की ही नहीं तो फिर दीर्घ एवं 'सुखी' जीवन व्यतीत करना उसका लक्ष्य रहता है । सुख भी केवल इन्द्रिय सुख या एकांगी नहीं उसे शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का सुख चाहिए क्योंकि हमारी संस्कृति ने मनुष्य को शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का समुच्चय माना है । इसलिए एकांगी सुख से काम नहीं चलेगा । कईबार ऐसे अवसर आते हैं कि जब हम इन्द्रिय सुख की वस्तु को त्याग देते हैं । उदाहरण के लिए भोजन से हमें इन्द्रिय सुख मिलता है । लेकिन अपने शत्रु के घर हम भोजन नहीं कर सकते क्योंकि हमारा मन गवाही नहीं देता मन को सुख नहीं प्राप्त होता । यह तो भावना का प्रश्न है । जैसे - 'उद्धव मन माने की बात' अर्थात् अपने अपने मन का प्रश्न है । इसके साथ मनुष्य के पास बुद्धि भी है मन तो चंचल होता है सुख की दौड़ में उचित अनुचित विचार करना बुद्धि का कार्य है । किसी उलझे हुए प्रश्न का उत्तर मिल

---

1. एकात्म मानववाद — पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
एकात्म मानवदर्शन — पृष्ठ - 24

जाने से ब्यक्ति का मुखमण्डल खिल उठता है यही बुद्धि का सुख है"तथापि बुद्धि का सुख अन्तिम चिरानन्द सुख नही है बुद्धि से भी ऊपर आत्मा का सुख है माँ बच्चे को गोद में लेकर आत्मिक सुख का अनुभव करती है । यह आत्मा की विशालता का सुख है । इस सुख के सामने सभी सुख तुच्छ हैं । ..... इस प्रकार शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा चारो प्रकार के सुख की वृद्धि ही जीवन लक्ष्य है ।"[1]

सुख प्राप्ति के लिए जो साधन है उन्हें हम 'पुरुषार्थ' कहते हैं । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । ये चारों पुरुषार्थ एक दूसरे के पूरक होते हैं । अर्थ पुरुषार्थ शरीर के लिए धर्म पुरुषार्थ समाज के लिए काम पुरुषार्थ कामना के लिए और मोक्ष पुरुषार्थ आत्मा के लिए अर्थात् इन चारो पुरुषार्थों के समावेश से ही मनुष्य उन्नति कर सकता है । धर्म मुख्य एवं आधारभूत पुरुषार्थ माना गया है । धर्म से अर्थ की प्राप्ति उपयुक्त मानी गयी है राज्य का आधार भी धर्म ही होना चाहिए क्योंकि बिना धर्म के कोई भी समाज चिरजीवी नहीं रह सकता । काम पुरुषार्थ भी धर्माधारित ही होना चाहिए अन्यथा उश्रं:खलता और स्वैराचरण बढ़ेगा जिससे समाज के पथ भ्रष्ट होने की संभावनाएं उत्पन्न होंगी ।

अर्थ पुरुषार्थ धर्म के समान ही अत्यन्त महत्वपूर्ण है । हमारे यहां यह स्वीकार किया गया है कि अर्थ के धर्म का ह्रास होता है । अतः अर्थ का नहीं होने देना चाहिए । आर्थिक विपन्नता और आर्थिक विषमता दोनों ऐसे विष हैं जो राष्ट्र की उदीयमान ऊर्जा को नष्ट कर डालते हैं । कवि नीरज ने एक स्थान पर लिखा है -

तन की हवस मन को गुनहगार बना देती है ।
बाग के बाग को वीरान बना देती है ।
भूखे पेट को देशभक्ति सिखाने वालो
भूख तो इन्सान को गद्दार बना देती है ।

ठीक इसी प्रकार धन का प्रभाव (आधिक्य) भी समाज के लिए घातक है । व्यक्ति व्यक्ति के विलासी एवं आलसी बनने की संभावना बनी रहती है और अधिक धन कमाने की लालसा

---

1. राष्ट्रजीवन की दिशा, परम सुख का मार्ग.
सम्पादक, रमाशंकर अग्निहोत्री, भानु प्रताप शुक्ल
पृष्ठ - 18

से नाना प्रकार के पाप करने लग जाता है । इस प्रकार धन के उत्पादन और उपभोग का सन्तुलन ठीक रखने के लिए अर्थव्यवस्था सुदृढ़ होनी चाहिए और इसके लिए शिक्षित तथा संस्कारित एवं दैवी गुणों से युक्त व्यक्तियों का निर्माण आवश्यक बताया गया है । प्राणायाम की भाँति अर्थायाम सामाजिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है । अर्थ के अन्तर्गत् ही राजनीति और दण्डनीति आती है । शासन में दण्ड़ की कमी से निरंकुशता एवं अधिकता से विद्रोह का भय बना रहता है ।

काम पुरुषार्थ के बारे में हमारे यहां गीता में श्री कृष्ण ने कहा हे अर्जुन

"धर्माविरू द्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ"[1]

मोक्ष को हमने परम पुरुषार्थ स्वीकार किया है ।

उपरोक्त समस्त पुरुषार्थों को लोकसग्रह के विचार से निष्काम भाव से करने वाला व्यक्ति कर्मबन्धन से छूटकर मोक्ष को प्राप्त होता है ।

"सर्वधर्मान्यपरित्यज्य मामेकं शरणंव्रज ।

अहं त्वां सर्व पापेम्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः ।।"[2]

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने व्यक्तिवाद की तुलना में समष्टिवाद की वरीयता दी यह सवर्था उचित भी है । लेकिन इसका तात्पर्य व्यक्तिवाद को हीन बनाना नहीं है । व्यक्तिवाद और समष्टिवाद विशद् व्याख्या करने के बाद उन्होंने इन दोनों वर्गों में समन्वय की आवश्यकता पर जोर दिया । इस सम्बन्ध में उनका मत है कि व्यक्ति को गुणवान् शक्तिवान् बनना चाहिए अपनी शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक शक्तियों का विकास करना चाहिए । अपनी छवि बनाने के लिए कर्म के मार्ग का अनुकरण करना चाहिए यह सब व्यक्ति के लिए बीरोचित है । अभीष्ट है परन्तु इस व्यक्ति को संघ से जुड़ा रहना चाहिए । संघ के समाज से और राष्ट्र सम्बद्ध होकर ही वह अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकेगा । संघ बनाकर न रहने से अथवा पृथक् पृथक् रहने से व्यक्ति और संघ दोनों की अवनति होगी, विनाश होगा । इसलिए पण्ड़ित जी कहते थे कि व्यष्टि और समष्टि यदि सूक्ष्म है तो समष्टि विराट् है व्यक्ति यदि बूंद है तो समष्टि सागर है ।

---

1. श्रीमद् भगवत्गीता अध्याय - 7 श्लोक - 11

2. श्रीमद् भगवत्गीता अध्याय - 18 श्लोक 66

समाज रचना के सम्बन्ध में दीनदयाल जी की 'चिति' अवधारणा एक श्रेष्ठ देन है । उनके अनुसार जैसे व्यक्ति के एक आत्मा होती है । वैसे ही समाज की भी कोई आत्मा है । उसमें भी कोई चैतन्य भाव है और इस चिति का प्रकटीकरण इसका सम्यक् रूप से अनुभव ही समाज को स्वस्थ एवं गतिमान बनाता है । यह चिति ही उसके विराट् रूप को प्रदर्शित करती है । यही समाज को ठीक प्रकार से संचालित कर सकती है । उसके ताप को ठीक प्रकार से नियन्त्रित कर सकती है और समाज को समाज रूप में अपनी स्थिति बनाये रखने में समर्थ करती है । जैसे आत्मा एक भावात्मक संबोध है । वैसे ही चिति भी एक भावात्मक संबोध है उसको आप स्थूल रूप में पकड़ना चाहे, मुट्ठी में बन्द करना चाहे तो कठिन होगा किन्तु बिना आत्मा के मनुष्य की कल्पना भारतवर्ष में करना तो कठिन है । इसी प्रकार समाज की भी चिति का इस चैतन्य तत्व का समाज के रूप में रहने की इस नैसर्गिक इच्छा का अनुभव करना ही सम्भव होगा किन्तु उसको पकड़कर किसी एक स्थूल रूप में दिखा पाना कठिन होगा । दीनदयाल जी का यह विश्लेषण था कि सामाजिक चेतना को इस चैतन्य को यदि समाज में नहीं बनाये रखा जाता तो समाज अपनी सारी मूल प्रकृति को खो बैठता है ।

चिति के बारे में सरलता पूर्वक समझाने के लिए उन्होंने उदाहरण प्रस्तुत किया है - "युद्धिष्ठिर के लिए सम्मान और दुर्योधन के लिए अनादर राजनीतिक कारणों से नहीं है कृष्ण भगवान ने कंस को पछाड़ दिया, मामा की हत्या की, उस समय के राजा को हटाया । परन्तु कृष्ण को भगवान का अवतार मानते हैं और कंस को हम असुर कहते हैं यह क्यों ? इसका निर्णायक यदि कुछ है तो यह कि वह हमारे मन की प्रकृति या 'चिति' थी उसके अनुकूल जो हुआ उसे हम संस्कृति में जोड़ते गए । वे तो हमारे ऊपर संस्कार करने वाली बातें हैं और उसके प्रतिकूल चलने वाली बातों को हमने विकृति कहा । जो हमारे अनुकूल नहीं हो सकती हमने उन बातों को छोड़ दिया । उस इतिहास को हमने अपना नहीं माना । 'चिति' वह मापदण्ड है जिससे हर वस्तु को मान्य अथवा अमान्य किया जाता है । यही राष्ट्र की आत्मा है । इसी आत्मा के आधार पर राष्ट्र खड़ा होता है और यही आत्मा राष्ट्र के प्रत्येक श्रेष्ठ व्यक्ति के आचरण द्वारा प्रकट होता है ।"[1]

---

1. व्यष्टि और समष्टि में समरसता, एकात्म मानवदर्शन — पण्डित दीनदयाल उपाध्याय, पृष्ठ - 36

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने 'राज्य' को जीवन का केन्द्र नहीं माना उनका कहना है कि भारतीय संस्कृति संघर्षवादी नहीं वरन् समन्वयवादी है । हर व्यक्ति अपनी कल्पना के अनुसार ईश्वर की आराधना करने के लिए स्वतन्त्र है । यहां नास्तिक लोग भी अपने जैसे स्वीकार किये जाते हैं । सम्पत्तिके विषय में पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने व्यक्तिवाद या राज्य के स्थान पर 'न्यास' सिद्धान्त को भारत की विशेषता बताया भारतीय संस्कृति को उन्होंने विश्ववादी बताते हुए यह स्पष्ट किया कि विश्ववाद अन्तर्राष्ट्रीयता वाद से भिन्न है । भारतीय संस्कृति को उन्होंने संस्कार वादी बताया ।

सामान्यतः अपने विभिन्न लेखों व भाषणों में दीनदयाल उपाध्याय ने भारतीय संस्कृति को उपरोक्त प्रकार से वर्णित किया है लेकिन वे भारत की कमजोरियों के प्रति भी सचेत थे । एकांगिता कालवाह्यता तथा निहित स्वार्थता के अनेक रोग भारत को अन्दर से खोखला कर रहे हैं । अतः वह सांस्कृतिक श्रेष्ठता के नाम पर यथास्थितिवाद के विरूद्ध थे । उन्होंने लिखा है-

"हमने अपनी प्राचीन संस्कृति का विचार किया है लेकिन हम कोई पुरातत्ववेत्ता नहीं हैं । हम किसी पुरातत्व संग्रहालय के संरक्षक बनकर नहीं बैठना चाहते । हमारा ध्येय संस्कृति का संरक्षण नहीं अपितु उसे गति देकर सजीव व सक्षम बनाना है । ...... हमें अनेक रूढ़ियां समाप्त करनी होगी, बहुत से सुधार करने होंगे । .... आज यदि समाज में छुआछूत और भेदभाव घर कर गये हैं । जिनके कारण लोग मानव को मानव समझकर नहीं चलते और जो राष्ट्र की सफलता के लिए घातक सिद्ध हो रहे हैं । हम उनको समाप्त करेंगे ।"[1]

दीनदयाल उपाध्याय पश्चिम की विकृति के प्रति सावधान थे । भारतीय संस्कृति के उपासक थे, उनकी भारतीय प्रकृति समन्वय दृष्टि वाली थी । अतः न वे किसी विदेशी विचार को एकदम हेय मानते थे तथा न ही हर विदेशी वरेण्य । उनका सूत्र था "हम मानव के ज्ञान और उपलब्धियों का संकलित विचार करें । - ---------

इन तत्वों में जो हमारा है उसे युगानुकूल और जो बाहर का है उसे देशानुकूल

---

1. राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल अर्थरचना
   एकात्म मानव दर्शन पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ - 74

ढालकर आगे चलने का विचार करें ।"[1] स्वदेशी को युगानुकूल व विदेशी को स्वदेशानुकूल बनाने की अपनी मानसिकता के कारण उन्होंने कहा "हम भारत को न तो किसी पुराने समय की प्रतिच्छाया बनाना चाहते हैं और न रूस या अमेरिका की अनुकृति ।"[2]

बम्बई के अपने ऐतिहासिक भाषण में पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने 'एकात्म मानववाद' की भावपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत की - समापन अंश में उन्होंने कहा -

"विश्व का ज्ञान और आज तक की अपनी सम्पूर्ण परम्परा के आधार पर हम ऐसे भारत का निर्माण करेंगे, जो हमारे पूर्वजों के भारत से भी अधिक गौरवशाली होगा, जिसमें जन्मा मानव अपने व्यक्तित्व का विकास करता हुआ सम्पूर्ण मानवता ही नहीं अपितु सृष्टि के साथ एकात्मता का साक्षात्कार कर 'नर से नारायण' बनने में समर्थ हो सकेगा । यह हमारी संस्कृति का शाश्वत दैवी और प्रवाहमान रूप है । चौराहे पर खड़े विश्व मानव के लिए यही हमारा दिग्दर्शन है । भगवान हमें शक्ति दे कि हम इस कार्य में सफल हों, यही प्रार्थना है ।"[3]

---

1. एकात्म मानववाद पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय — पृष्ठ - 15
2. राष्ट्र जीवन के अनुकूल अर्थरचना — एकात्म मानवदर्शन, पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय — पृष्ठ - 73
3. राष्ट्रजीवन के अनुकूल अर्थरचना — एकात्म मानवदर्शन, पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय — पृष्ठ - 76

(थ) दरिद्र नारायण के उपासक -

आज समाज के चारो ओर दुःख है, निराशा है, दरिद्रता, असन्तोष है । इसका कारण यह है कि हम यज्ञ तत्व को बिल्कुल भुला बैठे हैं । एक व्यक्ति भोग विलास में रत् है और उसका पडोसी भूखों मर रहा है । यह यज्ञ तत्व नहीं है । वैदिक शास्त्र में कहा गया है कि जो व्यक्ति अपने भाई-बहनों को कुछ नहीं देता है और अपना ही ख्याल रखता है । उसके पास की धनराशि व्यर्थ है, वह पाप रूप है । महाभारत के 'शान्ति' पर्व में युधिष्ठिर को राजनीति बतलाते हुए भीष्म पितामह कहते हैं – "दरिद्रान् भर कौन्तेय" अर्थात् कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर ! दरिद्रों का भरण-भोषण करो । जो गड्ढे हैं उन्हें भर देना चाहिए । इस सम्बन्ध जल का उदाहरण दिया जाता है जल का धर्म गड्ढ़ो को भरना है । सतह को बराबर रखना हम किसी तालाब से एक बाल्टी पानी भरते हैं जिस स्थान से पानी भरते हैं , वहां एक गड्ढ़ा हो जाता है । आसपास जल बिन्दुओं को वह गड्ढ़ा अच्छा नहीं लगता । वे दौड़े हुए आते हैं और उस गड्ढ़े को भर देते हैं । ऐसी ही यज्ञ भावना समाज की होनी चाहिए ।

स्वामी विवेकानन्द ने भी द्ररिद्र नारायण की सेवा को सबसे उत्तम कार्य माना है । उन्होंने कहा है, "वास्तव में यदि किसी रूप की पूजा करनी है तो अपनी हैसियत के अनुसार प्रतिदिन छः या बारह दरिद्रों को अपने घर लाकर उन्हें नारायण समझकर उनकी सेवा करना अच्छा है ।

अतः मेरे मत से यदि इस प्रकार नई पूजा पद्धति प्रचलित की जाए तो बड़ा अच्छा हो कुछ दरिद्र नारायण, अन्ध नारायण या क्षुधार्त नारायण प्रतिदिन प्रतिगृह में लाना एवं प्रतिभा की जिस प्रकार पूजा की जाती है उसी प्रकार उनकी भी भोजन वस्त्रादि के द्वारा पूजा करना । मैं किसी प्रकार की उपासना या पूजा पद्धति की न तो निन्दा करता हूँ और न किसी को बुरा बताता हूँ बल्कि मेरे कहने का सारांश यही है कि इस प्रकार की नारायण पूजा सर्वश्रेष्ठ पूजा है और भारत के लिए इसी पूजा की सबसे आवश्यकता है ।"[1]

---

1. भारतीय व्याख्यान "भक्ति"
स्वामी विवेकानन्द पृष्ठ - 337
प्रकाशक स्वामी व्योमरूपानन्द
अध्यक्ष रामकृष्ण मठ, धन्तोली नागपुर

वास्तव में कोई भी राजनीति तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक एक भी व्यक्ति भूखा सोने के लिए मजबूर हो राम राज्य का यशोगान हम इसीलिए गाते हैं कि उस समय एक भी व्यक्ति दुःखी या दरिद्र नहीं था । तुलसी ने राम राज्य का वर्णन करते हुए कहा है

"राम राज्य बैठे त्रैलोका । हर्षित भए गए सब सोका ।।"[1]

× × × × × ×

"नहीं दरिद्र कोऊ दुःखी न दीना"

भारतीय संस्कृति के आधुनिक प्रवक्ता पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय के सम्बन्ध में "यथा नाम तथा गुण" की उक्ति चरितार्थ होती है । दीनदयाल अर्थात् दीनों पर दया करने वाले । पण्ड़ित दीनदयाल स्वयं जन्मतः अनिकेत थे । गरीबी की पीड़ा स्वयं उन्होंने सहन की थी उनका पूरा परिवार आर्थिक विपन्नता के कारण ही नष्ट हुआ था । अतः गरीबों, निराश्रतों, दरिद्रों के प्रति उनका स्वाभाविक लगाव था उनका मानना था कि "दरिद्र नारायण" ही हमारे आराध्य देव है । दीनदयाल जी का मानना था कि "आर्थिक प्रगति का माप समाज में ऊपर की सीढ़ी पर पंहुचे हुए व्यक्ति से नहीं अपितु सब से नीचे स्तर पर जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति से होनी चाहिए ।" 2

उनका कहना था "मैले कुचैले अनपढ़ लोग हमारे नारायण हैं । हमें इनकी पूजा करनी है । यह हमारा सामाजिक एवं मानवीय धर्म है । जिसदिन हम इनको पक्के सुन्दर सम्पन्न घर बनाकर देंगे, जिसदिन हम इनके बच्चों, स्त्रियों को शिक्षा और जीवन दर्शन का ज्ञान देंगे, जिसदिन हम इनके हाथ और पांवों की विवाइयों को भरेंगे और जिसदिन इनको उद्योगों और धन्धों की शिक्षा देकर इनकी आय को ऊँचा उठा देंगे । उसीदिन हमारा मातृत्व भाव व्यक्त होगा ।" 3

उनके उपरोक्त विचारों से यह ज्ञान होता है कि गरीबों, निर्धनों और असहाय व्यक्तियों के लिए उनके हृदय में अपार श्रद्धा थी । अत्यन्त ममत्व था और उनको उपर उठाने

---

1. रामचरित मान्स उत्तर काण्ड — पृष्ठ - 60, 7, 8, गोस्वामी तुलसीदास कृत, गीता प्रेस, गोरखपुर
2. जनसंघ कालीकट अधिवेशन अध्यक्षीय भाषण
3. जनसंघ कालीकट अधिवेशन अध्यक्षीय भाषण

की तीव्र उतकण्ठा थी । अतः निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि पण्ड़ित जी 'अन्त्योदय' के प्रबल पक्षधर थे । पण्ड़ित दीनदयाल जी की आर्थिक परिकल्पना का आधार करोड़ों भूखे नंगे इंसान है । भारतीय संस्कृति में वर्णित पूर्ण मनुष्य की परिकल्पना इन्हीं में निहित है । इसके लिए भारतीय दर्शन की समग्रता में मनुष्य समाज और सत्ता के मूल तत्वों का आधुनिक रूप में विश्लेषण कर उपाध्याय जी ने नई दिशा का संकेत किया । वे अपने आग्रह के बारे में बार-बार संकेत किया करते थे "कि जिनके सामने रोटी का सवाल है जिन्हें न रहने को मकान है न तन ढ़कने के लिए कपड़ा । अपने मैले कुचैले बच्चों के बीच आज वे दम तोड़ रहे हैं । गांवों और शहरों में करोड़ों निराश भाई बहनों को सुखी और सम्पन्न बनाना हमारा व्रत है संकल्प है ।"[1]

जब पण्ड़ित जी जनसंघ में नहीं आए थे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के उत्तर प्रदेश के प्रचारक थे । उस समय संघ पर 'पूंजीवादी' होने का आरोप कई राजनीतिज्ञों एवं राजनीतिक दलों ने लगाया था । इसका उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था "संघ पूंजीपति एवं जमींदारों को बनाए रखना चाहता है, इस प्रकार से सोचना निरी मूर्खता है । क्या केवल मुट्ठी भर जमींदारों को बनाए रखने के लिए देश के लाखों सुशिक्षित नौजवान रात दिन सर्वस्व त्यागकर कार्य करेंगे ?"[2]

जनसंघ के महामन्त्री के नाते जनसंघ के आर्थिक कार्यक्रम की दृष्टि से 24 जुलाई 1953 को उन्होंने एक सार्वजनिक वक्तव्य में कहा - "हमारा आर्थिक कार्यक्रम बिल्कुल समाजवादी है वर्तमान आर्थिक ढ़ांचे में दिखने वाली आय व्यय विषयक विषमता को नष्ट करने के लिए वद्धपरिकर है । अतएव न्यूनतम् तथा अधिकतम् आय के मध्य हम एक और बीस का अनुपात बैठाना चाहते हैं । हम न केवल आधारभूत उद्योगों का राष्ट्रीयकरण चाहते हैं बल्कि उन उद्योगों पर भी यह सिद्धान्त लागू करना उचित समझते हैं, जिनपर कुछ मुट्ठी भर लोगों का एकाधिकार हो जाता है । आर्थिक व राजनीतिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण हमारा मुख्य सिद्धान्त है ।"[3]

सन् 1955 में कानपुर के सूती मिल मजदूरों ने मशीनीकरण के विरूद्ध हड़ताल की । इस हड़ताल का समर्थन करते हुए उपाध्याय ने पूंजीवाद व अभिनवीकरण के सम्बन्धों

1. जनसंघ कालीकट अधिवेशन — अध्यक्षीय भाषण पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
2. मुट्ठी भर जमींदारों के लिए लाखों तरुण तपस्या नहीं कर रहे :
   कुसुम्बी 14 नवम्बर सहप्रान्त प्रचारक (उ.प्र. दीनदयाल उपाध्याय का भाषण)
   पाञ्चजन्य नवम्बर 1994
3. 24 जुलाई 1953 को लखनऊ की सार्वजनिक सभायें पण्ड़ित जी द्वारा दिए गए भाषण से
   पाञ्चजन्य 27 जुलाई 1953 पृष्ठ 8, 9

की ब्याख्या करते हुए कहा - "अभिनवीकरण का प्रश्न जटिल है तथा केवल मजदूरों तक सीमित नहीं हैं अपितु अखिल भारतीय हैं । वास्तव में तो बड़े उद्योगों की स्थापना एवं पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था का आधार ही अभिनवीकरण है । आज का विज्ञान निरन्तर प्रयास कर रहा है ऐसे यन्त्रों के निर्माण करने का जिनके द्वारा मनुष्यों का कम से कम उपयोग हो । जहां जनसंख्या कम है तथा उत्पादन के लिए पर्याप्त बाजार है वहां ये नये यन्त्र वरदान सिद्ध होते हैं । हमारे यहां हर एक नया यन्त्र बेकारी लेकर आता है ।"[1]

दिल्ली में दुकानहीन विक्रेताओं की समस्याओं पर दीनदयाल उपाध्याय ने एक सर्वेक्षणात्मक निबन्ध लिखा जिसमें उन्होंने यह मत व्यक्त किया - "शायद जितने दुकानदार हैं उनसे ज्यादा संख्या ऐसे लोगों की है जो बिना किसी दुकान के खोमचों, रहेड़ियो तथा ठेलों के सहारे अपनी जीविका चलाते हैं । दिल्ली नगर पालिका के उपनियमों के अनुसार इन लोगों को पटरियों पर बैठकर सामान बेचने की इजाजत नहीं है । दिल्ली में अधिकारियों के सामने ट्राफिक की ज्यादा समस्या है क्योंकि इन पटरी वालों और खोमचे वालों के कारण सड़क पर इतनी भीड़ हो जाती है कि मोटर आदि का निकलना ही दुष्कर हो जाता है फिर दुकानदारों को भी शिकायत है । सामने पटरी पर बैठे ब्यापारियों के कारण उनकी दुकानदारी में बाधा पहुंचती है । नगर के सौन्दर्य का भी प्रश्न है । टूटे-फूटे ठेलों और गन्दे खोमचों में राजधानी की सड़कों का सौन्दर्य मारा जाता है । फलतः दिल्ली सरकार ने पटरी वालों के खिलाफ जोरदार मुहिम छेड़ दी है ...... आज देश में जिस प्रकार भूमिहीन किसानों की समस्या है वैसे ही दुकानहीन ब्यापारियों की समस्या है । हमें उनका हल ढूढ़ना होगा ।"[2]

देश में उत्पन्न बेरोजगारी और बेरोजगारी से उत्पन्न दरिद्रता के बारे में पण्ड़ित दीनदयाल जी अत्यन्त चिन्तित थे । वे मशीनीकरण के विरूद्ध न होते हुए भी श्रम के बेकार होने के बिल्कुल खिलाफ थे । उनका कहना था कि सादियों से शिक्षा तथा संस्कारों में पिछड़े और दरिद्रता से पीड़ित लोगों को अपनी प्रगति के लिए विशेष सुविधाऐं उपलब्ध करा देनी चाहिए । लेकिन वह इस बात से भी सावधान रहने का संकेत करते थे कि कोई पिछड़ेपन का गलत फायदा

1. विचार वीथी - कानपुर सूती मिल मजदूरों की हड़ताल पांञ्चजन्य 11 जुलाई 1955 पृष्ठ - 4
2. विचार-वीथी - "पटरियों पर बैठने वाले विक्रेताओं की समस्याएं" पाञ्चजन्य 18 जुलाई 1955 पृष्ठ - 4 पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

भी न उठा सके । शासन के नियमों को भी ऐसा बनाया जाना चाहिए जिससे सबसे नीचे बैठे आदमी को ऊँचा उठाया जा सके । पण्ड़ित जी कहते थे कि देश के अनपढ़ और दरिद्र लोग ही हमारे नारायण हैं, यही सामाजिक या मानव धर्म है । करोड़ों लोग बेसहारा और अनपढ़ है । ...... इन करोड़ों लोगों को अपने चारो पुरुषार्थो को साधने का अवसर मिले तभी एकात्म मानव की कल्पना साकार होगी ।"[1]

कालीकट के अधिवेशन में पण्ड़ित जी का अध्यक्षीय भाषण उनकी अन्त्योदय की भावना तथा दरिद्रों के प्रति उनके सहज चिन्ता को अक्षरश: व्यक्त करने वाला है ।

"ग्रामों में जहां समय अचल खड़ा है जहां माता-पिता अपने बच्चों के भविष्य को बनाने में असमर्थ है उनके बीच जब तक हम आशा और पुरुषार्थ का सन्देश नहीं पंहुचा पाऐंगे तब तक हम राष्ट्र के चैतन्य को जागृत नहीं कर सकेंगे । हमारी श्रद्धा का केन्द्र आराध्य और उपास्य, हमारे पराक्रम और प्रयत्न का उपकरण तथा उपलब्धियों का मापदण्ड वह मानव होगा जो आज शब्दशः अनिकेत और अपरिग्रही है ।"[2]

---

1. भारतीय जनसंघ - घोषणाऐं भाग - 3
2. कालीकट अधिवेशन अध्यक्षीय भाषण पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

(ड) अविचल ध्येय निष्ठा -

"उन्तिष्ठ जाग्रत् प्राप्य वरान्निबोधत्"

"उठो जागो और लक्ष्य प्राप्ति के पहले मत रुको ।" स्वामी विवेकानन्द के उपरोक्त बोध वाक्य से पण्ड़ित दीनदयाल जी अक्षरशः प्रभावित थे । राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की दिन प्रतिदिन की शाखा में जो प्रार्थना की जाती है उसमें यह पंक्ति आती है - "त दन्तस्फुरत्व -क्षया -ध्येय निष्ठा" "हमारे हृदय में तीव्रध्येय निष्ठा जाग्रत रहे" अब प्रश्न आता है कि हमारे अन्दर एक अविचल ध्येय निष्ठा तो होनी चाहिए लेकिन ध्येय कौन सा होना चाहिए ? तो इसी प्रार्थना में आगे कहा गया है "परम वैभवम् नेतुमेतत् स्वराष्ट्रम्" "अपने इस राष्ट्र को परम वैभव के शिखर में प्रतिस्थापित करने का ।" अर्थात राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रत्येक स्वयंसेवक के हृदय में अपने राष्ट्र को परम् वैभव तक पंहुचाने की तीव्र ध्येय निष्ठा विद्यमान रहती है । इस ध्येय को अक्षय बनाये रखने के लिए जाग्रत रखने के लिए दिन प्रतिदिन की शाखाओं में "प्रार्थना" की अनिवार्यता है ।

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवक होने के नाते पण्ड़ित दीनदयाल जी ईश्वर से 'राष्ट्र के परम् वैभव' हेतु प्रार्थना करते रहे इतना ही नहीं इस ध्येय की प्राप्ति हेतु आजीवन व्रत लेकर अहर्निश तपस्या करते रहे ।

"राष्ट्र का परम वैभव ही पण्ड़ित जी के जीवन का ध्येय था । उन्होंने किसी भी कोटि के वैभव को परम् वैभव नहीं माना । उनका कहना था कि उधार की मांगी हुई सम्पन्नता अथवा परिस्थितियों के दबाव में आकर उठाये गये कदमों की प्रगति को हो यदि हमने राष्ट्र का 'परम् वैभवमान लिया तो इसके परिणाम घातक होंगे । आँख बन्द करके चला तो जा सकता है लेकिन लक्ष्य को प्राप्त करना कठिन होता है तथा रास्ते में भटक कर गिर पड़ने का खतरा भी बना रहता है । इसलिए केवल किसी भी प्रकार के वैभव से काम चलने वाला नहीं धर्म का संरक्षण करते हुए हमारी संगठित कार्य शक्ति राष्ट्र को परम् वैभव पर ले जाने में समर्थ हो । अतः वैभव हमारे अपने राष्ट्रीय पुरुषार्थ से प्राप्त होना चाहिए । इसके लिए सम्पूर्ण राष्ट्र की संगठित कार्यशक्ति होना जरूरी है । जैसे कि स्वामी विवेकानन्द का मत है "हमारी एक मात्र सम्मिलन भूमि है हमारी पवित्र परम्परा, हमारा धर्म । एक मात्र सामान्य आधार वही है उसी पर हमें संगठन

करना है । यूरोप में राजनीतिक विचार ही राष्ट्रीय एकता का कारण है किन्तु एशिया में राष्ट्रीय एकता का आधार धर्म ही है । अतः भारत के भविष्य संगठन की पहली शर्त के तौर पर उस धार्मिक एकता की ही आवश्यकता है । ...... अतः हम देखते हैं कि एशिया और विशेषकर भारत में जाति भाषा समाज सम्बन्धी सभी बाधाएं धर्म की इस एकीकरण शक्ति के सामने उड़ जाती है । हम जानते हैं कि भारतीय मन के लिए धार्मिक आदर्श से बड़ा और कुछ भी नहीं है । धर्म ही भारतीय जीवन का मूल मन्त्र है ।"[1]

इस प्रकार परम वैभव के लिए तीनों की आवश्यकता पर बल देते हुए पण्ड़ित जी ने बताया कि धर्म का आधार हो, हम सब राष्ट्रीय जनों की संगठित शक्ति हो और विजयशालिनी कार्यशक्ति हो तो हम राष्ट्र को परम वैभव के शिखर पर पंहुचाने में समर्थ हो सकेंगे । शरीर में आत्मा का जितना महत्व है उतना ही संगठन में धर्म का स्थान है । धर्म के आधार पर ही समाज कार्य करता है । इसी कारण संगठित कार्यशक्ति जो परिणाम देती है वही प्रगति है वही परम वैभव है ।

"हमने देखा है कि हमारा धर्म ही हमारे तेज, हमारे बल यही नहीं हमारे जीवन का भी मूल आधार है । इस समय मैं यह तर्क-वितर्क करने नहीं जा रहा हूँ कि धर्म उचित है या नहीं सही है या नहीं और अन्त तक यह लाभदायक है या नहीं । किन्तु अच्छा हो, बुरा, धर्म ही हमारे राष्ट्रीय जीवन का प्राण है । तुम उससे निकल नहीं सकते । अभी और चिरकाल के लिये भी तुम्हें उसी का अविलम्ब ग्रहण करना होगा और तुम्हें उसी के आधार पर खड़ा होना होगा । चाहे तुम्हें इस पर उतना विश्वास हो या न हो जो मुझे है । तुम इसी धर्म में बंधे हुये हो और अगर तुम इसे छोड़ दो तो चूर-चूर हो जाओगे । वही हमारी जाति का जीवन है और उसे अवश्य ही सशक्त बनाना होगा । तुम जो युगों के धक्के सहकर भी अक्षय हो, इसका कारण केवल यही है कि धर्म के लिए तुमने बहुत कुछ प्रयत्न किया था, उस पर सब कुछ निछावर किया था । तुम्हारे पूर्वजों ने धर्म रक्षा के लिए सब कुछ साहसपूर्वक सहन किया था मृत्यु को भी उन्होंने हृदय से लगाया था । विदेशी विजेताओं द्वारा मन्दिर के बाद मन्दिर तोड़े गये । परन्तु उस बाढ़ के बह जाने में देर नहीं हुई कि मन्दिर के कलश फिर खड़े हो

---

1. भारत का भविष्य स्वामी विवेकानन्द पृष्ठ - 4-5

गये । दक्षिण के ये ही कुछ पुराने मन्दिर और गुजरात के सोमनाथ के जैसे मन्दिर तुम्हें विपुल ज्ञान प्रदान करेंगे । वे जाति के इतिहास के भीतर वह गहरी अन्तर्दृष्टि देंगे जो ढ़ेरों पुस्तकों से भी नहीं मिल सकती । देखो कि किस तरह मन्दिर सैकड़ों आक्रमणों और सैकड़ों पुनरुत्थानों के चिन्ह धारण किये हुए हैं, ये बार-बार नष्ट हुए और बार-बार ध्वंसावशेष से उठकर नया जीवन प्राप्त करते हुए अब भी पहले ही की तरह अटल रूप से खड़े हैं । इसलिए इस धर्म में ही हमारे राष्ट्र का पन है, हमारे राष्ट्र का जीवन प्रवाह है । इसका अनुसरण करोगे तो यह तुम्हें गौरव की ओर ले जायेगा । इसे छोडोगे तो मृत्यु निश्चित है । अगर तुम उस जीवन प्रवाह से बाहर निकल आये तो मृत्यु ही एक मात्र परिणाम होगा और पूर्ण नाश ही एक मात्र परिणति। मेरे कहने का यह मतलब नहीं कि दूसरी चीज की आवश्यकता ही नहीं, मेरे कहने का यह अर्थ नहीं कि राजनीतिक या सामाजिक उन्नति अनावश्यक है किन्तु मेरा तात्पर्य यही है और मैं तुम्हें सदा इसकी याद दिलाना चाहता हूँ कि ये सब यहां गौण विषय है, मुख्य विषय धर्म है, भारतीय मन धार्मिक है फिर कुछ और ।" [1]

पण्ड़ित जी जबसे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सम्पर्क में आये तभी से राष्ट्र सेवा को उन्होंने अपना ध्येय बना लिया । अपने ध्येय के बीच में वह किसी भी प्रकार की बाधा नहीं पड़ने देना चाहते थे । उनके मामाजी उन्हे नौकरी करने के लिए बाध्य न कर सके । इसलिए उन्होंने अपने सम्पूर्ण अंकपत्र ही जलवा दिए थे । प्रथम श्रेणी में प्रथम अंक प्राप्त करने वाले दीनदयाल जी किसी प्रकार की नौकरी नहीं करना चाहते थे क्योंकि उनका लक्ष्य तो महान् था । उनके जैसा महामानवछोटे-मोटे लक्ष्य की ओर कदम ही नहीं बढ़ाता। उन्होंने स्वामी विवेकानन्द की परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेयष्कर कार्य किया है । उनके मामाजी उनके ऊपर जोर डाल रहे थे कि वे अन्य पढ़े लिखे युवकों की तरह नौकरी आदि करके घर बसाकर रहें । इस सम्बन्ध में उनके मामाजी ने उनको एक पत्र भी लिखा था उसके जवाब में पण्ड़ित जी ने जो पत्र अपने मामाजी को लिखा था, उसमें राष्ट्र के प्रति उनका समर्पण भाव उनकी ध्येय

---

1. भारत का भविष्य स्वामी विवेकानन्द पृष्ठ - 6-7

निष्ठा स्पष्ट दिखाई पड़ती है "आपने मुझे शिक्षा-दीक्षा देकर 'सब प्रकार' से योग्य बनाया क्या आप मुझे समाज के लिए नहीं दे सकते ? .... लोगों ने अपने इकलौते बेटों को सहर्ष सौंप दिया है । फिर आपके पास एक ही जगह तीन-तीन (दो ममेरे) पुत्र हैं, क्या उनमें आप एक भी समाज के लिए नहीं दे सकते ?

पण्ड़ित दीनदयाल जी का राष्ट्र प्रेम ऐसा था कि वे राष्ट्र की सहस्र-सहस्र प्रजाशक्ति को ही वे परमेश्वर का रूप मानते थे । वे कहते थे राष्ट्र ही परमेश्वर है और राष्ट्र की उपासना ही परमेश्वर की उपासना है । उनके यह विचार स्वामी विवेकानन्द के विचारों से एकदम मेल खाते हैं । स्वामी जी ने भी राष्ट्र को ईश्वर से बड़ा मानते हुए कहा है - "आगामी पचास वर्ष के लिए यह जननी जन्म भूमि भारत माता ही हमारी आराध्य देवी बन जाए । तब तक के लिए हमारे मस्तिष्क से व्यर्थ के देवी देवताओं के हट जाने में कोई हानि नहीं है । अपना सारा ध्यान इसी ईश्वर में लगाओ । हमारा देश ही हमारा जाग्रत देवता है । सर्वत्र उसके हाथ हैं । सर्वत्र उसके पैर हैं और सर्वत्र उसके कान हैं । समझ लो कि दूसरे देवी देवता सो रहे हैं । जिन व्यर्थ के देवी देवताओं को हम नहीं देख पाते उनके पीछे तो हम बेकार दौड़े और जिस विराट् देवता को हम अपने चारो ओर देख रहे हैं, उसकी पूजा ही न करें ? जब हम इस प्रत्यक्ष देवता की पूजा कर लेंगें, तभी हम दूसरे देव देवियों की पूजा करने योग्य होंगे, अन्यथा नहीं ।"[1]

कालीकट के अधिवेशन में उन्होंने अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा था, "जिनके सामने रोजी रोटी का सवाल है जिन्हें न रहने के लिए मकान है और न तन ढ़कने के लिए कपड़ा अपने मैले कुचैले बच्चों के बीच दम तोड़ रहे हैं । गांवों और शहरों के उन करोड़ों निराश भाई बहनों को सम्पन्न बनाना हमारा लक्ष्य है । इसी लक्ष्य प्राप्ति के लिए उन्होंने 'चरैवेति' का सिद्धान्त अपनाया । राष्ट्रजीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एकता का निर्माण करके तथा उस एकता के संस्कारों को जीवन में उतारने की परम्परा को पुष्ट करना ही उनका ध्येय रहा । "आज सम्पूर्ण भारत एक आवाज से बोलता है और एक इशारे पर काम करता है । इस एकता में कितनी शक्ति है ।"[2]

---

1. भारत का भविष्य — स्वामी विवेकानन्द — पृष्ठ - 19
2. चन्द्रगुप्त , — पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय — पृष्ठ - 63

परमवैभवशाली राष्ट्र का चित्र सदैव उनकी आँखों के सामने उपस्थित रहता था। अपने इस ध्येय को उन्होंने कभी विस्मृत एवं विचलित नहीं होने दिया। 'चन्द्रगुप्त' नामक पुस्तक में आचार्य चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को ध्येय की स्मृति कराते हुए कहा है "भारत का कल्याण तो भारत की ही शक्ति से होगा। दूसरों की दुर्बलताओं के सहारे हम अब तक जीवित रहेंगे। भारत में शक्तिशाली साम्राज्य स्थापित करने के अपने ध्येय को क्या तुम इतनी जल्दी भूल गये? नहीं इस ध्येय को कैसे भुलाया जा सकता है।"[1] चन्द्रगुप्त ने उत्तर में कहा।

इस प्रकार "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः " की भावना से ओतप्रोत अपने जीवन को 'इदंनमम् राष्ट्राय स्वाहा' कहते हुए समर्पित कर दिया।

जीवन की अवधि अल्प है, पर आत्मा अमर और अनन्त है और मृत्यु अनिवार्य है , इसलिए आओ हम अपने आगे एक महान् आदर्श खड़ा करें और इसके लिए अपने जीवन का उत्सर्ग कर दें। यही हमारा निश्चय हो और वे भगवान जो हमारे शास्त्रों के अनुसार साधुओं के परित्राण के लिए संसार में बार-बार आविर्भूत होते हैं, वे भगवान श्रीकृष्ण हमें आशीर्वाद दें एवं हमारे उद्देश्य की सिद्धि में सहायक हों।"[2]

---

1. भारत का भविष्य स्वामी विवेकानन्द पृष्ठ - 24

(ढ़) उपाध्याय जी के दार्शनिक विचारों की समीक्षा -

पण्ड़ित दीनदयाल जी की विचारधारा किसी एक दर्शन के खूंटे से नहीं बंधी थी । अनेकों दार्शनिकों एवं विचारधाराओं ने पण्ड़ित जी को प्रभावित किया था । मुख्यतः वे सनातन धर्म तथा आदर्शवादी विचारक एवं भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता थे । पण्ड़ित जी रूढ़िवादी विचारों के विरूद्ध तथा भारतीय जीवन दर्शन और पाश्चात्य आधुनिक दर्शन में मेल के हिमायती थे ।

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय दैशिकशास्त्र के प्रबल पक्षधर थे । अतः उन्होंने अपनी अवधारणाओं को प्रतिपादित करने वाली तकनीकि शब्दावली को आग्रह एवं प्रयासपूर्वक प्राचीन भारतीय वाडमय से ही चुना । भारतीय स्वतन्त्रता के प्रश्चात् देश में व्यापक वैचारिक परावलम्बिता की पीड़ा से उनका चिन्तन प्रस्फुटित हुआ और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की राष्ट्रवादी विचारधारा में एकरस हो गया । देश के पुरुषार्थ को सचेत करते हुए उन्होंने जो विचार प्रतिपादित किये वे उनके राष्ट्रीय स्वाभिमान को प्रदर्शित करते हैं ।

"वर्तमान परिस्थिति का सबसे प्रमुख कारण राष्ट्र जीवन की आत्मा का साक्षात्कार न करते हुए उसके ऊपर विदेशी और विजातीय विचारधाराओं तथा जीवन मूल्यों को थोपने का प्रयत्न है । शीघ्र उन्नति की आतुरता में दूसरे देशों का अन्धानुकरण करने और 'स्व' के तिरस्कार की वृत्ति पैदा हुई है । इससे राष्ट्र मानस में कुण्ठा घर कर गयी है ।"[1]

दीनदयाल जी कर्मवादी एवं परमार्थवादी विचारक थे । सृष्टि चक्र की तात्विक व्याख्या करते हुए उन्होंने कर्मवाद व 'परमार्थवाद' को आधार माना है - यथा "दूसरों के लिए जिन्दा रहना प्रकृति की शिक्षा है । यह सृष्टि का चक्र है सम्पूर्ण भूत जगत अन्य से पोषित है अन्य पर्जन्य से उत्पन्न होता है, पर्जन्य या से, यज्ञ ब्रह्मा से, ब्रह्मा अक्षर उत्पन्न है कर्म इन सभी का आधार है । कर्म यज्ञ मय है ।"[2]

व्यष्टि, समष्टि, परमेष्टि, संस्कृति, धर्म चिति विराट राष्ट्र सुख पुरुषार्थ अवधारणायें पण्ड़ित जी ने भारतीय दर्शन परम्परा से प्राप्त की इन्हीं दार्शनिक अवधारणाओं पर उनका सम्पूर्ण

---

1. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय — कर्तव्य एंव विचार, दार्शनिक अवधारणायें, डा. महेश चन्द्र शर्मा पृष्ठ - 348
2. तथैव पृष्ठ - 373

चिन्तन आधारित है । इन्हीं अवधारणाओं को उन्होंने अपने ढ़ंग से परिभाषित किया है । एकात्म मानववाद' के अन्तर्गत इन्हीं प्रत्ययों का उपयोग बार-बार हुआ है । पाश्चात्य विचार श्रंखला की पृष्ठभूमि में आजाद हुए भारत को जिस 'युगानुकूल' व 'स्वदेशानुकूल' विचार दर्शन की आवश्यकता थी । एकात्म मानववाद के रूप में पण्ड़ित दीनदयाल जी ने हमें दिया । उनके ऊपर यह आरोप भी है कि उनकी दार्शनिक अभिधारणाओं में क्रमबद्धता का अभाव है वे अपनी अभिधारणाओं को एक व्यवस्थित दर्शन का आकार दे ही रहे थे कि विधाता ने उन्हें असमय ही अपने पास बुला लिया ।

अध्याय - ४

उपाध्याय जी की शैक्षिक विचार धारा

अध्याय - 4

उपाध्याय जी की शैक्षिक विचारधारा

महान चिन्तक, कर्मयोगी, मनीषी एवं राष्ट्रवादी विचारक पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय का भारत के सामाजिक क्षितिज पर उदय एक महत्वपूर्ण घटना थी । उन्होंने प्राचीन भारतीय जीवन दर्शन के आधार पर सामयिक व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में मौलिक चिन्तन करके दार्शनिक दृष्टिकोण से परिपूर्ण व्यवहारिक व्याख्याऐं दी । अपने आर्थिक सामाजिक तथा राजनीतिक विचारों द्वारा पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने जनसाधारण को ही नहीं बल्कि राजनेताओं तथा विचारकों को भी समान रूप से प्रभावित किया । पण्ड़ित जी का लक्ष्य राष्ट्र को राजनीतिक दृष्टि से सुदृढ़ सामाजिक दृष्टि से उन्नत तथा आर्थिक दृष्टि से समृद्ध करना था । उनका मानना था कि राष्ट्र का सर्वतोन्मुखी विकास समाज कल्याण के द्वारा ही सम्भव है । अतः उन्होंने समाज कल्याण के लिए शिक्षा को सबसे उचित माध्यम के रूप में स्वीकार किया । समाज के महत्वपूर्ण अंग परिवार को सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत करने के लिए नारी शिक्षा को अत्यावश्यक माना । इस प्रकार शिक्षा को उन्होंने ग्रामोन्मुखी पिछड़े कमजोर वर्ग की उत्थानकारी, शारीरिक परिश्रम से युक्त चरित्र एवं नैतिकता से जुड़ी हुई समाज के लिए हितकारी के रूप में स्वीकार किया । कोरी किताबी शिक्षा तथा ज्ञान को उन्होंने वास्तविक शिक्षा नहीं माना । उनका सर्वथा सुस्पष्ट अभिमत था कि शिक्षा का समूचा ढ़ांचा उसकी प्रक्रिया तथा विकास भारतीयता तथा राष्ट्रोपासना पर आधारित होना चाहिए । इसलिए उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में आमूल परिवर्तन की परिकल्पना की है । समाज परिवर्तन की विकासवादी प्रक्रिया को गति देने में शिक्षा को उन्होंने निर्णायक माना है तथा औपचारिक शालेय शिक्षा और अनौपचारिक संस्कार व्यवस्था के माध्यम से समाज के सब पुरुषार्थों को प्राप्त करने की, कामना की है उनके इन्हीं विचारों को जन-जन तक पंहुचाना ही शोधकर्ता का पुनीत कर्तव्य एवं लक्ष्य है ।

(क) पण्ड़ित जी की शिक्षा का अर्थ एवं स्वरूप -

अर्थ -

शिक्षा एक व्यापक शब्द है । यह जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया है तथा प्रत्येक सभ्यता और संस्कृति की जननी है बच्चा संसार में कुछ पाशवीय प्रब्रृत्तियां लेकर पैदा होता है । उसकी इन प्रवृत्तियों में नियन्त्रण रखकर उसके अन्दर निहित आन्तरिक शक्तियों का एवं प्रतिभा का सर्वांगीण विकास करना ही शिक्षा है ।

> "शिक्षा शब्द संस्कृत की 'शिक्ष्' धातु से निकला है जिसका अर्थ होता है सीखना या सिखाना ।"[1]

शिक्षाविदो ने -

> "विद्या शब्द का उद्गम भी संस्कृत की 'विद्' धातु से माना है जिसका अर्थ होता है जानना, पता लगाना, अथवा सीखना विद् के अन्य अर्थ वेन्ति, विद्यते, विन्दति, विड्क्ते तथा वेदयते है । इस प्रकार विद् के कम से कम पाँच अर्थ हैं - ज्ञान, वास्तविकता, उपलब्धि, विचारण और श्रेष्ठ भावनाऐं ।"[2]

कुछ विद्वानों के अनुसार -

> " 'शिक्षा' अंग्रेजी भाषा के 'एजूकेशन' शब्द का हिन्दी रूपान्तरण है । एजूकेशन शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा एजूकेटम शब्द से मानी जाती है जिसका अर्थ है अन्दर से बाहर की ओर निकालने की कला । 'ई' का अर्थ है 'अन्दर से' एवं 'ड्यूको' का अर्थ है आगे बढ़ाना अर्थात शिक्षा का अर्थ है बालक की अन्तरनिर्हित योग्यताओं को बाह्य की ओर अग्रसर करना । अमेरिकन शब्दकोष में 'एजूकेयर' शब्द का अर्थ है शिक्षित करना, ऊपर उठाना एवं अग्रसर करना ।" [3]

इस प्रकार से -

"शिक्षा प्रकाश का वह स्रोत है जो जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में हमारा पथ प्रदर्शक

---

1. शिक्षा दर्शन, शिक्षा का स्वरूप, शिक्षा का तात्पर्य डा. रामशकल पाण्डेय पृष्ठ - 26
2. तथैव
3. आधुनिक परिवेश में महामना मदनमोहन मालवीय के शैक्षिक विचारों का आलोचनात्मक अध्ययन शिक्षा का अर्थ डा. जे.एल. वर्मा पृष्ठ - 134

है । शिक्षा द्वारा हमारे संशयों का उन्मूलन एवं कठिनाइयों का निवारण होता है तथा विश्व को समझने की क्षमता प्राप्त होती है । 'ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रम् समस्त तत्वार्थ बिलोक दक्षम्' दो नेत्रों के देखने से जो अपूर्व रह जाता है वह विद्यारूपी नेत्र से देखा जा सकता है । बिना विद्या के मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं होता है । 'विद्या विहीनः पशुभिः समानः' अर्थात् विद्या से ही मानवता के गुणों का विकास सम्भव है नहीं तो पशु का पशु ही रह जायेगा । जिसका उद्देश्य मात्र उदरपूर्ति होता है ।"[1]

भारतीय संस्कृति के अनुसार शिक्षा वह है जो मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करे -

"सा विद्या या विमुक्तये"

अर्थात प्राचीन काल में -

"शिक्षा को पवित्र प्रक्रिया माना गया है गीता में श्री कृष्ण ने ज्ञान को पवित्रम् घोषित किया है, 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।' महाभारत में कहा गया है 'नास्ति विद्या समं चक्षुः' अर्थात् विद्या के समान दूसरा कोई नेत्र नहीं होता, भारतीय दर्शन में अज्ञान को अन्धकार और ज्ञान को प्रकाश माना गया है शिक्षा एक प्रकाश है अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाना शिक्षा का प्रमुख कार्य है ।"[2]

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने शिक्षा को ही समाज की जननी माना है उनका विवेचन है -

"बच्चे को शिक्षा देना समाज के अपने हित में है जन्म से मानव पशुवत् पैदा होता है शिक्षा और संस्कार से वह समाज का अभिन्न घटक बनता है ।"[3]

पण्ड़ित जी का मत है कि जिस प्रकार मनुष्य की भौतिक आवश्यकताऐं होती है उसी प्रकार उसकी अध्यात्मिक आवश्यकताऐं भी हैं जिनको शिक्षा या संस्कार कह सकते हैं - उन्होंने कहा है कि -

---

1. आधुनिक भारतीय शिक्षा, शिक्षा का तात्पर्य — डा. वी.वी. अग्रवाल — पृष्ठ - 2
2. भारतीय शिक्षा के मूलतत्व — शिक्षा — लज्जाराम तोमर — पृष्ठ - 19
3. एकात्म मानव दर्शन
   राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल अर्थरचना — पृष्ठ - 63

"मानव के नाते भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति किसी भी अर्थ. व्यवस्था का न्यूनतम स्तर है रोटी कपड़ा और मकान मोटे रूप में इन आवश्यकताओं की अभिव्यञ्जना करते हैं । इसी प्रकार व्यक्ति को समाज के प्रति कर्तव्यों का निर्वाह करने में सक्षम बनाना भी समाज का आधारभूत दायित्व है ।"[1]

पण्ड़ित जी के अनुसार,

"शिक्षा के माध्यम से प्रत्येक पीढ़ी के साथ समाज की प्राचीन निधि का संरक्षण संर्वद्धन एवं हस्तांतरण होता रहता है यदि शिक्षा न हो तो समाज का जन्म ही न हो । समाज जीवन का प्रवाह शिक्षा के कारण ही गतिशील होकर विकास की ओर अग्रसर होता है - एक के बाद एक मानव जब दूसरों को जो प्रायः उसके बाद जन्में हों विभिन्न क्षेत्रों के अपने सम्पूर्ण अनुभव को अथवा सारभूत अंश का विभिन्न उपायों द्वारा प्रदान या संसर्गित करना है तो इस प्रक्रिया में एक निरन्तर गतिमान समूह की सृष्टि होती है जिसे समाज कहते हैं यदि शिक्षा न हो तो समाज का जन्म ही न हो ।"[2]

ऐसा ही उल्लेख उन्होंने अन्य स्थान पर भी किया है -

"शिक्षा और संस्कार से ही समाज के जीवन मूल्य बनते और सुदृढ़ होते हैं ।"[3]

महामना मदनमोहन मालवीय जी ने भी शिक्षा को भावी समाज के अन्नयन का माध्यम बताया है -

"हमारे पूर्वजों ने सतपथ के लिए जिन कठोर अत्याचारों को सहन करके भी हमारा मार्गदर्शन किया है एवं अपनी अखण्ड संस्कृति को बनाए रखा है वह हमारे लिए अनुकरणीय है । हमें अपने पूर्वजों से सुशिक्षा लेकर भावी सन्तति को प्रदान करनी होगी ।"[4]

---

1. एकात्म मानव दर्शन — पृष्ठ - 63
2. दीनदयाल उपाध्याय 'राष्ट्रचिन्तन' — अध्याय - 14 — पृष्ठ - 95
3. राष्ट्र जीवन की दिशा लोकमत परिस्कार — पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय — पृष्ठ - 84
4. शिक्षा शोध — डा. जे.एल. वर्मा — पृष्ठ - 134

इसीलिए कहा गया है कि -

"माता शत्रुः पिता बैरी येन वालो न पाठितः
न शोभते समा मध्ये हंस मध्ये वको यथा ।"

जो माता पिता अपने पुत्र को शिक्षा नहीं दिलाते वे शत्रु और बैरी की तरह होते हैं क्योंकि उनका पुत्र हंसों के बीच बगुले की तरह शोभायमान नहीं होता ।

सत्यार्थ प्रकाश में बच्चे को शिक्षा दिलाना माता पिता आचार्य और सम्बन्धियों का कर्तव्य बताया गया है जिससे वह शिक्षा प्राप्त कर सांसारिक दुःखी व्यक्तियों के दुःखों को दूर करता हुआ परमानन्द को प्राप्त करे -

"सन्तानों को उत्तम विद्या शिक्षा गुण कर्म और स्वभाव रूप आभूषणों को धारण कराना माता पिता आचार्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है । सोने चांदी, माणिक मोती, मूंगा आदि रत्नों से युक्त आभूषणों के धारण करने से केवल देहाभिमान प्रदर्शित होता है मनुष्य का आत्मा सुशोभित कभी नहीं हो सकती ।"

"जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता है सुन्दर शील स्वभाव युक्त सत्य भाषण आदि नियम पालन युक्त और जो अभिमान अपवित्रता से रहित अन्य मलीनता के नाशक सत्योपदेश विद्यादान से संसारी जनों के दुःखों के दूर करने से सुशोभित वेदविहित कर्मों से पराये उपकार करने में रहते हैं वे नर और नारी धन्य हैं । इसलिए सभी लड़की और लड़कों को शाला में भेज देवे ।"[1]

हमारे यहां विद्या विहीन पुरुष को सुगन्ध रहित फूल की तरह ही ब्यर्थ माना गया है चाहे वह कितना भी सुन्दर बलशाली और धनाढ़य परिवार में क्यों न उत्पन्न हुआ हो -

"रूप यौवन सम्पन्ना विशाल कुल सम्भवाः ।
विद्या हीनः न शोभते निर्गन्धा इव किंशुकाः ।"

---

1. सत्यार्थ प्रकाश — अध्याय - 3
स्वामी दयानन्द सरस्वती — पृष्ठ - 26

इस प्रकार शोधकर्ता इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि पण्ड़ित दीनदयाल जी ने शिक्षा को समाज में प्रथम प्राथमिकता प्रदान की है उनका कहना है कि -

"हमारे शास्त्रकारों के अनुसार यह ऋषि ऋण है जिसे चुकाना प्रत्येक का कर्तव्य है जब हम भावी सन्तति की शिक्षा व्यवस्था करते हैं तो हमारी उनके प्रति उपकार की भावना नहीं रहती अपितु हमें जो कुछ धरोहर अपने पूर्वजों से प्राप्त हुई है उसे आगे की पीढ़ी को सौंपकर उनके ऋण से उऋण होने की मनीषा रहती है ।"[1]

स्वरूप -

मानव सभ्यता के ऊषाकाल में विद्यालय नहीं थे परिवार समुदाय और धार्मिक संस्थाऐं ही विद्यालय का काम करती थीं । मानवता का अनुभव भी उस समय सीमित था । सृष्टि का ज्ञान भी सीमित था । अनेकानेक विद्वानों के मत भी नहीं थे जीवन बड़ा सरल था ज्यों ज्यों सभ्यता बढ़ती गयी जीवन बड़ा कठिन होता गया मनुष्य के अनुभव बढ़ते गए, ऐसी स्थिति में मनुष्य के अनुभवों को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त करके तथा छात्र की आयु और योग्यता की जॉंच करके उसके अनुसार ही पाठ्यक्रम की व्यवस्था करना आवश्यक हो जाता है ।

इस प्रकार वर्तमान समय तक शिक्षा के निम्नलिखित विभिन्न स्वरूप निर्मित हुए । नियमित अनियमित प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष वैयक्तिक और सामूहिक सामान्य और विशिष्ट निरौपचारिक ।

शिक्षा के स्वरूपों की विवेचना करते हुए कहा गया है कि "शिक्षा एक जटिल अवधारणा है । यह औपचारिक विद्यालयीकरण या अनुभव से सीखने की जीवन पर्यन्त प्रक्रिया को अभिव्यक्त करती है । इसको विभिन्न रूपों में ज्ञान के संग्रह संस्कृति के हस्तांतरण सर्वोत्तम क्षमता को प्रकट तथा विकसित करने, आवेगों को अनुशासित करने, व्यक्तित्व को वांछित रूप देने तथा मुक्ति प्रदान करने के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया जाता है ।

अन्तर्राष्ट्रीय आयोग 1971 ने शिक्षा के विभिन्न रूपों को अभिव्यक्त करते हुए अपने प्रतिवेदन में लिखा है -

---

1. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय कर्तत्व एवं विचार शिक्षा
डा. महेश चन्द्र शर्मा पृष्ठ - 307-308

"शिक्षा स्वयं में एक विश्व भी है और विशाल विश्व का प्रतिबिम्ब भी अपने उद्देश्यों में योगदान करती हुई वह समाज के अधीन होती है और विशेष रूप में वह यह सुनिश्चित करके कि अपेक्षित मानव संसाधनों का विकास होता है। समाज को अपनी उत्पादक शक्तियों के जुटाने में सहायता पंहुचाती है । शिक्षा का उन पर्यावरणात्मक स्थितियों पर जिनके अधीन वह होती है आवश्यक रूप से प्रभाव पड़ता है भले ही यह प्रभाव केवल उन व्यक्तियों के ज्ञान के द्वारा हो जिनका निर्माण वह करती है इस प्रकार शिक्षा अपने स्वयं के रूपान्तरण तथा प्रगति की वस्तुनिष्ठ स्थितियों के निर्माण में योगदान करती है ।"[1]

उपाध्याय जी ने भी शिक्षा के स्वरूप के बारे में कहा है कि यह केवल विद्यालय तक ही सीमित नहीं वरन् इसका स्वरूप बहुत विस्तृत है प्राचीन काल में तो कीर्तन भजन कथा आदि को भी औपचारिक शिक्षा ही माना जाता था जिस प्रकार आज रेडियो, समाचार पत्र सिनेमा आदि की भूमिका है ।

"शालेय शिक्षा अकेली ही मनुष्य का निर्माण नहीं कर सकती । संस्कार और अध्यापन का बहुत सा ऐसा क्षेत्र है जो शालेय क्षेत्र के बाहर है यदि इन दोनों क्षेत्रों में विरोध रहा तो विद्यार्थी के जीवन में एक अन्तर्द्वन्द उपस्थित हो जाता है । एक समन्वित एकीकृत सर्वांगपूर्ण अखण्ड व्यक्तित्व का विकास होने के स्थान पर उसकी प्रकृति में विभिन्न निष्ठाओं का समावेश हो जाता है समाज और उसके बीच एक खाई पड़ जाती है ।"[2]

शिक्षा ज्ञान देने तक सीमित नहीं कही जा सकती शिक्षा जब तक जीवन के मूल्यों, आदर्शों एवं मान्यताओं का परिचय नहीं देती तब तक वह शिक्षा नहीं कही जा सकती ऐसे विचार हैं डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने भी व्यक्त किये हैं ।

"शिक्षा सूचना प्रदान करने एवं कौशलों का प्रशिक्षण देने तक सीमित नहीं है इसे शिक्षित व्यक्ति के मूल्यों का विचार भी प्रदान करता है वैज्ञानिक एवं

---

1. शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त — पाठक एवं त्यागी — पृष्ठ - 20-21
2. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय कर्तत्व एवं विचार — पृष्ठ - 313

> तकनीकी व्यक्ति भी नागरिक है । अतः जिस समुदाय में रहते हैं उस समुदाय के प्रति उनका भी सामाजिक उत्तरदायित्व है ।"[1]

अतः केवल औपचारिक शिक्षा अर्थात् विद्यालयी शिक्षा के द्वारा वांछित परिणामों को प्राप्त करना असंभव है -

> "औपचारिक शिक्षा तो संस्कार व स्वाध्याय के बीच की कड़ी है । परिवार, हाट, बाजार, खेत, खलिहान ये सब विद्यालय हैं ।"[2]

मजहबी आधार पर शिक्षा के स्वरूप का निर्माण किया जाना विशेषकर ईसाई मिशनरियों द्वारा चलाई जाने वाली शिक्षा संस्थाओं को पण्ड़ित दीनदयाल जी ने देश के लिए खतरनाक माना है ।

---

1. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय कर्तत्व एवं विचार पृष्ठ - 313
2. शिक्षा दर्शन, शिक्षा का स्वरूप रामशकल पाण्डेय पृष्ठ - 29

1. शिक्षा कीवैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक अवधारणा -

मनुष्य का विकास जीवन के निम्न स्तरों से हुआ है । प्राणी को अपना जीवन बनाए रखने के लिए वातावरण से निरन्तर संघर्ष करना पड़ता है इस जीवन संघर्ष में शक्तिशाली प्राणी जीवित रह जाते हैं और निर्बल नष्ट होते हैं । अतः शिक्षा की वैज्ञानिक अवधारणा से यह अभिप्राय है कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति जीवन संघर्ष के लिए तैयार कर सके ।

कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि -

"प्राणी में अपने आपको, अपनी आदतों को और अपने शारीरिक ढांचे को अपनी परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की शक्ति होती है ।"[1]

अतः शिक्षा की वैज्ञानिक अवधारणा का तात्पर्य है ऐसी शिक्षा जो व्यक्ति को वातावरण के अनुकूल ढलने की क्षमता उत्पन्न करे । आत्म सुरक्षा और आत्म सन्तोष भी प्राणियों का आवश्यक गुण है अतः शिक्षा की सहायता की मनुष्य के अन्दर आत्म सुरक्षा एवं आत्म सन्तुष्टि की भावना जागृत होनी चाहिए ।

इस प्रकार शिक्षा को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने वाले वैज्ञानिक शिक्षाविद् हरबर्ट स्पेन्सर ने लिखा है -

"शिक्षा को हमें पूर्ण जीवन के नियमों तथा ढ़ंगों से परिचित कराना चाहिए ।"[2]

शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण कार्य बताते हुए उन्होंने कहा है कि -

"शिक्षा मनुष्य को ऐसा तैयार करे कि वह उचित प्रकार का ब्यवहार कर सके और शारीरिक मस्तिष्क तथा आत्मा का सदुपयोग कर सके ।"[3]

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय के मतानुसार -

"विज्ञान वेत्ता का प्रयत्न रहता है कि वह जगत में दिखने वाली अव्यवस्था में से व्यवस्था को ढूंढ निकाले उनके नियमों को पता लगाए तद्नुसार व्यवहार के

---

1. शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त — पाठक एवं त्यागी — पृष्ठ - 150
2. वैज्ञानिक यथार्थवादी शिक्षा की विशेषताएं — तथैव — पृष्ठ - 204
3. तथैव — पृष्ठ - 205

नियम बनाए ।"[1]

प्रत्येक बालक को सांस्कृतिक विरासत उस समाज से प्राप्त होती है जिसमें वह जन्म लेता है जहां उसका पालन पोषण होता है और जिस समाज में उसको शिक्षा दीक्षा प्राप्त होती है । मनुष्य समाज का अंग होता है वह समाज से कटकर नहीं रह सकता वह अपने समाज को संगठित करके उसे मजबूत और समृद्धिशाली बनाता है एक निश्चित व्यवस्था को विकसित और स्थापित करता है । इसी निश्चित और सम्पूर्ण व्यवस्था को 'संस्कृति' कहते हैं । 'संस्कृति' के अन्तर्गत समाज के रीति रिवाज, परम्पराएं, नैतिकता, कला, विज्ञान, धर्म, विश्वास, पूजा पद्धति, आचार, विचार तथा आर्थिक और राजनैतिक व्यवस्था समाहित रहती है ।

सदरलैण्ड व वुडवर्ड ने संस्कृति की परिभाषा देते हुए कहा है -

"संस्कृति में कोई भी बात आ सकती है जिसे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित किया जा सकता है किसी भी राष्ट्र की संस्कृति उसकी 'सामाजिक विरासत' है ।"[2]

रोसेक ने "किसी विशेष समय और स्थान में निवास करने वाले विशेष व्यक्तियों के जीवन व्यतीत करने की विधि[3] को संस्कृति कहा है ।

किसी भी देश की सजीव शिक्षा व्यवस्था में वहां की 'संस्कृति' समाहित रहती है संस्कृति के अभाव में शिक्षा निस्सार निष्प्रयोज्य और निर्जीव बनकर रह जाती है । शिक्षा और संस्कृति का अटूट सम्बन्ध होता है ब्रामेल्ड के अनुसार -

"संस्कृति की सामग्री से ही शिक्षा का प्रत्यक्ष रूप से निर्माण होता है और यही सामग्री शिक्षा को न केवल स्वयं के उपकरण वरन् उसके अस्तित्व का कारण भी प्रदान करती है ।" यदि किसी समाज की शिक्षा में कोई विशेषता होती है तो उसका एक ही कारण होता है - उसकी संस्कृति। प्रत्येक समाज अपनी संस्कृति के अनुकूल ही शिक्षा की व्यवस्था करता है शिक्षा भी अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए संस्कृति की सेवा और

---

1. एकात्म मानव वाद — पृष्ठ - 18
2. शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त, शिक्षा और संस्कृति — पृष्ठ - 426
3. तथैव — पृष्ठ - 426
4. तथैव — शिक्षा व संस्कृति का सम्बन्ध — पृष्ठ - 427

सहायता करती है तथा सहयोग प्राप्त करती है । इस प्रकार शिक्षा सदैव मान संस्कृति का अभिन्न अंग होती है ।

पण्ड़ित दीनदयाल जी का कहना है कि संस्कृति ही किसी राष्ट्रीय समाज की पहचान का आधार होती है ।

> "स्वराज्य का संस्कृति से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है । ...... स्वराज्य तभी साकार और सार्थक होगा । जब वह अपनी संस्कृति की अभिव्यक्ति का साधन बनेगा ।"[1]

ब्रिटिश कालीन शिक्षा प्रणाली में 'संस्कृति' के अभाव की चर्चा करते हुए महामना मदनमोहन मालवीय जी ने कहा है -

> "शिक्षा प्रणाली राष्ट्र की भावना के अनुरूप होती है भारत के लिए यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इस समय जो शिक्षा प्रणाली प्रचलित है उसमें भारतीय संस्कृति के प्रति अनादर के भाव निहित हैं ।"[2]

शोधकर्ता इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि पण्ड़ित जी ने शिक्षा की वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक अवधारणा को ध्यान में रखकर अपनी शैक्षिक विचारधारा में दोनों प्रत्ययों के बीच सामञ्जस्य स्थापित करने का सफल प्रयास किया है । पण्ड़ित जी भारतीय संस्कृति के प्रति एक राष्ट्रवादी के नाते स्वाभिमान का भाव रखते हैं । उनका कहना है कि मानवीय चेतना एवं कर्म का कोई भी आयाम संस्कृति से बाहर नहीं है । संस्कृति के प्रति उनकी 'भक्त' दृष्टि है लेकिन साथ ही साथ वह नवीन ज्ञान विज्ञान सुधार और सृजन के पक्षधर है । अतः उन्होंने संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखने के साथ भौतिकता से भी जोड़ने का प्रयास किया -

> "हमने अपनी प्राचीन संस्कृति का विचार किया है लेकिन हम कोई पुरातत्ववेत्ता नहीं है । .... हमें अनेक रूढ़िया समाप्त करनी होगी, बहुत से सुधार करने होंगे ।"[3]

---

1. एकात्म मानव दर्शन राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल अर्थ रचना पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ - 74
2. तथैव पृष्ठ - 73
3. तथैव पृष्ठ - 15

श्री उपाध्यायजी नव निर्माण के लिए विज्ञान की महत्ता को स्वीकारते हैं ।

"हमें यथास्थिति वाद का मोह त्यागकर नवनिर्माण करना होगा ।"[1]

इस प्रकार से यह सिद्ध है कि पण्ड़ित दीनदयाल जी विज्ञान और संस्कृति का समन्वित स्वरूप को ही पुनर्निर्माण का आवश्यक तत्व समझते हैं और आगाह करते हैं -

"हम सम्पूर्ण मानव के ज्ञान और उपलब्धियों का संकलित विचार करें ।"[2] कुल मिलाकर पण्ड़ित जी ने भारतीय संस्कृति के साथ विज्ञान को राष्ट्र के परम वैभव का साधन माना है -

"विश्व का ज्ञान हमारी थाती है मानव जाति का अनुभव हमारी सम्पत्ति है विज्ञान किसी देश की बपौती नहीं है वह हमारे भी अभ्युदय का साधन बनेगा ।"[3]

---

1. तथैव — पृष्ठ - 73
2. तथैव — पृष्ठ - 15
3. भारतीय जनसंघ घोषणाएं व प्रस्ताव भाग - । "सिद्धान्त और नीतियां"6 — पृष्ठ - 4

2. **शिक्षा की अवधारणा और अनुदेश -**

"मानव की मानसिक आदतों का निर्माण शिक्षा पर निर्भर करता है या दूसरे शब्दों में मानसिक आदतों का निर्माण और संसार तथा जीवन के प्रति दृष्टिकोण का निर्माण ही शिक्षा है ।"[1]

प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अलग-अलग इच्छाएं होती हैं कोई दो व्यक्ति भी एक ही प्रकार की इच्छा नहीं रख पाते और जहां करोडों मानवों का समूह हो वहां सभी लोग एक ही प्रकार की इच्छा करे यह सम्भव नहीं प्रतीत होता । लेकिन लोकतान्त्रिक देशों में प्रत्येक व्यक्ति की कुछ समान इच्छाएं होना आवश्यक होता है अन्यथा लोकतन्त्र खतरे में पड़ जाता है । अराजकता और निरंकुशता का वातावरण उत्पन्न हो जाता है । अतः लोकतन्त्र में समान इच्छाओं के निर्माण के लिए संयम की नितान्त आवश्यकता होती है और समान इच्छाओं का निर्माण शिक्षा द्वारा ही सम्भव है जिसे पण्ड़ित जी लोकमत परिस्कार की संज्ञा देते हैं । उन्होंने कहा है कि -

"जिस समाज में यह परिस्कार का काम चलता रहेगा वहां सहिष्णु एवं संयमशील व्यक्तियों का मण्डल निरन्तर बढ़ता चला जाएगा ।"[2]

एक शिक्षित व्यक्ति अशिक्षित व्यक्ति की अपेक्षा ज्यादा संयत और जिम्मेदार होता है -

"लोक राज्य तभी सफल हो सकता है जब एक-एक नागरिक अपनी जिम्मेदारी को समझेगा और उसका निर्वाह करने के लिए क्रियाशील रहेगा ।"[3]

पण्ड़ित दीनदयाल जी की शिक्षा की अवधारणा और अनुदेश का यही तात्पर्य है कि शिक्षा के द्वारा लोकतन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर कुछ समान मानसिक आदतों एवं जीवन के प्रति उपयुक्त समान दृष्टिकोण का निर्माण होना चाहिए । व्यवहार का नियमन एवं जिम्मेदारी का भाव जागृत किया जाना चाहिए जिससे लोकतन्त्र सफलतापूर्वक सही दिशा में चलता रहे । अतः जनता को सुसंस्कृत करने के लिए शिक्षा या लोकमत परिष्कार का सबसे अधिक महत्व है ।

---

1. शिक्षा शोध — डा. जे.एल. वर्मा — पृष्ठ - 138
2. राष्ट्र जीवन की दिशा, लोकमत परिष्कार — पृष्ठ - 83
3. तथैव — पृष्ठ - 84

3. शिक्षा का समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण -

मनुष्य समाज का अंग है इसलिए वह अपने अंगों अर्थात् समाज को स्वस्थ एवं मजबूत बनाने का पूरा प्रयास करता है । सारी मानव जाति समूह बनाकर ही रहना चाहती है एकाकी जीवन व्यतीत करने से बचती है यही कारण है कि मनुष्य को सामाजिक प्राणी माना गया है । समाज के सभी लोग आपस में एक दूसरे के साथ बैठते उठते हैं, मिलते हैं, बात करते हैं तथा एक दूसरे को प्रभावित करते हैं । इस प्रकार से समाज में कुछ कठिनाइयों का पैदा होना भी स्वाभाविक है इन कठिनाइयों के कारण समाज में विघटन उत्पन्न होने का खतरा रहता है । चूंकि मनुष्य को समाज में ही रहना पड़ता है इसलिए उन कठिनाइयों को दूर करके उसे समाज से अनुकूलन स्थापित करना पड़ता है । इस अनुकूलन के स्थापन में शिक्षा ही उसे सहायता देती है । अतः शिक्षा का उद्देश्य है -

> "व्यक्ति को सामाजिक कुशलता प्रदान करके सामाजिक वातावरण से अनुकूलन करने की योग्यता देना ।"[1]

पण्ड़ित दीनदयाल जी ने शिक्षा और समाज के सम्बन्धों की व्याख्या करते हुए कहा है -

> "जन्म के लिए मेरा सम्बन्ध पूज्य माता-पिता से है किन्तु जिसदिन मेरा नामकरण संस्कार हुआ मैं समाज का अंग बन गया । मेरी बोलने की शक्ति विकसित हुई तो भाषा भी मुझे समाज से मिली मातृभाषा प्राप्त हुई । बड़े हुए तो सभ्य बने । इसका सम्बन्ध भी समाज से है । यानि समाज ने शिक्षा देकर बड़ा किया । जितने सुख दुःख के अवसर आए सबमें समाज उपस्थित हुआ । यहां तक कि सुख-दुःख की अनुभूतियां भी समाज ने दी । ...... समाज ने अच्छा कहा तो मन प्रसन्न, बुरा कहा तो दुःखी, इस समाज के साथ इतना गहरा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है यहां तक कि कोई समाज को बुरा कहे तो असहनीय हो जाता है ।"[2]

---

1. शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त — समाज और शिक्षा — पाठक और त्यागी — पृष्ठ - 404
2. राष्ट्रजीवन की दिशा — 'मैं' और 'हम' — पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय — पृष्ठ - 24

समाज के प्रति ऐसा आत्मीय भाव ही सामाजिक चेतना है अतः मनुष्य के अन्दर ऐसी सामाजिक चेतना उत्पन्न करना ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए । इसीलिए पण्ड़ित दीनदयाल जी ने कहा है कि -

> "बच्चे को शिक्षा देना समाज के हित में है । जन्म से मानव पशुवत् पैदा होता है, शिक्षा और संस्कार से वह समाज का अभिन्न घटक बनता है ।"[1]

शिक्षा के द्वारा व्यक्ति के जीवन का निर्माण होता है । शिक्षा ही ज्ञान का प्रकाश है शिक्षा व्यक्ति की बुद्धि को प्रकाशित करती है । समाज व्यक्तियों से ही बनता है अतः शिक्षा के द्वारा समाज का निर्माण होता है शिक्षा के प्रकाश से ही समाज को जीवन मिलता है । शिक्षा ही वह सूर्य है जिससे प्रकाशित होकर समाज को चेतना प्राप्त होती है ।

शिक्षा के माध्यम से बालक की अन्तर्निहित शक्तियों का विकास होता है यही विकसित शक्तियां समाज के हित संरक्षण एवं बुराई के निवारण में सहायक होती है । छात्रों के अन्दर नैतिकता, स्वार्थ, त्याग एवं सामाजिक हित की भावना संस्कार रूप में विकसित करना शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है । संस्कार के अभाव में शिक्षा के द्वारा विकसित शारीरिक एवं मानसिक शक्तियां दुराचार छल-कपट एवं स्वार्थ सिद्धि के लिए उपयोग में लाई जाती है । आज डकैती, बलात्कार, ठगी और चोरी जैसी घटनाएं प्रायः शिक्षित एवं सम्पन्न घरों के युवकों द्वारा घटित होती हैं यह सब संस्कार रहित कुशिक्षा के ही परिणाम हैं ।

अतः संस्कार एवं सामाजिक चेतना का जागरण करने वाली शिक्षा चाहिए जिसके द्वारा विकसित शक्तियां भलाई के रक्षण और बुराई का निवारण कर स्वस्थ और मजबूत समाज निर्माण के काम आ सकें ।

शिक्षा के द्वारा बालकों को इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, विज्ञान, नागरिक शास्त्र आदि विषयों का ज्ञान कराया जाता है इन विषयों का केवल ज्ञान प्राप्त कर लेना ही स्वयं में कोई उद्देश्य नहीं है । इन विषयों का ज्ञान समाज की समस्याओं के समाधान के सन्दर्भ में होना चाहिए । विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त करने का उद्देश्य समाज की समस्याओं का समाधान कर उसकी उन्नति

करता है । विभिन्न विषयों की पाठ्य वस्तु एवं शिक्षण प्रणाली भी इस उद्देश्य की पूर्ति के अनुरूप होनी चाहिए ।

आजकल प्रायः यह कहा जाता है कि आज का छात्र कल का नागरिक है । अतः शिक्षा का उद्देश्य है राष्ट्र के लिए भावी नागरिक तैयार करना जिनका जीवन और व्यवहार देश के आदर्शों के अनुकूल होना चाहिए लेकिन हमें इस धारणा को बदलना होगा । छात्र कल का नहीं आज का नागरिक है । अतः भावी नागरिक के स्थान पर आज के नागरिक के रूप में उसके जीवन का निर्माण करना शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए ।

शिक्षा के माध्यम से छात्रों के अन्तःकरण में समाज की समस्याओं की अनुभूति जागृत करनी होगी, तभी वास्तविक सामाजिक चेतना का जागरण होगा । आज समाज में अस्पृश्यता, जातिभेद, निर्धनता, निरक्षरता, दहेज आदि समस्याएं विकराल रूप धारण किए हुए हैं । छात्रों को इन समस्याओं का ज्ञान हो, समाज के पिछड़े और निर्धन बन्धुओं के प्रति आत्मीयता एवं एकात्मता की भावना जागृत हो तभी इन समस्याओं के निवारण के लिए युवा शक्ति जागृत होकर सक्रिय होगी ।

पराधीनता के काल में विदेशी वेशभूषा, भाषा और वस्तुओं का प्रयोग अत्यन्त हेय दृष्टि से देखा जाता है लेकिन स्वाधीनता के पश्चात् विदेशी वेशभूषा, अंग्रेजी भाषा और विदेशी वस्तुओं का प्रयोग करने में लोग गौरव अनुभव करने लगे हैं हमारे लिए यह अपमानजनक स्थिति है । अतः शिक्षा के माध्यम से स्वदेशी भावना का सर्वव्यापी बनाना चाहते थे । उनका कहना है -

> "आज भारत के शिक्षित वर्ग के जीवन मूल्यों पर पश्चिम का यह प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है .... जब तक अंग्रेज थे तब तक तो हम 'स्वदेशी' की भावना से अंग्रेजियत को दूर रखने में ही गौरव समझते थे किन्तु अब जब अंग्रेज चला गया है तब अंग्रेजियत पश्चिम की प्रगति का द्योतक एवं माध्यम बनकर अनुकरण की वस्तु बन गयी है ...... अंग्रेजियत के मोहवरण को परित्याग करना ही हमारे लिए श्रेयष्कर होगा ।"[1]

---

1. एकात्म मानव दर्शन
   राष्ट्रवाद की सही कल्पना स्वदेशी की भावना सर्वव्यापी हो
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ - 7

पण्ड़ित दीनदयाल जी के अनुसार शिक्षा के द्वारा समाज में आत्मीयता एवं एकात्मता का भाव जागृत किया जाना चाहिए तभी स्वस्थ और सबल समाज का निर्माण सम्भव है अन्यथा समाज के कमजोर होने से व्यक्ति का कमजोर होकर नष्ट होना स्वाभाविक है । उन्हीं के कथनानुसार -

> "समाज का प्राण दुर्बल हो गया तो सब अंग दुर्बल और निस्तेज हो जाएंगे .... कुटुम्ब जाति श्रेणी पंचायत जनपद राज्य आदि सब संस्थाएं राष्ट्र तथा मानव के अंगभूत हैं उनमें एकात्म भाव चाहिए । ये परस्पर पूरक हैं, परस्परावलम्बी हैं इसलिए उनमें परस्परानुकूलता की वृत्ति उत्पन्न होनी चाहिए ।"

मनोविज्ञान के अध्ययन से बालक की जन्मजात प्रवृत्तियों उसकी वैयक्तिक भिन्नताओं, आदतों, रूचियों, आवश्यकताओं तथा पैत्रिकता और वातावरण का ज्ञान प्राप्त होता है । इसलिए जो शिक्षक अपने विद्यार्थी को भली-भाँति जानता है वही सफल अध्यापक है । आज मनोविज्ञान का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है । आत्मा चेतन मस्तिष्क एवं अवचेतन के क्षेत्र से होता हुआ मानव व्यवहार की व्याख्या में सम्मिलित है । बालक को उसकी मानसिक क्षमता तथा अवस्था के अनुसार शिक्षा दी जानी चाहिए तभी वह सम्बन्धित विषय को रूचिपूर्वक आत्मसात् कर पाएगा । विद्यार्थी की मानसिक क्षमता को समझने के लिए मनोविज्ञान का ज्ञान आवश्यक हो गया है । पण्ड़ित दीनदयाल जी उपाध्याय ने अपने विचारों में भी 'मनोविज्ञान' को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है और यही कारण है कि उनकी विचारधारा के पीछे चलने वाले लाखों लोगों की पक्तियां लगी हुई है । उन्होंने अपनी प्रथम साहित्यिक कृति 'सम्राट चन्द्रगुप्त' के ऐतिहासिक पात्र चन्द्रगुप्त व चाणक्य के माध्यम से पराक्रमी व रणनीति कुशल स्वातन्त्र्य प्रयत्नों एवं स्वतन्त्रता के बाद शक्ति संबर्द्धन हेतु सांगनिक प्रयत्नों की ओर किशोर हृदयों को प्रवृत्त करने का सफल प्रयत्न किया है । इस पुस्तक के मनोगत में वे लिखते हैं -

> "जिनके लिए यह पुस्तक लिखी गयी है उन्हें सब प्रकार के ऐतिहासिक तथ्यों के वन में भ्रमण करने की आवश्यकता नहीं है । उन्हें इतना जानना

---

1. एकात्म मानव दर्शन
   व्यष्टि समष्टि में समरसता समाज और व्यक्ति में संघर्ष नहीं
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ - 41

पर्याप्त है कि यूरोपियन विद्वानों द्वारा प्रयत्नपूर्वक तथा उनका अन्धानुकरण करने वाले भारतीय विद्वानों द्वारा अनजाने में फैलाए हुए अंधकार को नष्ट करने वाले ऐतिहासिक शोध के सूर्यप्रकाश में देखी गयी ये सत्य घटनाएं हैं ।"[1]

आज तक हम इतिहास में यही पढ़ते चले आ रहे हैं कि सिकन्दर ने पोरस पर आक्रमण करके उसे बन्दी बना लिया और उससे पूछा - "तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया जाए ? पोरस ने उत्तर दिया, "जैसा एक राजा दूसरे के साथ करता है" सिकन्दर प्रसन्न होकर उसे छोड़ देता है । इस प्रकार के कथानकों से किशोरों के मनों और हृदयों में हीनभावना उत्पन्न होती है । पण्ड़ित जी ने किशोरों और युवकों के अन्दर युवकोचित उत्साह जागृत करने का मनोवैज्ञानिक ढंग अपनाया जिसे पढ़कर युवकों के अन्दर पराजय की हीनभावना समाप्त तो होती ही है पराक्रमयुक्त जयिष्णु भाव उत्पन्न होते हैं । 'सम्राट चन्द्रगुप्त' में अपनी पराजय एवं मृत्यु के समय सिकन्दर ने स्वयं कहा -

> "भारत वर्ष में हर जगह मैं भारतवासियों के आक्रमण तथा कोप का भाजन बना । उन्होंने मेरे कन्धे को घायल किया, गान्धारियों ने मेरे पैर को निशाना बनाया । मल्लियों से युद्ध करते हुए एक तीर मेरा वक्षस्थल छेद गया और गर्दन पर भी गदा का एक तगड़ा हाथ पड़ा । "भारत का आक्रमण मेरी जीवन की सबसे बड़ी भूल है ।" 2

पण्ड़ित दीनदयाल जी का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण वर्तमान परिस्थितियों से संघर्ष हेतु तैयार करने में सक्षम है । बहुउद्देश्यीय विदेशी कम्पनियों के चलते आज भारत में बेरोजगारी का वातावरण व्याप्त है उन्होंने बहुत ही पहले 'स्वदेशी' की भावना सर्वव्यापी हो" की कल्पना एवं कामना की थी, हम यदि उनकी बात मान लेते तो निश्चित ही हमें 'आर्थिक गुलामी" के यह दिन नहीं देखने पड़ते । उन्होंने कहा है -

> "कुछ ऐसे भी हैं जो पाश्चात्य राजनीति एवं अर्थनीति की दिशा को ही प्रगति की दिशा समझते हैं और इसलिए भारत पर वहां की स्थिति का प्रक्षेपण करना

---

1. सम्राट चन्द्रगुप्त
   मनोगत पृष्ठ - 3
2. सम्राट चन्द्रगुप्त
   भारतीय पराक्रम व अलिक् सुन्दर का अन्त
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ - 42

चाहते हैं । अतः भारत की भावी दिशा का निर्णय करने के पूर्व यह निश्चित होगा कि हम पश्चिम की राजनीति के वैचारिक अधिष्ठान तथा उनकी वर्तमान पहेली का विचार कर लें ।"[1]

पण्ड़ित दीनदयाल जी चूंकि सामाजिक कार्यकर्ता थे इसलिए उन्होंने अपने विचारों, लेखों एवं रचनाओं में समाज मनोविज्ञान को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया । समाज मनोविज्ञान में,

"व्यक्ति और समाज की पारस्परिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है । जैसे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के साथ तथा बहुत से व्यक्ति मिलकर समूह रूप में किस प्रकार का व्यवहार करते हैं ।"[2]

किम्बल यंग ने समाज मनोविज्ञान की परिभाषा करते हुए कहा है -

"समाज मनोविज्ञान एक दूसरे के साथ अन्तःक्रिया करते हुए व्यक्तियों और व्यक्ति के विचारों, भावनाओं, उद्वेगों और आदतों पर इस अन्तःक्रिया के प्रभावों का अध्ययन है ।"[3]

इस प्रकार सामाजिक मनोविज्ञान अपने सामाजिक पर्यावरण से प्रभावित व्यक्ति के मानसिक जीवन और व्यवहार का अध्ययन करता है ।

समाज की उत्पत्ति और स्वरूप के बारे में पण्ड़ित जी ने अपना मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए कहा है -

"जिस प्रकार व्यक्ति पैदा होता है उसी प्रकार समाज भी पैदा होता है । व्यक्ति मिलकर कभी समाज को नहीं बनाते, यह कोई आमोद गृह (क्लब) नहीं है । ...... वास्तव में समाज तो एक ऐसी सत्ता है जिसकी अपनी आत्मा है जिसका अपना एक जीवन है इसलिए यह भी उसी प्रकार से जीवमान सत्ता है जैसे मनुष्य जीवनमान सत्ता है । समाज को हमने किसी प्रकार के कृत्रिम संगठन के रूप में स्वीकार नहीं किया समाज की अपनी हस्ती होती है समाज के भी

---

1. एकात्म मानव दर्शन
राष्ट्रवाद की सही कल्पना — पृष्ठ - 8
2. शिक्षा मनोविज्ञान की रूपरेखा
डा. मालतीराम सारस्वत
शिक्षा मनोविज्ञान का स्वरूप, अर्थ, उद्देश्य एवं क्षेत्र — पृष्ठ - 11
3. तथैव

व्यक्ति की भांति शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा होते हैं । इस बात को कुछ पश्चिम के लोग भी स्वीकार करने लगे हैं । 'मैग्डूगल' ने सामूहिक मन जैसे नए मनोविज्ञान का प्रादुर्भाव किया ।"[1]

बैयक्तिक मनोविज्ञान के अन्दर,

"व्यक्ति की बैयक्तिक विशेषताओं तथा भिन्नताओं का अध्ययन किया जाता है ।"[2]

दीनदयाल जी के अनुसार,

"समूह की बुद्धि, समूह की भावना क्रिया शक्ति जैसी, सामूहिक शक्तियां मूलतः व्यक्ति से भिन्न होती हैं और इसलिए कभी-कभी ऐसे अनुभव आते हैं कि नितान्त दुर्बल से दुर्बल व्यक्ति भी व्यक्तिगत नाते दुर्बल होते हुए भी समाज के नाते बड़ा पराक्रमी निकल आता है ।"[3]

मनोविज्ञान इस तथ्य की ब्याख्या करता है कि -

"एक व्यक्ति का आचरण ब्यवहार दूसरे व्यक्ति से क्यों और किस प्रकार भिन्न होता है मानव स्वभाव और मानव आचरण का परिचय प्राप्त करना मनोविज्ञान के अध्ययन का मुख्य विषय है ।"[4]

दीनदयाल जी ने भी कहा है -

"ब्यक्ति की विचार करने की पद्धति और समाज के विचार करने की पद्धति इन दोनों में सदैव अन्तर रहता है । .... यदि हजार अच्छे व्यक्ति इकट्ठा हो जाए तो वे उसी प्रकार से विचार करेंगे यह नहीं कहा जा सकता ।"[5]

मनोविज्ञान की दृष्टि से सामूहिक मानसिकता वैयक्तिक मानसिकता से भी भिन्न होती है -

"अकेला विद्यार्थी अनुशासन पूर्ण है परन्तु जब 40 मिल गए तो उनमें

---

1. एकात्म मानव दर्शन्
   व्यष्टि समष्टि में समरसता समाज स्वयंभू है
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ - 31
2. शिक्षा मनोविज्ञान की रूपरेखा
   डा. मालती राम सारस्वत पृष्ठ - 11
3. एकात्म मानव दर्शन पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ - 32
4. शिक्षा मनोविज्ञान की रूपरेखा
   डा. मालती सारस्वत पृष्ठ - 2
5. एकात्म मानवदर्शन
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ - 32

अनुशासनहीनता आ जाती है । इसे भीड़ की मानसिकता कहते हैं यह मानसिकता वैयक्तिकतासे भिन्न प्रकार की है ।"[1]

पण्ड़ित जी ने अपने लेख राष्ट्र का स्वरूप चिति' में सुरूचिपूर्ण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा अपने 'राष्ट्र' सम्बन्धी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है -

"एक निश्चित भूमिखण्ड और उसमें निवास करने वाला मानव समुदाय मिलकर देश कहा जाता है । .... यानि देश दृश्यमान सत्ता है । जिसप्रकार देश दृश्यमान सत्ता है उसी प्रकार राष्ट्र एक अदृश्यमान सत्ता है .... जैसे शरीर दिखाई पड़ता है आत्मा दिखाई नहीं पड़ती और यह भी कि बिना शरीर के आत्मा का प्रकटीकरण नहीं हो सकता । साथ ही बिना आत्मा के शरीर मुर्दा ही गिना जावेगा । ..... जैसे कक्षा कहने से किसी एक विद्यार्थी का नहीं विद्यार्थियों के पूरे समूह का बोध होता है उसी प्रकार राष्ट्र कहते ही समूह का बोध होता है । राष्ट्र के इस समूह को सामान्यतः जो नाम दिया जाता है वह है जन । जिसे आजकल हम जनता कहते हैं । .... जन समूह ही निश्चित भू-भाग में राष्ट्र के नाम से पुकारा जाता है ..... यही 'जन' अपनी मूल प्रकृति के पोषण के लिए किसी भूमि खण्ड से सम्बन्धित होता है उस भूमि खण्ड के साथ उसका सम्बन्ध माँ और पुत्र के समान रहता है । .... धूर्त अंग्रेज इस सच्चाई को भली भाँति समझते थे इसलिए उन्होंने भारत के इस 'एकजन' को नष्ट करने के लिए भारत को इण्डिया कहना शुरू किया .... अंग्रेज ने सोचा कि इण्डिया कहने पर कोई इण्डिया माता नहीं कह सकेगा और तब भारत माता की जय का लोप सहज हो जावेगा । 'एकजन' की मातृ भूमि के प्रति यह चेतना ही वह वस्तु है जो अक्षय शक्ति प्रदान करती है । अस्तु राष्ट्र का स्वरूप इस 'एकजन' की सामूहिक मूल प्रवृत्ति द्वारा निर्धारित होता है

---

1. तथैव पृष्ठ 32-33

यही 'चिति' है । .... जब तक 'चिति' जागृत और निरामय रहती है तब तक राष्ट्र का अभ्युदय होता रहता है इसी चेतना के आधार पर राष्ट्र संगठित होता है । 'चिति' से जागृत और एकीभूत हुई समष्टि की प्राकृतिक क्षात्र शक्ति अर्थात् अनिष्टों से रक्षा करने वाली शक्ति 'विराट्' कही जाती है .... यही 'विराट' है जो 'चिति' के प्रकाश से जागृत होती है और हम कहते हैं कि राष्ट्र जाग उठा है । 'विराट्' राष्ट्र का प्राण है और 'चिति' आत्मा है ।"[1]

इस प्रकार पण्ड़ित दीनदयाज जी उपाध्याय ने किशोरों, तरूणों, प्रौढ़ों एवं सम्पूर्ण समाज को मनोवैज्ञानिक ढ़ंग से जागृत करने का पुण्य कार्य किया । उनकी शिक्षा या विचारधारा जहां एक ओर समाजशास्त्रीय है वहीं दूसरी ओर उसके मनोवैज्ञानिक आधार भी हैं ।

---

1. राष्ट्र जीवन की दिशा
राष्ट्र का स्वरूप चिति'
पृष्ठ - 55, 56, 57, 58, 59, 60, 61
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

4. **शिक्षा दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त -**

स्वतन्त्रता के पश्चात् भी हमारे देश के अन्दर वैचारिक परावलम्बिता का वातावरण व्याप्त था यह स्थिति पण्ड़ित जी को असह्य थी । इसी पीड़ा ने विशेषकर उनके चिन्तन को जन्म दिया । सिद्धान्त और नीति प्रलेख में उन्होंने लिखा है -

> "वर्तमान परिस्थिति का सबसे प्रमुख कारण राष्ट्र जीवन की आत्मा का साक्षात्कार न करते हुए, उसके ऊपर विदेशी और विजातीय विचारधाराओं तथा जीवन मूल्यों को थोपने का प्रश्न है । शीघ्र उन्नति की आतुरता में दूसरे देशों का अंधानुकरण करने और 'स्व' के तिरस्कार की वृत्ति पैदा हुई है इससे राष्ट्र मानस में कुण्ठा घर कर गयी है ।"[1]

पण्ड़ित जी ने अपने विचार दर्शन के प्रतिपादन में संस्कृति परक परम्परागत दार्शनिक प्रत्ययों का प्रयोग करके उन्हें आधुनिक सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है । इसी सन्दर्भ से ही उन्हें मौलिक दार्शनिक की पदवी प्राप्त हुई है । उपाध्याय जी दार्शनिक प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे लेकिन उनके दर्शन 'एकात्म मानववाद' में क्रमबद्धता का अभाव अवश्य है । क्यों कि देश भ्रमण और संगठन के कार्य में उनका अधिकतर समय व्यतीत होता था । अतः शोधकर्ता ने उनके यत्र तत्र प्राप्य दार्शनिक विचारों को नियोजित करने का प्रयत्न किया है । राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के वार्षिक संघ शिक्षा वर्गों में, भारतीय जन संघ के कार्यकर्त्ता अभ्यास वर्गों एवं राष्ट्रीय अधिवेशनों में तथा जगह-जगह उन्होंने जो विचार प्रकट किये हैं उनमें उनका दर्शन बिखरा पड़ा है । उसको संजोकर प्रस्तुत करने का कार्य शोधकर्ता कर रहा है । व्यष्टि, समष्टि, संस्कृति, चिति, विराट, राष्ट्र, सृष्टि, परमेष्टि, धर्म, सुख और चतुर्पुषार्थ ही वे प्रत्यय हैं जिनके आधार पर उन्होंने अपने दर्शन एकात्ममानववाद का भव्य महल खड़ा किया है । यही प्रत्यय ही शोधकर्ता की दृष्टि में उनके शिक्षा दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त हैं जिनके यहां व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया गया है ।

1. **व्यष्टि-वैयक्तिकता के विकास का सिद्धान्त -**

मैं कौन हूँ ? का उत्तर वेदान्त देता है 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ तब प्रश्न

---

1. भारतीय जनसंघ सिद्धान्त और नीति पृष्ठ - 3,4

उठता है ब्रह्म कौन है ? वेदान्त कहता है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सृष्टि में जो कुछ भी दिखाई देता है सब ब्रह्म है । अर्थात मानव ब्रह्म का अंश है । वह अपूर्ण नहीं पूर्ण है तथा सृष्टि वह समष्टि का अविभाज्य अंग है । इसीलिए हमारे यहां व्यक्ति निर्माण की परम्परा चली आ रही है 'युग निर्माण योजना' मथुरा द्वारा व्यक्ति निर्माण पर जोर देते हुए कहा गया है ।

"स्वयं का सुधार ही समाज का सबसे बड़ा सुधार है ।" राष्ट्रीय स्वयं संघ इसी बात को ध्यान में रखकर व्यक्तिशः निर्माण के लिए दैनिक शाखाओं का आयोजन करता है जिससे निर्मित लाखों स्वयंसेवक आज राष्ट्र के पुनर्निमाण में सर्वस्व अर्पण करते हुए देखे जा सकते हैं ।

वर्तमान [illegible] में शिक्षा द्वारा व्यक्ति निर्माण पर विशेष जोर दिया जा रहा है । आधुनिक समय में प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री रूसो, फाबेल पेस्टालाजी और नन ने बालक वैयक्तिक विकास का समर्थन किया है । नन के अनुसार,

> "मानव जगत में प्रत्येक अच्छाई व्यक्तिगत पुरुषों और स्त्रियों के स्वतन्त्र कार्यों द्वारा आती है इसलिए शिक्षा पद्धति को इस सत्य के अनुरूप बनाया जाना चाहिए ।"[1]

नन ने ही व्यक्ति निमाण के महत्व पर बल देते हुए कहा है

> "शिक्षा को ऐसी दशाएं उत्पन्न करनी चाहिए जिससे वैयक्तिकता का पूर्ण विकास हो सके और व्यक्ति मानव जीवन को अपना मौलिक योग दे सके ।"[2]

यूकेन ने वैयक्तिकता का अर्थ

> "आध्यात्मिक वैयक्तिकता[3] बताया है ।

पण्ड़ित दीनदयाल जी के अनुसार,

> "व्यक्तिभाव जिसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व ढ़लता है आवश्यक ही होता है । व्यायाम से शरीर बलशाली होता है संध्या उपासना करने से अन्तःकरण को शान्ति मिलती है, दीर्घायु प्राप्त होती है । व्यक्तिभाव से व्यक्तिशः सेवा सुश्रुषा करने

---

1. शिक्षा के सिद्धान्त, शिक्षा के वैयक्तिक व सामाजिक उद्देश्य — पाठक एवं त्यागी — पृष्ठ - 49
2. तथैव — पृष्ठ - 49
3. तथैव — पृष्ठ - 30

से ही यह सब हो पाता है । व्यक्ति को निरोग, दीर्घजीवी, हृष्ट-पुष्ट आनन्दित प्रसन्न कार्यक्षम यशस्वी होना जरूरी है । जहां व्यक्ति निर्बल होकर निकम्मा हो जाता है । वहां समष्टि की आराधना का पूरा लोप होना स्वाभाविक ही है इसलिए व्यक्ति के गुण विकसित होना चाहिए । व्यक्ति निकम्में हो तो समाज की सेवा किस प्रकार करेंगे ।"[1]

इस प्रकार पण्ड़ित जी के अनुसार शिक्षा को ऐसी दशाएं उत्पन्न करनी चाहिए जिससे व्यक्ति के व्यक्तित्व का बहुआयामी विकास सम्भव हो सके ।

2. **समष्टि-सामाजिक कुशलता का सिद्धान्त** -

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है वह समाज का अंग है । समाज में रहकर ही वह अपनी पाशविक प्रवृत्ति से ऊंचा उठता है 'केयर्ड' के अनुसार,

"मनुष्य सामाजिक जीवन को अपना समर्पण करके ही अपनी पाशविक प्रवृत्ति से ऊंचा उठता है ।"[2]

रॉस के कथनानुसार -

"सामाजिक पर्यावरण से अलग वैयक्तिकता का कोई मूल्य नहीं है और व्यक्तित्व अर्थहीन शब्द है क्योंकि इसी में इसको विकसित और कुशल बनाया जाता है ।"[3]

इस प्रकार व्यक्ति को सामाजिक रूप से कुशल बनाना ही शिक्षा का सिद्धान्त है ऐसा व्यक्ति अपनी आजीविका के लिए समाज पर निर्भर नहीं रहता इसके अलावा समाज की आवश्यकताओं के अनुसार अपने आपको ढ़ालने का प्रयास करता है तथा समाज के लिए सर्वस्व समर्पण का भाव रखता है । मनुष्य वंशानुक्रम केवल पाशविक प्रवृत्तियां प्राप्त करना है सामाजिक पर्यावरण ही उसको मानव बनाता है उसका विकास पोषण समाज में ही होता है अतः उसे ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए ताकि वह अपने समाज के संरक्षण के लिए सदैव तत्पर रहे और आवश्यकता पड़ने पर समाज के लिए अपना बलिदान करने में भी संकोच न करें ।

---

1. राष्ट्र जीवन की दिशा 'मैं और हम' — पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय — पृष्ठ - 30
2. शिक्षा के सिद्धान्त — शिक्षा के वैयक्तिक व सामाजिक उद्देश्य — पृष्ठ - 51 — पाठक और त्यागी
3. तथैव — पृष्ठ - 52

ने
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय/व्यक्ति और समाज के बीच समन्वय को ही सामान्य अवस्था माना है उनका कहना है -

"व्यक्ति जन्म लेता है समाज द्वारा उसे शिक्षित और संस्कारित किया जाता है । धीरे धीरे व्यक्ति गुणवान बनता है ...... समाज उसकी देखभाल करता है व्यक्ति को बुद्धिमान, धैर्यवान, पराक्रमी, शक्तिवान और धनवान बनाने का काम समाज ही करता है इस प्रकार समाज से सब कुछ पाकर जब व्यक्ति सक्षम हो जाता है तो वह .... अपने गुण और शक्ति का उपयोग समाज के लिए करता है जब व्यक्ति समाज को अधिकाधिक समर्पित करता है तब समाज भी व्यक्ति के योगक्षेम की चिन्ता करता है । वैसे व्यक्ति अपने गुणों और शक्ति से समाज की दो चार आवश्यकताओं की ही पूर्ति कर पाता है किन्तु समाज उसके बदले उसे कई चीजें लौटाता है । शिक्षा, वस्त्र, मकान सुरक्षा ही नहीं तो सुख की अनेकानेक अनुभूतियों और दुःख में धैर्य भावना आदि कितनी ही बातें समाज से व्यक्ति को मिलती है ।"[1]

अतः समष्टि के बिना जब व्यष्टि का कोई मूल्य ही नहीं है तो इसी बात को ध्यान में रखकर ऐसी शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए जो बालक के अन्दर सामाजिक भावना का अधिकाधिक विकास कर सके यही पण्ड़ित जी का सिद्धान्त था ।

पण्ड़ित दीनदयाल जी के अनुसार मनुष्य को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे वह अपने समाज को सर्वस्व समर्पण करने के लिए तैयार रह सकें । उन्होंने कहा है -

" वैसे तो मनुष्य का जीवन नाशवान है फिर भी भगत सिंह को सब याद करते हैं एक लम्बी परम्परा है जिनका स्मरण होता है इन सब बलिदानी महापुरुषों ने अपने शरीर की परवाह नहीं की । यह 'हम' ही था जिसने 'मैं' को इतना ऊँचा उठाने की प्रेरणा दी हंसते-हंसते बलिदान हो गए, कहा कि शरीर नश्वर है समाज अमर है समाज को जीवित रखने के लिएं व्यक्ति ने बलिदान दिए । समाज ने उन्हें अपनी स्मृतियों में संजोकर अमर बना दिया ।"[2]

---

1. राष्ट्रजीवन की दिशा व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध — पृष्ठ - 116 पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
2. राष्ट्रजीवन की दिशा 'मैं' और 'हम' — पृष्ठ 25-26 पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

3. 'संस्कृति' सांस्कृतिक समृद्धता का सिद्धान्त -

जे.एफ. ब्राउन के अनुसार -

"संस्कृति किसी समुदाय के सम्पूर्ण व्यवहार का एक ढ़ांचा है जो अंशतः भौतिक पर्यावरण से अनुकूलित रहता है । यह पर्यावरण प्राकृतिक एवं मानव निर्मित दोनों प्रकार का हो सकता है किन्तु प्रमुख रूप से यह ढ़ांचा सुनिश्चित विचारधाराओं, प्रवृत्तियों, मूल्यों तथा आदतों द्वारा अनुकूलित होता है जिसका विकास समूह द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है ।"[1]

पण्ड़ित दीनदयाल जी के विचार से -

"मानवीय चेतना एवं कर्म का कोई अन्याय संस्कृति के बाहर नहीं है ।"[2]

"संस्कृति ही किसी राष्ट्रीय समाज की पहचान का आधार होती है ।"[3]

पण्ड़ित दीनदयाल जी ने अपने सुझाव देते हुए कहा है कि -

"आज राष्ट्रीय और मानवीय दृष्टियों से आवश्यक हो गया है कि हम भारतीय संस्कृति के तत्वों का विचार करके चलें ।"

अतः शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिसके द्वारा राष्ट्रीय संस्कृति की अभिव्यक्ति हो सके तथा उसका संरक्षण और संवर्धन करके नवनिर्माण की दिशा में बढ़ा जा सके ।

"हमारी जीवन पद्धति हमारा मार्गदर्शन करने के लिए विद्यमान है यह सही है कि हम हजारों वर्षों के इतिहास को जैसा का जैसा लेकर नहीं चल सकते तथापि हमारी जीवन पद्धति के जो मूलतत्व हैं उन्हें भुलाकर भी हम नहीं चल सकते । नूतन सूझबूझ और पुरातन गुण गरिमा का मणिकांचन संयोग उपस्थित करके चलना होगा । आधुनिक कार्य योजना और पुरातन सन्दर्भ शिक्षा लेकर नवनिर्माण के चरण बढ़ाने होंगे ।"[4]

---

1. शिक्षा के सिद्धान्त शिक्षा व संस्कृति पृष्ठ - 355
   पाठक एवं त्यागी
2. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय कर्तत्व एवं विचार
   दार्शनिक अभिधारणांए 'संस्कृति' पृष्ठ - 355
   डा. महेश चन्द्र शर्मा
3. तथैव पृष्ठ - 357
4. राष्ट्रीय जीवन की दिशा सारांश आधुनिक प्रगति की दिशा पृष्ठ - 191

4. 'चिति' राष्ट्रीय चैतन्य निर्माण का सिद्धान्त -

इजरायल के यहूदी दुनिया भर में खानावदोश की तरह घूमते थे । वे जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड में रहे बड़े से बड़े काम किए लेकिन अपनी मातृभूमि के लिए सदैव तड़पते रहे । माता के लिए जैसा पुत्र तड़पता है वैसे ही वर्षों तड़पते रहे । इतने वर्षों तक वे अपने राष्ट्रत्व को जीवित रख सके और आज अपनी मातृ स्वरूप भूमि में पंहुच गए मातृभूमि के प्रति यह चेतना ही 'चिति' है । हमारे वेदों में इसी 'चिति' को जाग्रत रखने के लिए कहा गया है "वयं राष्ट्रे जाग्रयामः पुरोहिताः" । हम जाग्रत रहेंगे और राष्ट्र को जाग्रत रखेंगे अर्थात् राष्ट्र में चैतन्य का निर्माण ही 'चिति' है ।

पण्ड़ित जी के अनुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो राष्ट्र में चैतन्य का निर्माण कर सके क्योंकि चैतन्य समाज ही प्रत्येक समस्या को हल करके परम वैभव को प्राप्त कर सकता है ।

> "यह 'चिति' जनसमूह के प्रत्येक व्यक्ति में मातृभूमि के प्रति परमसुख की भावना के रूप में रहती है वह सर्वोकृष्ट सुख जिसके समक्ष अन्य सब बाते फीकी लगें इस 'चिति' द्वारा स्थापित होता है । इसकी झलक व्यक्ति के सब प्रकार के कार्यों में दिखाई पड़ती है उसके समस्त व्यापार निःशेष चेष्ठाएं अखिल कर्म इसी 'चिति' के प्रकाश से चैतन्य रहते हैं ।"[1]

---

1. राष्ट्रजीवन की दिशा
राष्ट्र का स्वरूप 'चिति' पृष्ठ - 61
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

5. विराट् - 'विराट' के जागरण का सिद्धान्त :

" 'चिति' से जाग्रत और एकीभूत हुई समष्टि की प्राकृतिक क्षाय शक्ति अर्थात् अनिष्टों से रक्षा करने वाली शक्ति 'विराट' कही जाती है ।"[1]

अतः राष्ट्र की संस्कारित एवं सुसंगठित जनशक्ति ही 'विराट' है । इस 'विराट' को और अधिक स्पष्ट करते हुए पण्ड़ित जी ने कहा है -

"जैसे राष्ट्र का अवलम्ब चिति होती है वैसे ही जिस शक्ति से राष्ट्र की धारणा होती है उसे विराट कहते हैं विराट राष्ट्र की वह कर्मशक्ति है जो चिति' से जाग्रत एवं संगठित होती है 'विराट' का राष्ट्र जीवन में वही स्थान है जो शरीर में प्राण का । प्राण से ही सभी इन्द्रियों को शक्ति मिलती है बुद्धि को चैतन्य प्राप्त होता है और आत्मा शरीरस्थ रहता है । राष्ट्र में भी विराट के सबल होने पर उसके भिन्न-भिन्न अवयव अर्थात संस्थाएं सक्षम और समर्थ होती है । विराट के आधार पर ही प्रजातन्त्र सफल होता है और राज्य बलशाली बनता है जहां विराट जाग्रत रहता है वहां संघर्ष नहीं होते सब लोग शरीर के भिन्न भिन्न अवयवों की भांति या कुटुम्ब के घटकों के समान पर स्वर पूरकता से काम करते हैं ।"[2]

पण्ड़ित दीनदयाल जी के मतानुसार शिक्षा की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जिससे राष्ट्र का विराट जाग्रत हो सके - इसलिए उन्होंने आवाहन किया कि -

"हमें अपने राष्ट्र के विराट को जाग्रत करने का काम करना है । अपने प्राचीन के प्रति गौरव का भाव लेकर वर्तमान का यथार्थवादी आंकलन कर और भविष्य की महत्वांकाक्षा लेकर हम इस कार्य में जुट जाएं ।"[3]

---

1. राष्ट्र जीवन की दिशा — राष्ट्र का स्वरूप 'चिति' — पृष्ठ - 61
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
2. एकात्म मानव दर्शन — राष्ट्र जीवन के अनुकूल अर्थरचना — पृष्ठ - 75
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
3. तथैव — पृष्ठ - 75

6. राष्ट्र - विशुद्ध राष्ट्र भाव के जागरण का सिद्धान्त -

"बिना शुद्ध राष्ट्रभाव के कोई भी राष्ट्र प्रगति की कौन कहे अपनी स्वतन्त्रता भी टिकाए नहीं रख सकता ।"[1]

राष्ट्र और उसके निवासियों का एक दूसरे के साथ घनिष्ट सम्बन्ध होता है, हमारे यहां तो माँ बेटे का सम्बन्ध माना जाता है । किसी भी राष्ट्र की उन्नति तभी हो सकती है जब उसके नागरिक श्रेष्ठ हों उनके अन्दर शुद्ध राष्ट्रभाव हिलोरें ले रहा हो । यहूदी और जापानी इसके उदाहरण हैं । अतः राष्ट्र के नागरिकों के अन्दर शुद्ध राष्ट्रभाव जाग्रत करना ही शिक्षा का मुख्य कार्य होना चाहिए ।

हमारे राष्ट्र की मूल प्रकृति अध्यात्म प्रदान रही है लेकिन दुर्भाग्य से आज हमारा राष्ट्र जीवन अपनी मूल प्रकृति से हटता जा रहा है । हम भौतिक प्रगति की दौड़ में आगे बढ़ने के लिए व्याकुल हो रहे हैं । मानवीय भावनाओं एवं राष्ट्र जीवन मूल्यों का हमारे लिये कोई महत्व नहीं रह गया है । यह स्थिति बहुत ही खराब है, विकृति है । अतः पण्ड़ित दीनदयाल जी का सुझाव हमें ध्यान में रखकर ऐसी शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए जिससे सभी के हृदय में विशुद्ध राष्ट्रभाव जाग्रत हो । उन्होंने कहा है -

"हमें यह मानकर चलना होगा कि अर्थ हमारी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन मात्र है साध्य नहीं । अस्तु जीवन के प्रति दृष्टिकोण को बदलना होगा । दृष्टिकोण का यह परिवर्तन माननीय संस्कृति के आदर्शों के आधार पर ही हो सकता है । इस गौरवमयी संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठापना से ही राष्ट्र जीवन में चतुर्दिक परिव्याप्त विकृतियों का शमन एवं निराकरण से हो सकता है ।

---

1. राष्ट्र जीवन की दिशा
   सारांश — पृष्ठ - 184
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
2. राष्ट्र जीवन की दिशा
   राष्ट्र प्रकृति और विकृति — पृष्ठ - 77
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

7. <u>सृष्टि - परमेष्टि - एकात्मता का सिद्धान्त -</u>

"ईशावास्यं इदं सर्वं यत् किंचित जगल्यां जगत ।"

हमारे यहां यजुर्वेद में कहा गया है कि जो कुछ भी संसार में दिखाई देता है वह सब ईश्वर से परिब्याप्त है ।

डा. मुरली मनोहर जोशी ने एक प्रतिवेदन में कहा है -

"भारतीय संस्कृति का सार ब्रह्माण्ड में विद्यमान विविधता में मूलभूत एकता को स्वीकार करना है । अति प्राचीन काल में भारतीय ऋषि मुनियों ने 'यत् पिण्डे तद्ब्रह्माण्डे' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था जो सम्पूर्ण में है वही उसके 'अंश' में है अर्थात अंश तथा पूर्ण एक ही पदार्थ के द्योतक हैं । .... भारतीय दर्शन पर आधारित समाज रचना आधुनिक द्वन्दों के सुलझाने में समर्थ है ।"

पण्ड़ित दीनदयाल जी के अनुसार,

"सृष्टि का अर्थ है रचना । यह संसार ब्रह्म की सृष्टि है वैदिक परम्परा के अनुसार सृष्टि के कर्ता ब्रह्म हैं भर्ता अर्थात पालनकर्ता विष्णु तथा संघर्ता अर्थात संहार करने वाले 'महेश' हैं यह कर्ता भर्ता व संहर्ता की ईश्वरीय सत्ता ही परमेष्टि है ।"

पण्ड़ित जी प्रतिक्रियावादी पश्चिमी चिन्तकों की भांति परिवार समुदाय राष्ट्र तथा विश्व और मानवता की सत्ता मानते हुए परस्पर असम्बद्ध नहीं मानते वह मूल भारतीय धारणा के अनुसार मानते हैं कि इसका प्रारम्भ व्यक्ति से होता है और उससे सम्बन्ध रखते हुए परिवार समुदाय राष्ट्र और मानवता का अखण्ड मण्डलाकार सर्पिल घेरा पर स्वर सम्बद्ध होकर विकसित होता है । उन्ही के शब्दों में -

"हमने सम्पूर्ण जीवन में मूलभूत एकता का दर्शन किया । जो द्वैतवादी रहे उन्होंने भी प्रवृत्ति और पुरुष को एक दूसरे के विरोधी अथवा परस्पर संघर्षशील

---

1. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
   कर्तत्व एवं विचार — डा. महेश चन्द्र शर्मा — पृष्ठ - 351
2. तथैव — पृष्ठ - 372

न मानकर पूरक ही माना है । जीवन की विविधता अन्तरभूत एकता का अविष्कार है और इसलिए उनमें परस्परानुकूलता तथा परस्पर पूरकता है । बीज की एकता ही पेड़ के मूल तना शाखा, पत्ते फूल और फल के विविध रूपों में प्रकट होती है ।"[1]

अतः उन्होंने सुझाव दिया कि -

"संसार में एकता का दर्शन उसके विविध रूपों के बीच परस्पर पूरकता को पहचान कर उनमें परस्पर अनुकूलता का विकास करना तथा उसका संस्कार करना ही संस्कृति है ।"[2]

इस प्रकार पण्ड़ित जी के सिद्धान्तानुसार शिक्षा ऐसी हो जो 'बसुधैव कुटुम्बकम' की भावना जाग्रत करे और साथ ही साथ परमसत्ता (परमात्मा) से एकाकार करने में सहयोग प्रदान करे ।

---

1. एकात्म मानव दर्शन भारतीय संस्कृति एकात्म मानववादी पृष्ठ - 18, 19
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
2. तथैव पृष्ठ - 19, 20

8. **धर्म - धार्मिक शिक्षा का सिद्धान्त -**

व्हाइट हैड ने धर्म को 'शिक्षा का सार' मानते हुए कहा है -

"धर्म के अभाव से शिक्षा व्यक्ति को कठोर और स्वार्थी बना देती है । यदि सामाजिक प्रगति की योजना में धर्म को स्थान नहीं दिया जाता है तो उस व्यक्ति की अवहेलना की जाती है जो सामाजिक संगठन को दृढ़ बनाता है ।"[1]

शिक्षा और धर्म एक सिक्के के दो पहलू हैं दोनों के लक्ष्य एक ही हैं धर्म ही सच्ची और वास्तविक शिक्षा का आधार होता है जिस प्रकार शिक्षा मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करती है उसी प्रकार धर्म भी मनुष्य के व्यक्तित्व को पूर्णता प्रदान करता है । अतः धर्म विहीन शिक्षा व्यर्थ के मार से कुछ भी अधिक नहीं होती ।

जार्ज डब्ल्यू फिस्के के अनुसार -

"शिक्षा की अगणित परिभाषाओं में से कोई भी ऐसी नही है जो धर्म की शिक्षा की सम्भावना और आवश्यकता को सीखने की महान प्रक्रिया का अंग मानने का सुझाव न देती हो । भौतिकवादी दृष्टिकोण के सिवाय सभी दृष्टिकोणों से शिक्षा में धार्मिक पहलू और धार्मिक विषय वस्तु दिखाई देती है । अतः शिक्षा को पूर्ण होने के लिए धार्मिक होना चाहिए ।"[2]

पण्ड़ित दीनदयाल जी ने कहा है -

" धर्म तो एक व्यापक तत्व है उससे समाज की धारणा होती है ।"[3]

इस प्रकार धर्मविहीन शिक्षा न तो पूर्ण होती है न सामाजिक क्योंकि हमारा सम्पूर्ण जीवन धर्म से प्रभावित रहता है जैसा महर्षि अरविन्द ने कहा है -

"धर्म मनुष्य के अन्दर ऐसी प्रेरणा, प्रवृत्ति एवं विधि व्यवस्था है जिसका लक्ष्य स्पष्ट रूप से भगवान ही है ।"[4]

---

1. शिक्षा के सिद्धान्त
   धर्म शिक्षा के साधन के रूप में शिक्षा में धर्म का स्थान — पृष्ठ - 167
   पाठक एवं त्यागी
2. तथैव
3. एकात्म मानव दर्शन
   व्यष्टि समष्टि में समरसता — पृष्ठ - 44
4. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय कर्तत्व एवं विचार
   दार्शनिक अभिधारणाएं 'धर्म' — पृष्ठ - 375-76
   डा. महेश चन्द्र शर्मा

पण्ड़ित दीनदयाल जी 'धर्म निरपेक्ष' शिक्षा के पूर्णतः विरूद्ध है और उनका मानना है कि आज हमारे राष्ट्र के पतन के मुख्य कारणों में से एक कारण यह है कि हमने शिक्षा को धर्म निरपेक्ष बनाने का कार्य किया है तथा 'रिलीजन' को धर्म के पर्यायवाची के रूप में शिक्षा में स्थान दिया है ।

> "एक ओर तो हम रिलीजन को धर्म के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग करने लगे तथा दूसरी ओर अपने धर्म और जीवन का अज्ञान तथा यूरोपीय जीवन का अधिकाधिक ज्ञान हमारी शिक्षा का विषय बन गया ।"[1] जबकि
>
> "हमारा प्राण कही है तो वह धर्म में है धर्म गया कि प्राण गया ।"[2]

हमारे यहां भगवान का जन्म भी धर्म की स्थापना के लिए होता है । पण्ड़ित जी ने तो धर्म को ईश्वर से भी बड़ा मानते हुए कहा है -

> "ईश्वर का अवतार धर्म के लिए होता है ... यदि बुरा न लगे तो कह सकते हैं कि ईश्वर से भी बड़ा धर्म है वह धर्म से चलता है इसलिए सृष्टि चलती है ।"[3]

यदि ईश्वर भी धर्म की स्थापना के लिए अवतार लेता है और धर्म की शिक्षा देता है तो फिर हमें भी ऐसी शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए जिसकी विषय वस्तु में 'धर्म' को महत्वपूर्ण स्थान

---

1. एकात्म मानव दर्शन
   व्यष्टि समष्टि में समरसता — पृष्ठ - 44
   'धर्म मजहब नही होता'
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
2. तथैव — पृष्ठ - 43
3. तथैव — पृष्ठ - 50

9. सुख - समग्र एवं एकात्म सुख का सिद्धान्त -

आजकल मानव जीवन की आवश्यकताओं को सामान्यतः रोटी कपड़ा और मकान की आवश्यकता के नाते स्वीकार किया जाता है । मनुष्य के भौतिक सुख के लिए ये आवश्यकताएं आवश्यक भी हैं लेकिन पण्ड़ित दीनदयाल जी का मानना है कि मनुष्य केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति से ही सुखी नहीं हो सकता । भौतिक सुख तो एकांकी है जो मनुष्य के अन्दर अर्थलोलुपता एवं तृषणा का निर्माण करती है । चूंकि

"मनुष्य मन बुद्धि आत्मा तथा शरीर का समुच्चय है ।"[1]

अतः उसे शारीरिक सुख या भौतिक सुख के साथ-साथ मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक सुख भी चाहिए । इसी दृष्टि से पण्ड़ित दीनदयाल जी ने सुझाव प्रस्तुत करते हुए कहा है कि -

> "समाज व्यवस्था तथा शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि मनुष्य के मानसिक बौद्धिक व आत्मिक सुख को अनाहत रखते हुए उसकी भौतिक आवश्कताओं की पूर्ति की जा सके ।"[2]

उपाध्याय जी का कहना है कि मनुष्य अकेले सुख की अनुभूति नहीं कर सकता सुख का आधार ही परस्परावलम्बन है । सम्पूर्ण समाज के दुःखी रहते हुए केवल एक व्यक्ति सुखी हो जाए और व्यक्ति के दुःखी रहते हुए सम्पूर्ण समाज सुखी हो जाए यह असम्भव है । वह एकात्म सुख के प्रतिपादक है तथा ऐसी शिक्षा एवं समाज व्यवस्था के समर्थक है जो एकात्म सुख का निर्माण कर सके । व्यक्तित्व को मिटाकर समाज को सुखी बनाना एवं समाज की उपेक्षाकर व्यक्ति को सुखी करने वाली शिक्षा एवं समाज व्यवस्था की वे निन्दा करते हैं ।

---

1. एकात्म मानव दर्शन
   एकात्म मानववाद — पृष्ठ - 23
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
2. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय — कर्तत्व एवं विचार
   दार्शनिक अभिधारणांए 'सुख' — पृष्ठ - 383
   डा. महेश चन्द्र शर्मा

10. चतुर्पुरुषार्थ का सिद्धान्त -

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय जी के अनुसार,

"मनुष्य के शरीर मन बुद्धि और आत्मा की आवश्यकताओं की पूर्ति उसकी विविध कामनाओं, इच्छाओं तथा एषणाओं की संतुष्टि और उसके सर्वांगीण विकास की दृष्टि से व्यक्ति के सामने कर्तव्य रूप में हमारे यहां चतुर्विघ पुरुषार्थ की कल्पना रखी गयी है । धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं । पुरुषार्थ का अर्थ उन कार्यों से है जिनसे पुरुषत्व सार्थक हो । धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की कामना मनुष्य में स्वाभाविक होती है और उनके पावन से उसको आनन्द प्राप्त होता है । इन पुरुषार्थों का हमने संकलित विचार किया है ।"[1]

लेकिन वर्तमान समय में मनुष्य सम्पूर्ण पुरुषार्थ को सार्थक करने की अपेक्षा केवल अर्थ पुरुषार्थ अर्थात धनसंचय के लिए ही सम्पूर्ण समय व शक्ति व्यतीत कर देता है । हमारी वर्तमान शिक्षा व्यवस्था भी मनुष्य को केवल आर्थिक प्राणी मानकर उसके अन्दर अधिक से अधिक धन कमाने की लालसा उत्पन्न करती है । पण्ड़ित दीनदयाल जी ऐसी शिक्षा को हेय समझते हैं तथा ऐसी शिक्षा की व्यवस्था चाहते हैं जिससे प्रेरणा प्राप्त कर मनुष्य अपने चारो पुरुषार्थों को सार्थक करता हुआ श्रेष्ठ समाज रचना में अपना सहयोग प्रदान कर सके ।

---

1. एकात्म मानव दर्शन
   एकात्म मानव वाद
   हमारी आवश्यकताएं-चारो पुरुषार्थ पृष्ठ - 26
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

5-

समीक्षात्मक विचार

"शिक्षा अन्तर्गत सभी विषय आ जाते हैं क्योंकि इसमें सभी विषयों के शिक्षण के विषय में विचार होता है जैसा कि व्हाइट हेड ने लिखा है 'शिक्षा के लिए केवल एक ही विषय वस्तु है और वह है सभी पक्षों में प्रस्फुटित जीवन ।"[1]

इस प्रकार शिक्षा के स्वरूप के अन्तर्गत सभी विषय समाहित होते हैं ।

शिक्षा-विज्ञान, शिक्षा-संस्कृति, शिक्षा-मनोविज्ञान, शैक्षिक-समाजशास्त्र, शिक्षा का इतिहास, तुलनात्मक-शिक्षा, शैक्षिक समस्याएं, शैक्षिक-प्रशासन, शिक्षण विधियां, बाल शिक्षा, किशोर शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा तथा अन्योन्य शाखाएं शिक्षा के स्वरूप के अन्तर्गत आती हैं अतः यह बात निश्चित है कि शिक्षा का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है । ज्ञान-विज्ञान के जितने विषय हैं वे सब इसकी परिधि में आ जाते हैं अन्य विषयों का भाग्य शिक्षा पर ही निर्भर है इसीलिए तो शिक्षा शब्द का अर्थ प्रत्येक विषय की शिक्षा से लगाया जाता है यहां तक कि जीवन के प्रत्येक भाग शिक्षा से सम्बन्धित है ।

शिक्षा के स्वरूप की उपरोक्त समीक्षा करने के उपरान्त शोधकर्ता ने पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय द्वारा शिक्षा के स्वरूप की तुलनात्मक समीक्षा करना अपना उत्तरदायित्व समझा । पण्ड़ित दीनदयाल जी की शिक्षा के स्वरूप की समीक्षा के उपरान्त शोधकर्ता ने पाया कि पण्ड़ित जी की शिक्षा के अन्तर्गत वे सभी विषय समाहित हैं जिनका जीवन और समाज से सम्बन्ध है ।

सामाजिक कार्यकर्ता के नाते पण्ड़ित दीनदयाल जी उपाध्याय समाज को सुदृढ़ एवं संस्कारित देखना चाहते हैं अतः उन्होंने संस्कार क्षम शिक्षा पर ही अपना जोर दिया है उनका कहना है कि शिक्षा और संस्कार से ही समाज के जीवन मूल्य बनते हैं । इसलिए समाज की सभी समस्याओं को उन्होंने शिक्षा की समस्याएं ही माना है तथा शिक्षा को ही एक मात्र हल मानते हुए उन्होंने कहा है -

"आज स्वतन्त्र होने पर आवश्यक है कि हमारे प्रवाह की सम्पूर्ण बाधाएं दूर हों तथा हम अपनी प्रतिभा के अनुरूप राष्ट्र के सम्पूर्ण क्षेत्रों में विकास कर सकें ।"[2]

---

1. शिक्षा दर्शन शिक्षा का स्वरूप — राम सकल पाण्डेय — पृष्ठ - 34
2. राष्ट्र जीवन की दिशा — राष्ट्र की जीवनदायिनी शक्ति — पृष्ठ - 41 — पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

(ख) शिक्षा और पाठ्यक्रम -

स्वतन्त्रता के पश्चात् जितनी गम्भीरता के साथ देश के लिए यथेष्ट दिशा की खोज की जानी चाहिए थी उतनी गम्भीरतापूर्वक इस दिशा में विचार नहीं किया गया । अंग्रेजी शासन समाप्त होने के तुरन्त बाद हमारे देश की राजनीति, समाज व्यवस्था एवं अर्थव्यवस्था में स्वदेशीपन का भाव जाग्रत होना चाहिए था तथा विदेशियत के प्रभाव को समाप्त हो जाना चाहिए था लेकिन स्वतन्त्रता के बाद हमें विदेशियत की ललक ने परतन्त्रता के काल खण्ड से भी ज्यादा पागल बना दिया, विदेशियों की वेश-भूषा, रीतिरिवाज, नीति व्यवस्था, राज्य व्यवस्था हमारे जीवनादर्श बन गए । विदेशियत ने भारत के मानस को ऐसा दबोचा कि उसे अपना बोध नहीं रहा । राज्य व्यवस्था के लिए यूरोप, समाज व्यवस्था के लिए रूस, विज्ञान व्यवस्था के लिए अमेरिका और जर्मनी की ओर ललचाई निगाहों से देखने लगे । विदेशी शिक्षा द्रृष्टि में भारत को वैचारिक शून्यता की स्थिति पर ला खड़ा किया । उस शिक्षा ने, जिस शिक्षा के जन्मदाता लार्ड मैकाले ने कहा था कि -

"हमें भारत में एक ऐसा वर्ग निर्माण करना है जो रक्त और वर्ण से भारतीय हों किन्तु रूचियों विचारों नैतिक आदर्शों तथा बुद्धि में अंग्रेज हो ।"

भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता को पंगु कर दिया । वेद, उपनिषद, स्मृति गीता, रामायण, महाभारत, बाल्मीकि व्यास, याज्ञवल्क, पाराशर, मनु, चाणक्य, तुलसी अरविन्द और गांधी सब व्यर्थ सिद्ध हुए । मिल्स एडमस्मिथ, मार्क्स एन्जिल्स के वचन प्रमाण माने जाने लगे ।

स्वतन्त्र भारत ने परतन्त्रता के ढ़ांचे को ही स्वीकार कर लिया इतना ही नहीं अपने मन और मस्तिष्क को भी उसी में रमा दिया । स्वतन्त्रता के पूर्व दासता के काल खण्ड में हम वैचारिक रूप से स्वतन्त्र थे । भारतीय भावना से भरे थे लेकिन स्वतन्त्रता के काल खण्ड में हम दास बने विदेशी भावना से सिर से पैर तक सराबोर हो गए । यह वैचारिक परावलम्बिता पण्ड़ित दीनदयाल जी को असह्य थी । वे कहा करते थे -

"दूसरे राष्ट्र भी हैं उन्होंने पिछले एक हजार वर्ष में अभूतपूर्व उन्नति की है । हमारा सम्पूर्ण ध्यान तो अपनी स्वतन्त्रता के लिए लड़ने तथा अपनी रक्षा के

---

1. मैकाले का विवरण पत्र 1835

प्रयत्नों में ही लगा रहा है । विश्व की इस प्रगति में हम सहभागी नहीं हो सके । अब जब हम स्वतन्त्र हो गए है तो क्या हमारा कर्तव्य नहीं हो जाता क़ि हम अपनी इस कमी को शीघ्रातिशीघ्र पूरा करके विश्व के इन प्रगतिशील देशों के साथ खड़े हो जाए ।"[1]

स्वतन्त्रता प्राप्ति कर लेना ही हमारा ध्येय नहीं था । स्वतन्त्रता के बाद हमें मानव की प्रगति में योगदान करने के योग्य बनना चाहिए था । इस सम्बन्ध में पण्ड़ित जी ने लिखा है -

"हमको विचार करना होगा कि अंग्रेजों के चले जाने मात्र से तो हमारे ध्येय की सिद्धि नहीं हो गयी वह तो हमारे मार्ग में एक बाधा थी और आज वह दूर हो गयी है । किन्तु अभी भी मानव प्रगति में हमें सहायता करनी है ।..... हमारी आत्मा ने अंग्रेजी राज्य के प्रति विद्रोह केवल इसलिए नहीं किया था कि दिल्ली में बैठकर राज्य करने वाला एक अंग्रेज था अपितु इसलिए भी कि हमारे दिन प्रतिदिन के जीवन में हमारे जीवन की गति में विदेशी पद्धतियों और रीति रिवाज विदेशी द्रृष्टिकोण और आदर्श अडंगा लगा रहे थे । हमारे सम्पूर्ण वातावरण को दूषित कर रहे थे ।"[2]

इसलिए उन्होंने सुझाव देते हुये कहा -

"अंग्रेजों के चले जाने के बाद आवश्यक है कि हमारा देश आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता का अनुभव करें ।"[3]

आज मानव के सम्मुख अनेकानेक समस्याएं मुंह फैलाये खड़ी हैं । इन सभी समस्याओं को भारतीयत्व के आधार पर ही सुलझाया जा सकता है, ऐसा पण्ड़ित दीनदयाल जी का मानना था । मानव जीवन की जिन चुनौतियों को उन्होंने महसूस किया था उनका उल्लेख अग्रत: उनके विचारक साथी दत्तोपन्त ठेगड़ी जी ने किया है । उन्ही समस्याओं का सामञ्जस्यपूर्ण हल ही

---

1. एकात्म मानव दर्शन, राष्ट्रवाद की सही कल्पना
हम किस ओर चलें ? पृष्ठ - 6, 7
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
2. राष्ट्र जीवन की दिशा
राष्ट्र की जीवन दायिनी शक्ति पृष्ठ - 38, 39
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
3. तथैव पृष्ठ - 39

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय की 'शिक्षा' कही जा सकती है ।

* "वैयक्तिक स्वातन्त्र्य के साथ सामाजिक अनुशासन
* वैयक्तिक विकास की प्रेरणा के साथ सामाजिक समता का आग्रह
* आर्थिक विकास के साथ सामाजिक न्याय
* मूलभूत जैविक एकता के साथ दृश्यमान विभिन्नता
* राज्याधिकार के साथ-साथ औद्योगिक व नागरिक स्व शासन
* व्यवस्था के साथ सहजता
* समाज व्यवस्था के साथ राज्य विहीनता
* आत्म संयम के साथ आत्म प्रकाशन
* विवेकीकरण के साथ बुद्धि, मर्यादा एवं चेतना
* भौतिक अग्रता के साथ आध्यात्मिक उत्तोलन
* विशेष सत्ता के साथ समग्र दृष्टि
* राष्ट्रीय आत्म निर्माण के साथ अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग
* स्वेच्छाचारिता विहीन स्वातन्त्र्य
* सैनिकीकरण विहीन अनुशासन
* विशेषाधिकार विहीन प्रतिष्ठा
* एकरूपता विहीन एकता
* गतिहीनता मुक्त स्थायित्व
* जोखिम विहीन गतिशीलता
* सत्तावाद विहीन राज्याधिकार
* मानवीयता क्षतिमुक्त औद्योगिक प्रगति
* अनगढ़ भौतिकवाद विहीन भौतिक समृद्धि
* क्षितिजीय विभाजनहीन अनुलम्ब समाज व्यवस्था
* सकेन्द्रीयता विहीन मानववाद
* अद्यतन आधुनिक तकनीकी ज्ञान के साथ रोजगार अवसरों की वृद्धि

* विकेन्द्रित उत्पादन प्रक्रिया के साथ उत्पादन क्षमता में वृद्धि
* राष्ट्रीयकरण के साथ लोक उत्तरदायित्व
* शहरीकरण के साथ सांस्कृतिक पृष्ठभूमि
* स्थानीय स्तर पर सूक्ष्म आयोजना के साथ राष्ट्रीय स्तर पर वृहद् आयोजना
* अपनी पृथक् पहचान की सुरक्षा के साथ अपने प्राकृतिक जन समुदायों की एकात्मता
* भारतीय जीवन के मूल्यों के साथ आधुनिक वैज्ञानिक एवं तकनीकी अग्रता
* युगधर्म के साथ सनातन धर्म
* विश्व राज्य जो विभिन्न राष्ट्रीय संस्कृतियों के उन्नयन तथा सहयोग के आधार पर समृद्ध एवं विकसित हो
* मानव धर्म जो भौतिक वाद सहित सभी पंथों की पूर्णता के साथ समृद्ध एवं विकसित हो"[1]

डा. महेश चन्द्र शर्मा ने उपरोक्त मानवीय समस्याओं को चार भागों में विभाजित करते हुए कहा है -

"सार रूप से इन प्रश्नों को चार भागों में बांट सकते हैं -

1. प्रकृति जन्य विरोधाभासों में सामञ्जस्य की समस्या ।
2. समाजशास्त्रीय विकृतियों से मुक्त मानवीय व्यवस्था के सुनिश्चिति की समस्या
3. भारतीय परिस्थिति में अन्तर्निहित विरोधाभासों की समस्या
4. 'विश्व राज्य' व 'मानव धर्म' के स्थापना की समस्या ।

ये प्रश्न आज मानव के समक्ष चुनौती बनकर खड़े हैं । यह चुनौती ही दीनदयाल उपाध्याय की वैचारिक अवधारणा की पृष्ठभूमि बनी । इन्हीं समस्याओं के समाधान के लिए उपाध्याय जी ने चिन्तन प्रारम्भ किया और एकात्ममानववाद की दार्शनिक विचार धारा प्रस्तुत की ।"

मानव समस्याओं के समाधान के लिये प्रस्तुत पण्ड़ित जी के इसी चिन्तन को शोधकर्ता ने उनकी 'शिक्षा' के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

---

1. तथैव पृष्ठ - 340

शिक्षा की दृष्टि से पाठ्यक्रम शिक्षा का एक अभिन्न अंग है । पाठ्यक्रम के अभाव में शिक्षा उद्देश्यहीन एवं अव्यवस्थित ही रहती है । अतः शिक्षा के द्वारा निर्दिष्ट मानवीय मूल्यों की प्राप्ति के लिए पाठ्यक्रम को अति आवश्यक माध्यम के रूप में महत्व प्राप्त है ।

"पाठ्यक्रम की आधुनिक धारणा विस्तृत तथा व्यापक है इसके अन्दर कक्षा के अन्दर जो भी अनुभव छात्र प्राप्त करता है वह तो सम्मिलित है ही साथ ही कक्षा के बाहर का अनुभव भी शामिल है । सभी बौद्धिक विषय विविध कौशल अनेकानेक कार्य पढ़ना, लिखना, शिल्प, खेलकूद आदि क्रियाकलाप पाठ्यक्रम के क्षेत्र के अन्तर्गत हैं । .... कक्षा पुस्तकालय प्रयोगशाला क्रीडा क्षेत्र और विद्यालय प्रांगण में प्राप्त किये जाने वाले समस्त अनुभवों को अपने आंचल में समेट लेता है और वैयक्तिक तथा सामाजिक क्षेत्रों के सभी उद्योगों व्यवसायों कौशलों एवं अभिवृत्तियों को अपनी परिधि में समेट लेता है । ..... इसी माध्यम से हम जीवनादर्शों की प्राप्ति का प्रयास करते हैं ।"[1]

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने पाठ्यक्रम की व्यापक परिभाषा करते हुए लिखा है -

"पाठ्यक्रम का अर्थ न केवल उन सैद्धान्तिक विषयों से है जो स्कूल में परम्परागत रूप से पढ़ाए जाते है वरन् इसमें अनुभवों की वह सम्पूर्णता भी सम्मिलित है जिनको बालक स्कूल कक्षा प्रयोगशाला कार्यशाला तथा खेल के मैदान में एवं शिक्षकों और छात्रों के अनगिनत औपचारिक सम्पर्कों से प्राप्त करता है और इस प्रकार स्कूल का सम्पूर्ण जीवन पाठ्यक्रम बन जाता है जो छात्रों के सभी पक्षों को प्रभावित कर सकता है तथा विकास में सहायता दे सकता है ।"[2]

पाठ्यक्रम की परिभाषा देते हुए प्रसिद्ध विद्वान **मुनरो** ने कहा है -

"पाठ्यक्रम में वे समस्त अनुभव निहित हैं जिनको विद्यालय द्वारा शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उपयोग में लाया जाता है ।"[3]

---

1. शिक्षा के सिद्धान्त पाठ्यक्रम पाठक एवं त्यागी — पृष्ठ - 382
2. माध्यमिक शिक्षा आयोग 1953 — पृष्ठ - 165
3. तथैव — पृष्ठ - 383

तथा फ्रावेल के अनुसार -

"पाठ्यक्रम को मानव जाति के सम्पूर्ण ज्ञान तथा अनुभव का सार समझना चाहिए ।"[1]

आज हमारे जीवन में अनेकानेक विकृतियां दृष्टिगोचर हो रही हैं । जीवन के प्रति अतिशय अर्थवादी दृष्टिकोण के कारण यह विकृतियां विकराल रूप धारण करती जा रही हैं और समाज जीवन जर्जर होता चला जा रहा है । "सर्वेगुणाः काञ्चनमाश्रन्ति' का भाव सर्वत्र व्याप्त है । पैसा ही प्रतिष्ठा का आधार बन गया है । उत्तम चरित्र नैतिकता एवं योग्यता व्यक्ति की प्रतिष्ठा के आधार नहीं रहे । शिक्षा भी अर्थोत्पादक व्यापार का साधन बनती जा रही है । अतः इस प्रकार के दृष्टिकोण को बदलने की महती आवश्यकता है और इस दृष्टिकोण का परिवर्तन भारतीय संस्कृति के आधार पर ही संभव है ।

"पश्चिम का उपभोक्तावाद तो सम्पूर्ण मानव मात्र के अस्तित्व के लिए ही चुनौती है अर्थ प्रधान चिन्तन व जीवन ने भारतीय समाज को जर्जर कर डाला है हमारी राजकीय प्रणाली आर्थिक नीतियां सामाजिक विद्वेषमूलक तनाव शिक्षा के नाम पर चलने वाला व्यापार न्याय के आस्तीन में पलने वाले अन्याय व शोषण के विषधर आदि सब मिलकर हमारे भविष्य पर ही प्रश्न चिन्ह लगा रहे हैं ।[2]

अतः शोधकर्ता की दृष्टि में नयी समाज रचना के लिए पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय द्वारा प्रणीत् एकात्म मानव दर्शन को वर्तमान शैक्षिक पाठ्यक्रम का आधार बनाया जाना चाहिए । जिसके द्वारा हम अपने खोए हुए गुणों, गौरव एवं मूल्यों को पुनः प्राप्त कर सकेंगे ।

अंग्रजों की कुटिल नीति के कारण अंग्रेजियत के मोह में फंसे हुए युवकों में अपने धर्म, संस्कृति एवं जीवन मूल्यों के प्रति तिरस्कार की भावना भर गयी है । वे अपनी चाल में सफल हुए हैं । अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से भारत में बहुत बड़ी संख्या में अपने मानस पुत्रों का निर्माण करके हमारी भारतीय संस्कृति को चिढ़ा रहे हैं । परिणाम स्वरूप भारतीय जनमानस विनाश के कगार

---

1. तथैव — पृष्ठ - 387
2. राष्ट्रधर्म रजत जयन्ती विशेषांक, अक्टूबर 1990
   भारत का वैचारिक वैकल्पिक अधिष्ठान
   यादव सदाशिव देशमुख — पृष्ठ - 90
   पूर्व सम्पादक पाञ्चजन्य, व

पर आ खड़ा हुआ है । कुछ विद्वानों के अनुसार वर्तमान शिक्षा न 'भारतीय' है न 'शिक्षा' । प्रत्येक राष्ट्र का भविष्य उसकी शिक्षा व्यवस्था पर निर्भर है ।

अतः आज सभी वर्तमान शिक्षा पद्धति में परिवर्तन लाने की आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं । गैर सरकारी क्षेत्रों जैसे 'विद्या भारती' आदि संगठनों ने इस दिशा में प्रयास प्रारम्भ किए हैं । वर्तमान में प्रचलित शिक्षा पद्धति के विकल्प के रूप में भारतीय शिक्षा पद्धति के विकास हेतु देश में चिन्तन चल पड़ा है । इसी दिशा में अपने कदम बढ़ाते हुए शोधकर्ता ने राष्ट्रजीवन के लिए संजीवनी के रूप में एकात्म मानव दर्शन पर आधारित निम्नलिखित पाठ्यक्रम प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

1. पाठ्यक्रम की रूपरेखा

एकात्म मानवदर्शन पर आधारित पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय जी के पाठ्यक्रम सम्बन्धी विचारों को निम्नवत् प्रस्तुत करने का प्रयास शोधकर्ता द्वारा किया गया है । शोधकर्ता की दृष्टि में पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय द्वारा लिखित "राष्ट्रजीवन की दिशा" ही उनके पाठ्यक्रम सम्बन्धी विचारों का संकलन है ।

1. पाश्चात्य जीवन पद्धति में कहीं न कहीं कोई मौलिक त्रुटि अवश्य है जिसके कारण वहां समृद्धि होते हुए भी 'सुख' नही है और वह त्रुटि है कि वे मनुष्य का सम्पूर्ण विचार नहीं कर पाए । चूंकि मनुष्य की समस्त क्रियाओं का उद्देश्य सुख की प्राप्ति ही है इसलिए ऐसे पाठ्यक्रम का निर्माण किया जाना चाहिए जिसके द्वारा मनुष्य 'सुख' को प्राप्त कर सके । पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय के अनुसार, -

   "हमने व्यक्ति के जीवन का पूर्णता के साथ संकलित विचार किया है उसके शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा सभी का विकास करने का उद्देश्य रखा है । ...इस हेतु चारों पुरुषार्थो का संकलित विचार हुआ है ।"[1]

   अतः शारीरिक मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक एवं अध्यात्मिक क्रियाओं के साथ-साथ परोपकार की भावना उत्पन्न करने वाली क्रियाओं को पाठ्यक्रम में रखा जाना चाहिए ।

2. "संघ बनाकर उठना ही प्रगति का रास्ता है संघ बनाकर न रहना अर्थात् व्यक्तिशः रहना, व्यक्ति का पृथक-पृथक रहना असंघटित अवस्था है इसी का नाम विनाश है । .... मानवों का अमरत्व संघ भाव से है और व्यक्ति बिखरा हुआ रहे तो व्यक्ति का नाश निश्चित है इसलिए व्यक्तियों को गुणवान् शक्तिवान् बनना चाहिए और व्यक्तिवाद छोड़कर संघ शक्ति की आराधना करना चाहिए । मनुष्य अमरत्व चाहता है वह अमरत्व संभूति से ही मिल सकता है ।

---

1. एकात्म मानवदर्शन
   एकात्म मानववाद — पृष्ठ - 29
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

> "संभूत्या अमृतं अश्नुता" संघ से अमरत्व प्राप्त होता है । संघ जीवन सामुदायिक जीवन जीना ही अमरत्व प्राप्त करना है । इस दृष्टि से 'मैं' के वास्तविक रूप 'हम' को ग्रहण करना चाहिए ।" [1]

अतः ऐसा पाठ्यक्रम सुनिश्चित किया जाए जो व्यक्तिवादी भावना से ऊपर उठकर संघवादी एवं सामुदायिक जीवन जीने की प्रेरणा दे । अर्थात सामुदायिक क्रियाओं को पाठ्यक्रम मे महत्वपूर्ण स्थान दिया जाना चाहिए ।

3. चूंकि 'संस्कृति' ही राष्ट्र के सम्पूर्ण शरीर में प्राणों के समान संचार करती है और राष्ट्र भक्ति की भावना का निर्माण संस्कृति ही करती है तथा संस्कृति ही राष्ट्र की संकुचित सीमाओं को तोड़कर एकात्मा का अनुभव कराती है इसलिए सांस्कृतिक स्वतन्त्रता अथवा संस्कृति की स्वतन्त्रता परमावश्यक है । बिना उसके राष्ट्र की स्वतन्त्रता निरर्थक ही नहीं टिकाऊ भी नहीं रह सकेगी । अतः पाठ्यक्रम में 'संस्कृति' एवं 'सांस्कृतिक क्रियाओं' को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाना चाहिए ।

4. राष्ट्र एक जीवमान इकाई है और अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए 'राष्ट्र' 'राज्य' का निर्माण करता है । अतः 'राज्य' 'राष्ट्र' की विभिन्न इकाइयों में से एक है । राष्ट्र सर्वकाल विद्यमान एवं स्थाई सत्य है जबकि राज्य अस्थाई रहता है । जैसे व्यक्ति अनुपयोगी वस्त्रों को बदलकर उपयोगी वस्त्रों को धारण करता है उसी प्रकार राष्ट्र अनुपयुक्त राज्य को बदलकर आवश्यकतानुकूल उपयुक्त राज्य का निर्माण करता है ।

> "इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राष्ट्र के लिए राज्य है राज्य के लिए राष्ट्र नहीं इसी प्रकार राजनीति के लिए राष्ट्रीयता नहीं राष्ट्रीयता के पोषण के लिए राजनीति होनी चाहिए । वह राजनीति जो राष्ट्र को क्षीण करे अवांछनीय रहेगी ।"[2]

यह सिद्धान्त हम सबको स्वीकार करना चाहिए कि सच्चा सामर्थ्य, वास्तविक

---

1. राष्ट्र जीवन की दिशा 'मैं' और 'हम' पृष्ठ - 31
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
2. राष्ट्रजीवन की दिशा 'राष्ट्र और राज्य' पृष्ठ - 49
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

शक्ति, राष्ट्र में ही निहित होती है राज्य में नहीं । कुछ लोग राज्य को ही राष्ट्र समझकर समसामयिक राजनीति के अनुसार चलना ही श्रेयष्कर समझते हैं और भूलकर बैठते हैं । इसी कारण से हमारे भी राष्ट्र का स्वाभिमान क्षीण हुआ है । अतः राजनीति से हटकर अस्थाई सत्य को ही वास्तविक न मानकर विशुद्ध राष्ट्रभाव को पुष्ट करने वाला पाठ्यक्रम ही राष्ट्र के पुनर्निमाण में सहायक सिद्ध होगा ।

5. साम्प्रदायिकता का हमारे यहां कोई स्थान नहीं है अतः पाठ्यक्रम के अन्तर्गत असाम्प्रदायिक' विषयों को स्थान दिया जाना चाहिए । लेकिन असाम्प्रदायिक' अर्थात 'सेक्युलर' शब्द का अर्थ ठीक-ठीक अवश्य लगाया जाए । हमारे यहां 'मत' को सम्प्रदाय भी कहते हैं जैसे शैव सम्प्रदाय, वैष्णव सम्प्रदाय, ख्रिस्ती सम्प्रदाय आदि । सभी सम्प्रदाय ईश्वर प्राप्ति का मार्ग बताने वाले हैं जैसे अलग-अलग स्थानों से बहती हुई विभिन्न नदियों समुद्र में ही समाहित होती हैं । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति । जब प्रत्येक सम्प्रदाय का लक्ष्य एक ही है तो एक दूसरे सम्प्रदाय के प्रति विद्वेष की भावना को जड़ मूल से समाप्त होना चाहिए । राज्य के अन्तर्गत सभी मतों को समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए । किसी भी सम्प्रदाय के प्रति पक्षपात या किसी के प्रति घृणा का व्यवहार न करते हुए जीवन की लौकिक और पारलौकिक उन्नति के लिए 'धर्म' को पाठ्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होना चाहिए । क्योंकि कहा गया है "धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजा : ।

श्री अरविन्द के अनुसार,

> "धर्म मनुष्य के अन्दर एक ऐसी प्रेरणा प्रवृत्ति एवं विधि व्यवस्था है जिसका लक्ष्य स्पष्ट रूप से भगवान ही है । उनके अनुसार धार्मिक मत व सम्प्रदाय जब धर्म भावना के स्थान पर सम्प्रदाय भावना से कार्य करता है तो स्वयं का ही शत्रु बन जाता है ।"[1]

इस प्रकार पण्ड़ित दीनदयाल जी साम्प्रदायिकता विहीन धार्मिक भावना को जागृत करने वाले पाठ्यक्रम के पक्षधर हैं ।

---

1. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय कर्तृत्व एवं विचार
दार्शनिक अभिधारणाएं पृष्ठ - 377
डा. महेश चन्द्र शर्मा

6. "जैसे प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति भिन्न होती है वैसे ही प्रत्येक राष्ट्र की प्रकृति भी भिन्न होती है । भारत की भी अपनी एक प्रकृति है । हमारे इतिहास का अध्ययन करने से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि हमारे यहां सम्राटों या लक्ष्मी पुत्रों की तुलना में ऋषि महर्षियों को अधिक महत्व दिया गया । बड़े-बड़े राजा इन महर्षियों के सामने नत मस्तक होते थे । हमारे राष्ट्र की प्रकृति अध्यात्म प्रधान रही है । हम भौतिक समृद्धि के आकर्षक नारों की ओट में इसे बदल नहीं सकते । यदि हमने मूल प्रकृति की अवहेलना करने की चेष्टा की तो हमारे राष्ट्र जीवन में अनेकों प्रकार की विकृतियां उत्पन्न होंगी ।"[1]

अर्थात हमारे यहां भोग की अपेक्षा त्याग को महत्व दिया गया है आसक्ति की जगह निरासक्ति को प्रतिष्ठा दी गयी है ।

"चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के लिए एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया पर स्वयं निस्पृह कर्मयोगी की भांति राज्य से निराशक्त रहे । आज हमारे राजनीतिक जीवन में जो विकृतियां दिखाई दे रही हैं वह आसक्ति के कारण दिखाई दे रही हैं ।"[2]

इस प्रकार राष्ट्र की प्रकृति के अनुकूल त्याग और अनासक्ति की आदर्श तथा पवित्र भावना उत्पन्न करने वाला पाठ्यक्रम वर्तमान समाज में व्याप्त विकृतियों को समाप्त करने में सहायक होगा ।

7. जनतंत्र में लोकमत सर्वोपरि होता है इसलिए लोकमत परिष्कार की सुदृढ़ व्यवस्था ही समाज और राष्ट्र को संकटों से दूर रख सकती है । अन्यथा

"जो दुर्जन और दुराग्रही व्यक्ति हैं वे अपनी बात मनवाकर समाज के अगुवा बन जाते हैं और धीरे-धीरे लोकतन्त्र एक विकृत रूप में उपस्थित होकर समाज के लिए कष्ट दायक हो जाता है । सम्भवतः इसी संकट का सामना करने के लिए

---

1. राष्ट्र जीवन की दिशा
   राष्ट्र प्रकृति और विकृति
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय — पृष्ठ - 71-72
2. तथैव — पृष्ठ - 76-77

हमारे यहां शास्त्रकारों ने लोकमत परिष्कार की व्यवस्था की । जिस समाज में यह परिष्कार का काम चलता रहेगा वहां सहिष्णु एवं संयमशील व्यक्तियों का मण्डल निरन्तर बढ़ता चला जायेगा ।"[1]

इसलिए शोधकर्ता की दृष्टि में लोकमत को निरन्तर परिष्कृत करते रहने की आवश्यकता है । अतः धर्म के तत्वों के अनुसार लौकिक और पारलौकिक उन्नति हेतु संस्कारित एवं परिष्कारित करने वाला पाठ्यक्रम वाञ्छनीय है ।

8. राष्ट्र को 'परम वैभव' तक पहुंचाने के लिए धर्मयुक्त संगठित कार्य शक्ति की आवश्यकता है चूंकि -

स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, श्री रविन्द्र नाथ ठाकुर आदि अर्वाचीन महर्षियों ने विभिन्न देशों में जाकर यही सन्देश दिया और विश्व ने श्रद्धावनत् होकर इस तथ्य को स्वीकार किया कि हिन्दू धर्म ही वास्तव में मानव धर्म है इसी के आधार पर विश्व की एकता अथवा मानव कल्याण हो सकता है ।" [2]

इसलिए हिन्दू धर्म और संगठनकारी तत्वों को पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाए ।

9. 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' हमारी कामना है और

"भारत का यदि कोई इतिहास है तो वह समस्त विश्व की मंगल कामना का ही है । विश्व के विभिन्न देशों में प्राप्त भारतीय इतिहास के अवशेष आज भी इसी तथ्य की घोषणा कर रहे हैं कि भारत ने प्राणि मात्र के कल्याण के लिए ही प्रयत्न किए हैं । इसलिए सत्य तो यह है कि विश्व में परस्पर संघर्ष, विद्वेष प्रतिद्वन्दिता के आधार पर प्रकट हो रही पश्चिमी राष्ट्रवाद की विभीषिकाओं से विश्व को बचाना है तो उसके लिए भारत के सशक्त राष्ट्रवाद को ही संगठित और सक्षम बनाकर खड़ा करना होगा ।"[3]

---

1. राष्ट्रजीवन की दिशा
   लोकमत परिष्कार पृष्ठ - 83
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
2. राष्ट्रजीवन की दिशा
   'परं वैभवं नेतु मेतत्स्वराष्ट्रम्' पृष्ठ - 97
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
3. तथैव
   संगठन का आधार राष्ट्रवाद पृष्ठ - 108
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

इसप्रकार शोधकर्ता के अनुसार 'हिन्दू राष्ट्रवाद' या 'भारतीय राष्ट्रवाद' को पाठ्यक्रम का विषय बनाया जाना चाहिए ।

10. 'समन्वय' ही सुख का साधन है संघर्ष नहीं व्यक्ति और समाज के बीच समन्वय से ही दोनों का भला होता है । भारतीय चिन्तन के अनुसार,

> "हम व्यक्ति को ही सर्वे सर्वा नहीं मानते इसलिए कहते हैं कि व्यक्ति वादी नहीं है । हम समाज को भी ऐसा नहीं मानते कि वह व्यक्ति की समस्त स्वतन्त्रताओं और विभिन्नताओं का अपहरण कर ले मनुष्य को किसी शिकंजे में कसकर मशीन का पुर्जा बनाकर इस्तेमाल करें इसीलिए हम समाज वादी नहीं हैं । हम दोनों के बीच में समन्वय करना चाहते हैं ।"[1]

व्यक्ति अपनी शक्ति और गुणों के द्वारा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करे और समाज भी उसके योगक्षेम की चिन्ता करे । इसलिए शोधकर्ता व्यक्ति और समाज के बीच समन्वय एवं सौहार्द बनाए रखने वाला पाठ्यक्रम निर्धारित किए जाने के पक्ष में है ।

11. सर्वांगपूर्ण वर्ण व्यवस्था समाज की श्रेष्ठ रचना है । कालान्तर में इस व्यवस्था के अन्दर यदि कुछ विकृतियां आ गयी हों तो उन्हें दूर करते हुए इसके वास्तविक स्वरूप को स्वीकार करके प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है ।

अतः वर्ण व्यवस्था की श्रेष्ठता से विद्यार्थियों को परिचित कराने के लिए इसको पाठ्यक्रम में स्थान दिया जाए ।

हमारे यहां यदि ऋषि मुनियों ने समाज की वर्ण व्यवस्था का निर्माण करके समाज में सुख और आनन्द के साथ-साथ एकात्मता का भाव जागृत किया है । वर्ण व्यवस्था का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि -

> "हजारों मस्तक, हजारों बाहु, हजारों नेत्र, हजारों उदर, हजारों जांघें, हजारों पैरों वाला एक पुरुष पृथ्वी पर फैला हुआ है ज्ञानी मनुष्य इसके मुख है, शूरवीर बाहु हैं, किसान और व्यापारी इसके उदर तथा जांघें हैं कारीगर इसके पैर हैं ।

---

1. तथैव व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध पृष्ठ - 116
   पण्डित दीनदयाल उपाध्याय

ज्ञानी, शूर, व्यापारी और शिल्पी मिलकर एक देह है । एक देह में जिस प्रकार एकात्मता होती है वैसी एकात्मता इस जनता रूपी पुरुष में होनी चाहिए ।"[1]

इस प्रकार सामञ्जस्यपूर्ण एकात्म समाज व्यवस्था का पुनः निर्माण करने के लिए प्राचीन वर्ण व्यवस्था के महत्व को आवश्यक सुधारों के साथ स्वीकारना होगा और शिक्षा के पाठ्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान देना होगा ।

12. "समाजवाद और लोकतन्त्र दोनों ने ही मानव के भौतिक स्वरूप और आवश्यकताओं पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है और दोनों की आधुनिक विज्ञान और यान्त्रिक उन्नति पर अत्यधिक श्रद्धा है .... आज व्यक्ति मशीन पर शासन नहीं करता मशीन मनुष्य पर शासन कर रही है । ....मनुष्य केवल भौतिक आवश्यकताओं का समुच्चय मात्र ही नहीं है उसकी कुछ आध्यात्मिक आवश्यकताएं भी हैं । जो जीवन पद्धति मानव जीवन के इस आध्यात्मिक पहलू की उपेक्षा करती हो वह कदापि पूर्ण नहीं हो सकती । यहां हमें इसका स्मरण रखना होगा कि भौतिक उन्नति के साथ आध्यात्मिक प्रगति की कल्पना केवल हवाई उड़ान ही नहीं मानव की गरिमा को सुरक्षित रखते हुए समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने का दायित्व भी निभाना होगा ।"[2]

उपरोक्त दोनों विचारधाराओं के विवेचन करने के बाद पण्ड़ित दीनदयाल जी ने उसका हल सुलझाते हुए कहा है -

"मानव जीवन की इस निराशपूर्ण स्थिति में से मार्ग खोजना हो तो दिखाई देगा कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारो पुरुषार्थों पर आधारित हिन्दू जीवनादर्श ही हमें इस संकट से उबार सकता है ।"[3]

---

1. राष्ट्रजीवन की दिशा
   सामञ्जस्य पूर्ण वर्ण व्यवस्था — पृष्ठ - 134
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
2. राष्ट्रजीवन की दिशा
   दोउ नराह न पाई — पृष्ठ - 143, 144
3. तथैव — पृष्ठ - 144

उन्होंने आगे यह भी कहा है कि -

"आप इसे किसी भी नाम से पुकारिए हिन्दुत्ववाद, मानववाद अथवा अन्य कोई भी नयावाद किन्तु यही एकमेव मार्ग भारत की आत्मा के अनुरूप होगा और जनता में नवीन उत्साह का संचार कर सकेगा । सम्भव है विभ्रान्ति के चौराहे पर खड़े विश्व मानव के लिए भी यह मार्गदर्शक का काम कर सके ।"[1]

अतः शोधकर्ता की दृष्टि में पण्ड़ित दीनदयाल जी समस्त झंझाबातों से सुरक्षा प्रदान करने के विचार से भारत की आत्मा के अनुरूप 'हिन्दू जीवनादर्शों' को पाठ्यक्रम में स्थान देने के पक्षधर थे ।

13. केन्द्रीकरण प्रजातन्त्र में घातक होता है क्योंकि अधिकाधिक शक्ति राज्य के हाथों में रहती है । इस प्रकार राज्य अर्थात शासन करने वाला दल अधिक से अधिक लाभान्वित एवं मजबूत होता है । हमारे यहां केवल राज्य को ही प्रमुखता प्रदान नहीं की गयी है । व्यक्ति, कुटुम्ब, कुल, जाति और राज्य सभी राष्ट्र की संस्थाएं हैं । अतः सभी के हाथ में शक्ति रहना आवश्यक है । धन का समान वितरण आवश्यक है । जिसके लिए 'विकेन्द्रीकरण' को व्यवहार में लाना पड़ेगा । इसीलिए पण्ड़ित दीनदयाल जी 'विकेन्द्रीकरण' के हिमायती थे । धन के समान वितरण उद्योगों में भागीदारी एवं शक्ति सन्तुलन के लिए 'विकेन्द्रीकरण' की महत्वपूर्ण भूमिका को पण्ड़ित दीनदयाल जी स्वीकार करते थे और शिक्षा के द्वारा इस प्रक्रिया को सर्वमान्य बनाकर समन्वय स्थापित करना चाहते थे ।

"विकेन्द्रीकरण की मौलिक इकाई है व्यक्ति और कुटुम्ब । व्यक्ति के प्रयत्नों तथा कुटुम्ब के सहारे और स्वामित्व के द्वारा कभी व्यापक रूप से विषमता अथवा शोषण की सम्भावनाएं नहीं उत्पन्न हो सकती । ..... अतः साधारण उत्पादन का आधार व्यक्ति और कुटुम्ब होना चाहिए । हमें इस प्रणाली को अपनाना पड़ेगा जिसमें हम कुटुम्ब की इकाई को ही उत्पादन की इकाई बना सकें ।"[2]

---

1. तथैव — पृष्ठ - 145

1. तथैव — विकेन्द्रीकरण — पृष्ठ - 152 — पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

14. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय शिक्षा के माध्यम से 'स्वदेशी' की भावना बलवती बनाना चाहते थे । क्योंकि स्वतन्त्रता के बाद 'विदेशियत' ने हमारे यहां के वातावरण को 'परतन्त्रत' बनाए रखने का ही कार्य किया है ।

> "स्वतन्त्र होने के बाद भी हम आज अपने आपको अंग्रेजों की कार्बन कापी जैसे ही पा रहे हैं । भारत की हर एक वस्तु हमें प्रतिगामी और अवाञ्छनीय लगती है जबकि यूरोप की प्रत्येक बात अनुकरणीय । आज की स्थिति में यह है कि गोरी चमड़ी वाला व्यक्ति देखते ही हम लोग हीनता की भावना से अभिभूत हो जाते हैं । पाश्चात्यजनों के प्रति, उनकी जीवन पद्धति और रहन-सहन के प्रति सहज आकर्षण से देश खिचा जा रहा है । मानों यूरोपियन आज तक हमारा गुरू रहा है और आज भी हम उसी की गुरूपूजा कर रहे हैं ।"[1]

इस स्थिति से निपटने के लिए स्वदेश प्रेम एवं स्वदेशी की भावना जाग्रत करनी पड़ेगी जिसके लिए शिक्षा से अच्छा कोई माध्यम नहीं हो सकता । अपने धर्म, अपने महापुरुष, अपने राष्ट्र, अपने देश, की प्रत्येक वस्तु यहां तक कि माटी से भी अगाध स्नेह उत्पन्न करने वाले पाठ्यक्रम का निर्माण करना पड़ेगा ।

> "हमारा कर्तव्य है कि हम सभी धर्मभ्रष्टों को शुद्ध करके उन्हें पुनः भारतीय धर्म में दीक्षित कर भारत माता के पुजारी बना दें ।"[2]

इसलिए शिक्षा में ऐसे पाठ्यक्रम को स्थान दें कि बच्चा बच्चा 'भारतीय भूत्वा भारतं यजेत्', के सिद्धान्त पर चलता हुआ अपने आप को गौरवान्वित माने । शोधकर्ता की यही भावना है यही कामना भी है ।

15. सहिष्णुता के साथ-साथ जयिष्णु भाव बनाए रखने के लिए शक्ति संचय के सिद्धान्तों को पण्ड़ित दीनदयाल जी पाठ्यक्रम में स्थान दिये जाने के पक्षधर थे ।

> "सहिष्णुता की भावना पर इतना जोर दिया जाने लगा है कि जीवन की दूसरी आवश्यक प्रवृत्ति की ओर हमारा दुर्लक्ष्य हो गया है । फलतः सहिष्णुता का

---

1. राष्ट्र जीवन की दिशा गुरूपूजा स्वदेशी विदेशी पृष्ठ - 162
2. तथैव

अर्थ हो गया है महत्वाकांक्षा से हीन दुनिया की हर जाति के सामने झुकते जाना । वास्तव में तो सहिष्णुता के समान ही जपिष्णुता का सिद्धान्त भी आवश्यक है । बिना जपिष्णु भावना के कोई समाज न तो जीवित ही रह सकता है न वह अपने जीवन का विकास ही कर सकता है ।"[1]

16. व्यक्ति और राष्ट्र को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाने के लिए पण्डित दीनदयाल जी सैन्य शिक्षा, कृषि शिक्षा, औद्योगिक शिक्षा, तकनीकी शिक्षा, इन्जीनियरिंग शिक्षा, व्यवसायिक शिक्षा, प्राविधिक शिक्षा, यातायात शिक्षा, जनसंख्या शिक्षा तथा सामाजिक शिक्षा को पाठ्यक्रम की विषय वस्तु बनाये जाने के हिमायती थे । उन्होंने 'भारतीय अर्थनीति विकास की एक दिशा' नामक पुस्तक में अपने विचारों को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि -

"यह भी आवश्यक है कि हम आर्थिक क्षेत्र में भी आत्म निर्भर बनें ।"[2]

लेकिन पण्डित दीनदयाल जी किसी भी देश के पिछलग्गू बनकर 'आर्थिक समृद्धि' प्राप्त करने के विरूद्ध थे । उनका कहना था कि -

"जीवन के विभिन्न आदर्शों के कारण ही नहीं देश और काल की भिन्न परिस्थितियों के कारण भी हमारे आर्थिक विकास का मार्ग पश्चिम से भिन्न होना चाहिए ।"[3]

शोधकर्ता की दृष्टि में भारत के 'आर्थिक मोर्चो' पर विफल होने का मुख्य कारण है 'परानुकरण' दूसरों के द्वारा दिया गया आर्थिक ढांचा । अतः हमें अपने जीवनादर्शों और देश तथा काल की परिस्थितियों के अनुसार अपना आर्थिक कार्यक्रम निश्चित करना होगा । विद्यार्थियों के अन्दर सहज लगाव उत्पन्न करना होगा ।

"अतः आवश्यकता है कि हम अपने जीवन दर्शन का विचार कर भारतीय

---

1. तथैव — विजय आकांक्षा — पृष्ठ - 178, 179
2. भारतीय अर्थनीति — विकास की एक दिशा — आत्मनिर्भरता — पृष्ठ - 25 — पण्डित दीनदयाल उपाध्याय — लोकहित प्रकाशन लखनऊ
3. भारतीय अर्थनीति — विकास की एक दिशा — पृष्ठ - 11 — पण्डित दीनदयाल उपाध्याय

अर्थव्यवस्था का मौलिक निरूपण करें तथा आज की समस्याओं को यथार्थ कल्काकीर्ण उबड़-खाबड़ किन्तु ठोस भूमि पर खड़े होकर सुलझायें । भारत के 'एव' का साक्षात्कार् किए बिना हम अपनी समस्याओं को सुलझा नहीं पायेंगे यदि किसी क्षेत्र में थोड़ी बहुत सफलता मिल भी गई तो उसका परिणाम हमारे लिए हितकर नहीं होगा । .... यदि हमें अपने देश का विकास करना है तो इस प्रश्न का अन्तर्मुख होकर विचार करना होगा । यदि उसमें कुछ देर भी लगे तो भी वह स्थायी और सर्वहित-कर हल होगा ।"[1]

---

1. तथैव पृष्ठ - 15

2. व्यायाम तथा शिक्षा

शिक्षा का अर्थ ही है - मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास । अर्थात मनुष्य का बौद्धिक, आत्मिक, आध्यात्मिक, नैतिक, चारित्रिक एवं शारीरिक विकास । जिसे हम एक पक्षीय या एकांगी विकास न कहकर मनुष्य का सर्वांगीण विकास एवं सन्तुलित विकास कहते हैं । जिसमें शरीर का विकास सम्मिलित है ।

प्लेटो के अनुसार,

"शिक्षा द्वारा हमें शरीर आत्मा की पूर्णता के लिए सब कुछ प्राप्त हो सकेगा अगर हममें उसे ग्रहण करने की क्षमता हो ।"[1]

कलेनिय के विचार से

"शिक्षा सम्पूर्ण मानव का विकास है ।"[2]

महात्मा गांधी शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य मानव जीवन का सर्वतोन्मुखी विकास मानते थे । शिक्षा से उनका तात्पर्य है

"शिशु एंव मानव के शरीर मन एवं आत्मा में निहित सर्वश्रेष्ठ तत्वों का विकास"[3]

उनका कहना है कि -

"शिक्षा से मेरा अभिप्राय है बालक और मनुष्य के शरीर, मस्तिष्क और आत्मा में पाए जाने वाले सर्वोत्तम गुणों का चतुर्मुखी विकास ।"[4]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शारीरिक विकास शिक्षा का विशिष्ट उद्देश्य है । विभिन्न समाजों ने विभिन्न कालों में शारीरिक विकास के लिए विभिन्न प्रकार के 'व्यायाम' की व्यवस्था की है । भौतिकवादियों के अनुसार स्वस्थ शरीर के द्वारा ही सुखों की प्राप्ति की जा सकती

---

1. विश्व के महान शिक्षाशास्त्री
   राधाकृष्णन
   डा. बैद्यनाथ शर्मा, पृष्ठ - 777
   बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना - 3
2. तथैव पृष्ठ - 777
3. तथैव महात्मागांधी पृष्ठ - 461
4. तथैव पृष्ठ - 461

है तथा आध्यात्मवादियों के अनुसार स्वस्थ शरीर के द्वारा ही उच्च साधना एवं आत्मानुभूति का सुख प्राप्त किया जा सकता है ।

वर्तमान समय में बच्चों के शरीर को स्वस्थ रखने के लिए उनकी मांसपेशियों एवं विभिन्न अंगों को मजबूत बनाने और उनकी कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों को क्रियाशील बनाने के लिए शिक्षा के साथ-साथ व्यायाम को भी पाठ्यक्रम में स्थान प्राप्त है । आसन दौड़ खेल-कूद एवं अन्य नये-नये व्यायाम के साधनों की व्यवस्था की जाती है । हमारे यहां कहा भी जाता है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क रहता है । भौतिक एवं आध्यात्मिक उपलब्धियां शरीर के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है । स्वस्थ मनुष्य प्रसन्न एवं कार्यक्षम रहता है इसके विपरीत अस्वस्थ मनुष्य चिड़-चिड़ा एवं आलसी रहता है । उसमें किसी प्रकार का उत्साह नहीं रहता है वह अपनी रोटी भी ठीक से नहीं कमा सकता है कुल मिलाकर उसका जीवन ही भार स्वरूप हो जाता है । अतः प्रारम्भ से ही बच्चों को स्वस्थ रखने के लिए 'व्यायाम' की व्यवस्था की जानी चाहिए और यह जिम्मेदारी उनकी है जो शिक्षा क्षेत्र से जुड़े हुए हैं चाहे वह शिक्षक हों या शिक्षाविद् ।

प्राचीन काल से हमारे यहां शरीर को स्वस्थ रखने के लिए 'व्यायाम' की व्यवस्था रही है । प्राचीन कालीन या वैदिक कालीन शिक्षा की यह प्रमुख विशेषता थी कि शरीर के सुसंगत विकास के लिए विद्यार्थी को नित्य प्रति 'व्यायाम' करना पड़ता था ।

> "शारीरिक श्रम के इतने कार्य हर विद्यार्थी को नित्य करने होते थे कि भरपूर शारीरिक व्यायाम हो जाता था ।

सत्यार्थ प्रकाश के अध्याय - 3 में 'व्यायाम' के महत्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि -

> "जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश होता जाता है । ...... जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं का मल नष्ट होकर शुद्ध हो जाते हैं वैसे प्राणायाम करके मन आदि इन्द्रियों के दोष क्षीण होकर निर्मण हो जाते हैं । .... बल पुरुषार्थ बढ़कर बुद्धि तीव्र सूक्ष्म रूप हो जाती है जोकि बहुत कठिन और सूक्ष्म

---

1. भारतीय शिक्षा की वर्तमान समस्याएं
   शिक्षा का भारतीय करण
   डा. रविन्द्र अग्निहोत्री पृष्ठ - 241
   रिसर्च पब्लिकेशन, जयपुर

विषय को भी शीघ्र ग्रहण करती है ।"[1]

स्वामी श्रद्धानन्द ने 'व्यायाम और धर्म' को मनुष्य के लिए आवश्यक माना है उनका कहना है कि -

"व्यायाम करने वाला व्यक्ति ही अपने धर्म का भी पालन करने में सक्षम और समर्थ होता है । शिक्षा शास्त्री रूसो स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निवास मानते हैं । स्वामी श्रद्धानन्द को स्वयं भी अपनी किशोरावस्था में टहलने, घूमने, व्यायाम और धार्मिक आचरण का बड़ा शौक था । अपनी आत्मकथा 'कल्याण मार्ग का पथिक' के पृष्ठ - 195 में उन्होंने लिखा है मुझे जाड़ों में भी चारों ओर की वायु खोलकर सोने का अभ्यास था ।"[2]

व्यायाम के बारे में उनके अमृत तुल्य शब्द स्मरणीय हैं ।

"व्यायाम के अभाव में उनके (श्रद्धानन्द के पिता नानकचन्द) रोग ग्रस्त होने का कारण हुआ जिससे भारी शिक्षा मैंने ली है और मेरे पाठकों को भी लेनी चाहिए ।"[3]

विद्यार्थियों को स्वस्थ रखने के उपाय बताते हुए महात्मा गांधी ने कहा है -

"बालकों की ऊँचाई, वजन आदि का नियमित लेखा रखा जाना चाहिए साथ ही उन्हें नियमित रूप से खेल तथा व्यायाम कराया जाना चाहिए ।"[4]

वनस्थली विद्यापीठ राजस्थान में बच्चों के सर्वांगीण विकास के लिए पंचमुखी शिक्षा योजना का निर्माण किया गया है । जिसके अंग हैं शारीरिक, व्यवहारिक, ललितकला विषयक, नैतिक और बौद्धिक । अतः 'व्यायाम' की दृष्टि से शारीरिक शिक्षा को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । वहां पर विभिन्न प्रकार की ड्रिलों, लाठी, लेजिम, गदका, डम्बल, तलवार, भाला, सैनिक कवायद, आधुनिक और पुराने खेल, कबड्डी बालीबाल, खो-खो, हॉकी, बास्केट बाल, बैडमिण्टन, थ्रोबाल, साईकिल सवारी,

---

1. सत्यार्थ प्रकाश अध्याय - 3 'अध्ययन अध्यापन विधि' पृष्ठ - 28
महर्षि दयानन्द सरस्वती
2. विश्व के महान शिक्षा शास्त्री
स्वामी श्रद्धानन्दन पृष्ठ - 693
डा. बैद्यनाथ शर्मा
बिहार हिन्दी अकादमी पटना - 3
3. विश्व के महान शिक्षा शास्त्री
श्रद्धानन्द पृष्ठ - 693
डा. बैद्यनाथ शर्मा
बिहार हिन्दी अकादमी पटना - 3
4. तथैव महात्मागांधी पृष्ठ - 540

घुड़सवारी तथा तैराकी की शिक्षा दी जाती है । यौगिक आसनों को सिखाने का भी प्रबन्ध है ।

व्यायाम के महत्व को स्वीकारते हुए 'विद्याभारती' द्वारा यह संकल्प व्यक्त किया गया है कि -

"विद्यालय ऐसा चाहिए जहां शरीर स्वस्थ, सुदृढ़, निरोगी तथा कर्मकठोर बन सकें, अभ्यास ऐसा चाहिए जिससे शरीर के अंग प्रत्यंगों में पारस्परिक सहयोग हो, तारतम्य हो, एकाग्रता के आधार पर मानसिक शक्तियों का प्रस्फुटन हो । इसके लिए शारीरिक कार्यक्रमों की रचना ध्यान व प्राणायाम की नियमित व्यवस्था चाहिए ।"[1]

वैसे तो 'व्यायाम' का शाब्दिक अर्थ है शारीरिक शिक्षा परन्तु वास्तव में शारीरिक शिक्षा शरीर तक ही सीमित नहीं है । शारीरिक शिक्षा का अर्थ है बालक का शारीरिक, प्राणिक, मानसिक, नैतिक एवं आत्मिक विकास यानि कि सम्पूर्ण व्यक्तित्व का गठन ।

"शारीरिक शिक्षा केवल शारीरिक क्रिया नहीं शारीरिक शिक्षा - शिक्षा ही है यह वह शिक्षा है जो शारीरिक क्रियाओं द्वारा बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व शरीर मन एवं आत्मा के विकास हेतु दी जाती है । शिक्षा के उद्देश्यों की पूर्ति में शारीरिक शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान है । खेल के मैदान में धरती माता की धूल में ही बालक के व्यक्तित्व का वास्तविक गठन होता है । खेलों के द्वारा स्फूर्ति, बल, निर्णय, शक्ति, सन्तुलन, साहस, सतर्कता आगे बढ़ने की वृति, मिलकर काम करने की आदत, हारजीत में समत्व भाव अनुशासनबद्धता आदि शारीरिक, नैतिक, सामाजिक एवं आत्मिक गुणों का विकास होता है । भीतर की कुछ कुण्ठांए, घुटन, निराशा आदि खेल की मस्ती में घुल जाती है उत्साह उमड़ता है, क्रियाशीलता बढ़ती है ।"[2]

व्यायाम से शरीर स्वस्थ होता है और स्वस्थ शरीर वाला मनुष्य स्वस्थ समाज का

---

1. विद्या भारती सरस्वती शिशु मन्दिरों के आधारभूत बिन्दु — पृष्ठ - 25
   राणा प्रताप सिंह
   लोकहित प्रकाशन राजेन्द्र नगर, लखनऊ
2. भारतीय शिक्षा के मूलतत्व
   शिक्षा के उद्देश्य — पृष्ठ - 85
   लज्जाराम तोमर
   सुरूचि प्रकाशन, लखनऊ

निर्माण करता है इसलिए स्वामी विवेकानन्द जी ने व्यायाम के द्वारा स्वस्थ एवं बलशाली होने का आग्रह किया है । उन्हीं के शब्दों में -

"अनन्त शक्ति ही धर्म है, बल पुण्य है और दुर्बलता पाप । सभी पापों और सभी बुराईयों के लिए एक ही शब्द पर्याप्त है और वह है दुर्बलता ..... आज हमारे देश को जिस वस्तु की आवश्यकता है वह है लोहे की मांसपेशियां और फौलाद के स्नायु दुर्दभनीय प्रचण्ड इच्छा शक्ति जो सृष्टि के गुप्त तथ्यों और रहस्यों को भेद सके और जिस उपाय से हो अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में समर्थ हो फिर चाहे उसके लिए फिर चाहे उसके लिए समुद्रतल में ही क्यों न जाना पड़े - साक्षात् मृत्यु का ही सामना क्यों न करना पड़े । मेरे नवयुवक मित्रों बलवान बनो तुमको मेरी सलाह है । गीता के अभ्यास की अपेक्षा फुटबाल खेलने के द्वारा तुम स्वर्ग के अधिक निकट पहुंच जाओगे । तुम्हारी कलाई और भुजाएं अधिक सुदृढ़ होने पर तुम गीता को अधिक अच्छी तरह समझोगे । तुम्हारे रक्त में शक्ति की मात्रा बढ़ने पर तुम श्री कृष्ण की महान प्रतिभा और अपार शक्ति को अच्छी तरह समझने लगोगे । तुम जब पैरों पर दृढ़ता के साथ खड़े होगे और तुमको जब प्रतीत होगा कि हम मनुष्य है तब तुम उपनिषदों को और भी अच्छी तरह समझ सकोगे ।"[1]

पण्ड़ित दीनदयाल जी उपाध्याय 'व्यायाम' को शिक्षा का अंग बनाये जाने के पक्षधर हैं । उनका कहना है कि

"व्यक्ति भाव जिसमें व्यक्ति का व्यक्तित्व ढ़लता है आवश्यक ही होता है । 'व्यायाम' से शरीर बलशाली होता है । संध्या उपासना करने से अन्तःकरण को शान्ति मिलती है, दीर्घायु प्राप्त होती है । व्यक्ति भाव से व्यक्तिशः सेवा सुश्रुषा करने से ही यह सब हो पाता है । व्यक्ति को निरोग, दीर्घजीवी, हृष्टपुष्ट, आनन्दित, प्रसन्न कार्यक्षम यशस्वी होनी जरूरी है । जहां व्यक्ति

---

1. स्वामी विवेकानन्द
शिक्षा
श्री रामकृष्ण आश्रम, नागपुर
पृष्ठ - 88

निर्बल होकर निकम्मा हो जाता है वहां समष्टि की आराधना का पूरा लोप होना स्वाभाविक ही है ।"[1]

अतः व्यक्ति शक्तिशाली होगा तो राष्ट्र शक्तिशाली होगा अन्यथा व्यक्ति के दुर्बल होने से राष्ट्र भी दुर्बल हो जायेगा । इसलिए व्यक्तिशः शक्तिशाली बने रहने के लिए व्यायाम की जीवन में महती आवश्यकता है । जिस प्रकार शरीर को भोजन की आवश्यकता होती है । उसी प्रकार व्यायाम की भी आवश्यकता होती है । भोजन रूपी ईंधन का उपयुक्त लाभ लेने के लिए व्यायाम अति आवश्यक है ।

"दुर्बल या रोग पीड़ित शरीर वाला किसी भी कार्य के लिए आवश्यक मन का उत्साह न रखने वाला और मन्द या विकृत बुद्धिवाला मनुष्य आहार निद्रा रति आदि प्राथमिक स्तर के भौतिक सुखों का स्वाद भी ठीक से नहीं ले सकता । फिर श्रेष्ठ आध्यात्मिक सुख सम्पदा की तो बात दूर है । सुदृढ़ एवं रोग रहित शरीर अनुकूल बातों का लाभ उठाकर प्रतिकूलताओं में विजय प्राप्त करते हुए अपने जीवन लक्ष्य को प्राप्त करने का साहस रखने वाला मन तथा उपलब्ध साधनों का एवं उपभोग्य वस्तुओं का उचित उपयोग करने की क्षमता रखने वाली विवेक बुद्धि हो तभी मनुष्य इन विविध सुखों को अनुभव करता हुआ आत्मोन्नति कर सकता है ।"[2]

इस प्रकार पण्डित दीनदयाल जी उपाध्याय का मानना है कि व्यक्ति को बलोपासना के लिए व्यायाम का कष्ट तो उठाना ही पड़ेगा क्योंकि -

"उपनिषद में तो स्पष्ट रूप से कहा है कि 'नाडयमात्मा बलहीनेन लभ्यः' - दुर्बल व्यक्ति आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर सकता इसी प्रकार की सूक्ति है कि

---

1. राष्ट्र जीवन की दिशा
   मैं और हम — पृष्ठ - 30
   पण्डित दीनदयाल उपाध्याय

2. पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन
   एकात्म मानवं दर्शन खण्ड - 2 — पृष्ठ - 39
   व्यक्ति विचार - चतुर्विध पुरुषार्थ
   विनायक वासुदेव नेने

'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम् अर्थात् शरीर धर्म का प्रथम साधन है ।"[1]

शरीर को स्वस्थ रखने के लिए 'व्यायाम' की महत्ता स्वीकारी जानी चाहिए और शिक्षा के साथ खेलों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए । खेलों के द्वारा मनुष्य के अन्दर उत्साह एवं क्रियाशीलता का संचार होता है । आनन्द की वर्षा होती है । पण्ड़ित दीनदयाल जी के शब्दों में -

"जैसे हम खो-खो का खेल खेलते समय एक दूसरे को खेलने का अवसर देते हैं तो पूरा खेल आनन्द से भर उठता है ।"

अतः पण्ड़ित जी व्यायाम के लिए खेलों की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं तथा शोधकर्ता भी उपरोक्त विवेचन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि जीवन में 'व्यायाम' अति आवश्यक है इसी बात को ध्यान में रखते हुए पण्ड़ित जी 'व्यायाम' को शिक्षा का अंग बनाना चाहते थे जिससे कि आने वाली पीढ़ी हृष्ट पुष्ट एवं स्वस्थ रहकर राष्ट्र को सबल बनाए ।

महामना मदन मोहन मालवीय जी के अनुसार -

'संसार में जितने भी सत्कर्म और पुरुषार्थ है सब स्वस्थ शरीर द्वारा सम्भव है आरोग्य पापों का विनाशक अतः जिसने आरोग्य की रक्षा की, उसने अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की रक्षा की और जिसने आरोग्य का नाश किया 'धर्मार्थ काम मोक्षाणाम्' सभी का नाश कर दिया ।"

---

1. एकात्म मानव दर्शन
एकात्म मानववाद — पृष्ठ 25-26
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

शिक्षा शोध
डा. जे.एल. वर्मा — पृष्ठ - 154

3. पाठ्येत्तर क्रियाओं की शिक्षा

"छात्र कल का नहीं आज का नागरिक है । अतः आज के नागरिक के रूप में उसके जीवन का निर्माण करना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए । विद्यालय का वातावरण ऐसा होना चाहिए । जिसमें विद्यार्थी एक आदर्श नागरिक के रूप में वर्तमान जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा प्राप्त कर सके । इस दृष्टि से पाठ्येत्तर क्रियाओं के द्वारा छात्रों के अन्दर उत्तरदायित्व की भावना, कर्तव्य निष्ठा, दूसरों के हितों की रक्षा करने का स्वभाव, प्रेम, सहयोग परस्परावलम्बन की भावना आदि सामाजिक गुणों का विकास किया जाना चाहिए । छात्र परिषद, छात्र बैंक, छात्र न्यायालय, एकाउंटिंग, बुक बैंक, एन.सी.सी., एन.एस.एस., बाल सभा, प्रार्थना, पिकनिक एवं शैक्षणिक भ्रमण आदि अनेकानेक पाठ्येत्तर क्रियाओं के माध्यम से छात्रों में वाञ्छनीय सामाजिक भावना तथा कुशलताओं का विकास सम्भव है ।

माध्यमिक शिक्षा आयोग के अनुसार -

"शिक्षा में सुधार का आरम्भ विद्यालय को जीवन से पुनः जोड़ने एवं उनमें घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने होंगे, जोकि आज परम्परागत औपचारिक शिक्षा के कारण टूट चुका है हमें विद्यालय को वास्तविक सामाजिक जीवन एवं सामाजिक गतिविधियों का केन्द्र बनाना है जहां आदर्श मनुष्य समुदाय के समान सुन्दर और सहज जीवन की प्रेरणा और प्रणाली दिखाई दे ।"[1]

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने पुनः इस सम्बन्ध में कहा है कि -

"स्वच्छ आनन्दप्रद तथा सुव्यवस्थित स्कूल भवन मिल जाने के पश्चात् हम चाहेंगे कि स्कूल में विविध प्रकार की संबद्ध क्रियाओं का आयोजन हो जो विद्यार्थियों की विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा कर सके । उसमें मनोरंजक कार्यों क्रियाओं तथा योजनाओं की व्यवस्था करनी होगी जो बच्चों को प्रभावित करे और उनकी विभिन्न रूचियों को विकसित करे ।"

सामान्य रूप से छात्रों को केवल बौद्धिक स्तर पर सामाजिक समस्याओं की जानकारी रहती है । प्रत्यक्ष अनुभूति न रहने के कारण उनके अन्दर इन समस्याओं को दूर करने का विचार

---

1. माध्यमिक शिक्षा आयोग पृष्ठ - 214

तक उत्पन्न नहीं होता तथा अपने सामाजिक दायित्वों का निर्वाह भी नहीं कर पाते । इस दृष्टि से पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय पाठ्येत्तर क्रियाओं के द्वारा छात्रों को सामाजिक समस्याओं से सीधा जोड़ना चाहते हैं उनका कहना है कि -

> "व्यक्ति को समाज के प्रति कर्तव्यों का निर्वाह करने में सक्षम बनाना भी समाज का आधारभूत दायित्व है ।[1]

पाठ्येत्तर क्रियाओं के अन्तर्गत, पिकनिक, शैक्षिक यात्राओं शिविरों एवं सहभोजों का आयोजन किया जाना चाहिए । जिससे छात्र जाति, पन्थ, भाषा, निर्धन-धनवान आदि भेद भावों से ऊपर उठकर सामाजिक एकात्मता एवं सहजीवन की अनुभूति कर सके । गांवों एवं नगरों की रूढ़िवादिता अंध विश्वास और पिछड़ी बस्तियों की दुर्दशा देख सकें । छुआ-छूत जैसे कलंक के बारे में जान सकें । इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए पण्ड़ित दीनदयाल जी ने कहा है -

> "इस दृष्टि से हमें अनेक रूढ़ियां समाप्त करनी होगी, बहुत से सुधार करने होंगे, जो हमारे 'मानव' का विकास और राष्ट्र की एकात्मता की वृद्धि में पोषक हों वह हम करेंगे और जो बाधक हो उसे हटाएंगे । ..... आज यदि समाज में छुआ-छूत और भेद-भाव घर कर गए हैं, जिसके कारण लोग मानव को मानव समझ कर नहीं चलते और जो राष्ट्र की एकता के लिए घातक सिद्ध हो रहे हैं हम उनको समाप्त करेंगे ।"[2]

शिक्षा के माध्यम से समाज में चेतना जाग्रत हो यह उसका प्रमुख उद्देश्य है । अतः हमारी शिक्षा संस्थाओं की गतिविधियां सम्पूर्ण समाज को प्रभावित करने वाली एवं उसे सही दिशा देने वाली होनी चाहिए । गरीबी, भुखमरी, कुशिक्षा, बेरोजगारी, दहेज, स्वार्थ और घृणा जैसी सामाजिक बुराइयों को दूर करने में सक्षम पीढ़ी जब शिक्षा संस्थाओं से निकलेगी तभी शिक्षा संस्थाएं अपने उद्देश्य में सफल मानी जाएगी ।

---

1. एकात्म मानव दर्शन
   राष्ट्र जीवन के अनुकूल अर्थरचना — पृष्ठ - 63
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

2. एकात्म मानव दर्शन
   राष्ट्र जीवन के अनुकूल अर्थ रचना
   उपसंहार पृष्ठ - 74, 75
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

इस सम्बन्ध में पण्ड़ित दीनदयाल जी उपाध्याय के विचार सर्वथा उचित एवं अनुकरणीय हैं -

"हमें उन संस्थाओं का निर्माण करना होगा जो हमारे अन्दर कर्म चेतना पैदा करें, हमें स्वकेन्द्रित एवं स्वार्थी बनाने के स्थान पर राष्ट्रसेवी बनायें अपने बंधुओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण ही नहीं, उनके प्रति आत्मीयता और प्रेम पैदा करें ।"[1]

सरस्वती विद्या मन्दिरों में पाठ्येत्तर क्रियाओं को प्रमुखता प्रदान करते हुए 'बाल बैंक' का गठन किया है उनका मानना है कि पाश्चात्य शिक्षा पद्धति देश के भावी कर्णधारों को मात्र किताबी ज्ञान तक सीमित रखती है । इसलिए व्यवहारिक ज्ञान को बढाने के लिए सरस्वती बाल बैंक प्रारम्भिक कदम के रूप में संचालित किए गए । इस प्रकार बच्चों को बैंकिंग कार्य पद्धति का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है ।

व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए योग एक सशक्त माध्यम माना गया है । "योगश्चितवृति निरोधः" अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है । "योग : कर्मसु कौशलम्" योग द्वारा काम करने की कुशलता विकसित होती है । इस बात का ध्यान रखते हुए सरस्वती शिशु मन्दिरों एवं विद्या मन्दिरों में 'योग शिक्षा' को पाठ्येत्तर क्रिया के रूप में स्वीकार किया गया है ।

---

1. तथैव पृष्ठ - 75

4— 'संगीत और साहित्य की शिक्षा'

हमारे यहां कहा गया है -

"साहित्य संगीत कला विहीनः
साक्षात् पशुः तुच्छ विषाण हीनः ।।"

अर्थात् साहित्य संगीत और कला से अनभिज्ञ व्यक्ति भी पूंछ और सींग से रहित पशु है तथा यह भी माना गया है कि साहित्य और संगीत भी ऐसा हो जो मनुष्य के अन्दर मानवता, उदारता, दयालुता, सहिष्णुता, परोपकारिता, भावात्मक एवं रागात्मक एकता तथा राष्ट्रीयता की धवलधार का पुण्य प्रवाह कर सके । यथा -

"जो भरा नहीं है भावों से,
बहती जिसमें रसधार नहीं ।
वह हृदय नहीं है पत्थर है,
जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं ।।"

इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रायः सभी शिक्षाविदों ने साहित्य संगीत और कला आदि विषयों को पाठ्यक्रम में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है । प्रमुख शिक्षा शास्त्री श्री लज्जाराम तोमर का कहना है कि -

"विद्यालय आरम्भ होने से पूर्व, प्रातः एवं सायं अवकाश काल में मधुर संगीत के स्वरों से वातावरण में पवित्रता एवं दिव्यता घुल जाती है ।"[1]

शिक्षा के लिए मन की एकाग्रता परमावश्यक है । एकाग्रता की शक्ति जितनी अधिक होगी ज्ञान की प्राप्ति भी उतनी अधिक होगी । मनोविज्ञान के सिद्धान्त के अनुसार जिस विषय को हम बालक को सिखाना चाहते हैं उसमें उसकी रूचि उत्पन्न कर दें । सीखने का अनुराग तथा उन्नति करने की इच्छा जगा दें तो विषय पर उसका मन एकाग्र हो जाता है । मन को एकाग्र करने में काव्य कला और संगीत का प्रमुख स्थान है बच्चों को काव्य कला और संगीत की शिक्षा देकर उनके संवेगों को ऊँचा उठाया जा सकता है, सन्तुलित किया जा सकता है तथा गहराई प्रदान की जा सकती है ।

---

1. भारतीय शिक्षा के मूल तत्व
   लज्जाराम तोमर — पृष्ठ - 168
   सुरूचि प्रकाशन
   केशवकुञ्ज, झण्डेवाला, नई दिल्ली - 110055

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के स्वयं सेवक थे और संघ में सरल संगीत और गीतों के माध्यम से किशोरों के हृदयों में राष्ट्रीयता और एकात्मता की सहज भावना विकसित की जाती है । जब कभी पथ संचालन के कार्यक्रम आयोजित होते हैं, स्वयं सेवक बैण्ड की धुना के साथ-साथ कदम ताल करते हुए संचलन गीत दुहराते हुए आगे बढ़ते हैं -

"मातृ भूमि गान से गूंजता रहे गगन,
स्नेह नीर से सदा फूलते रहें सुमन,
जन्म सिद्ध भावना स्वदेश का विचार हो,
रोम रोम में श्या स्वधर्म संस्कार हो
आरती उतारते प्राण दीप हो मगन
स्नेह नीर से सदा ...."

दैनन्दिन चलने वाली शाखाओं में गीतों के माध्यम से ही मातृ भूमि के प्रति स्नेह, शौर्य एवं पराक्रम का भाव, राष्ट्र के प्रति त्याग और बलिदान की भावना विकसित की जाती है । यथा -

"मातृभूमि, पितृभूमि, धर्म भू महान्
भारत भू महान है, महान है, महान् ।"

× × × × × ×

यह वह भूमि जहां पर नित नित,
लगता बलिदानों का मेला,
इसी भूमि के पुत्रों ने ही,
हँस-हँस महामृत्यु को झेला ।
फिर न कभी हमसे छिन जाये
देव भूमि कश्मीर हमारी,
उठो शत्रु को फिर ललकारो,
युवको आज हमारी बारी ।।

× × × × × ×

तन समर्पित, मन समर्पित और यह जीवन समर्पित

चाहता हूँ मातृ भू तुझको अभी कुछ और भी दूं ।।

माँ तुम्हारा ऋण बहुत है मैं अकिंचन,

किन्तु इतना कर रहा फिर भी निवेदन,

थाल पर लाऊँ सजाकर माल जब

स्वीकार कर लेना दयाकर यह समर्पण ।।

प्राण अर्पित, ऋण अर्पित, रक्त का कण-कण समर्पित

चाहता हूँ ....।"

इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि गीत और संगीत ही एक सरल और सशक्त माध्यम है जिससे हृदय तन्त्री को झंकृत करते हुए संवेगों को उद्वेलित करते हुए, उद्देश्य के चर्मोत्कर्ष तक पंहुचाया जा सकता है । पण्ड़ित दीनदयाल जी उपाध्याय को स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर का यह गीत बहुत स्फूर्ति प्रदान करता था -

"यदि तोर डाक शुने केऊ नाये आरो,

तवे एकला चलो रे ।"

और इसी प्रकार उनके भी मुखरों उनके प्रिय गीत की यह पक्तियां प्रस्फुटित होती रहती थी ।

"सिर बांध कफनियां शहीदों की टोली निकली ।"

शोधकर्ता अपने अग्रज स्वयं सेवकों श्री कामता प्रसाद जी, वर्तमान ग्राम प्रधान जरर, जनपद बांदा उत्तर प्रदेश व श्री राम किशोर जी आचार्य सरस्वती शिशु मन्दिर के द्वारा गाये जाने वाले गीतों से प्रभावित होकर संघ का स्वयं सेवक बनने की प्रेरणा प्राप्त की ।

"देश प्रेम का मूल प्राण है,

देखें कौन चुकाता है;

देखें कौन सुमन शैय्या तज

कंटक पंथ अपनाता है ।

अतः शोधकर्ता की दृष्टि में पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय संघ के प्रखर राष्ट्र भक्तिपूर्ण गीतों से पूर्णतः प्रभावित थे और उनका मानना था कि ऐसे राष्ट्रीय गीतों के माध्यम से मनुष्य के अन्दर सभी राष्ट्रीय एवं मानवीय गुणों को विकसित किया जा सकता है तथा उन्हें स्थायित्व भी प्रदान किया जा सकता है । अतः शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए पण्ड़ित दीनदयाल जी गीत और संगीत को पाठ्यक्रम में स्थान दिए जाने के पक्षधर थे ।

पण्ड़ित दीनदयाल जी की साहित्यिक दृष्टि के बारे में लिखते हुए डा. कुंवर चन्द्र प्रकाश सिंह ने कहा है -

> "मेरे ये संस्मरण साहित्य के प्रति उपाध्याय जी गहन प्रतिवद्धता के सूचक हैं । वे चाहते हैं कि साहित्य मार्क्सवाद और अमेरिका के पतनशील भोगवाद से मुक्त होकर भारत की मूल्यनिष्ठ राष्ट्रवादी परम्परा का अनुगमन करे । वे प्राचीन के साथ-साथ समसामयिक साहित्य के व्यापक और गहन उद्येता थे । जब मैं बडौदा विश्वविद्यालय में हिन्दी विभागाध्यक्ष नियुक्त हुआ, तो वहां मेरे कार्यकाल के प्रथम चरण में 'कविवर नरोत्तमदास' शीर्षक एक नाटक प्रकाशित हुआ । उसको उन्होंने पढ़ा और मुझको तथा मेरे प्रकाशक दोनों को बडा उत्साहपूर्वक पत्र लिखा -
>
> "कविवर नरोत्तम दास पढ़ा और फिर पढ़ा । वैसे तो 'सुदाम चरित्र' ही इतना रसमय है कि बार-बार पढ़ने को जी चाहता है, किन्तु इस अनूठे काव्य को जिस खूबी के साथ नरोत्तम दास जी के जीवन तथा तत्कालीन घटनाओं के साथ जोड़ा गया, उसने काव्य की रसमयता को कई गुना बढ़ा दिया है । छोटे से नाटक में कुंवर जी ने बहुत कुछ दे दिया है । जिस ढ़ंग से उन्होंने कथानक को रखा है उससे राष्ट्रीय एकात्मता की अनुभूति तथा समन्वय की भावना का स्पष्ट परिचय मिलता है । नरोत्तम दास जी के रूप में एक आदर्श गृहस्थ सन्त और समाज सेवक का सुन्दर चित्रण किया गया है । कुंवर चन्द्र प्रकाश जी तो स्वयं कवि हैं । अतः कवि हृदय के मर्म को सहज समझ सकते हैं । वे एक ऊँचे लेखक व कवि हैं । अतः उनकी इस सुन्दर कृति के लिए उनके विषय

में तो क्या कहूं हाँ श्री विश्वकर्मा जी को इसके प्रकाशन के लिए अवश्य बधाई देता हूँ । अहिन्दी क्षेत्र ने हिन्दी प्रकाशन का इनका प्रयास स्तुत्य है । अपने इस प्रयास के श्री गणेश के लिए इस प्रकार की राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत भक्ति प्रधान नाटिका का चयन कर उन्होंने आने वाले प्रकाशनों की रूपरेखा रख दी है । मैं विश्वकर्मा जी के इस चयन का अभिनन्दन करता हूँ कि वह उन्हें अपने उद्देश्य में सफल बनावें ।"

मेरे कविवर नरोत्तमदास नाटक के सम्बन्ध में उनका यह कथन सामान्य सहृदय पाठक की उक्ति नहीं है । वस्तुतः वह एक उत्कृष्ट काव्य रसज्ञ का निर्णय है जो किसी कृति की रचनात्मक प्रेरणाओं को उनके मूलरूप में गृहण कर सकता है और जो कला की रचना प्रणाली को सम्यक् मीमांसा करने में समर्थ है । मैं यह इसलिए लिख रहा हूँ कि मैंने उपाध्याय जी में साहित्य को परखने की उस प्रतिभा के अनेक बार दर्शन किये थे जो समीक्षा विज्ञान में निष्णात् साहित्य के विशिष्ट सुधी विद्वज्जनों में ही पायी जाती है । साहित्य के क्षेत्र में उन्हें कार्य करने का अवसर नहीं मिला । मेरा विचार है, मिला होता तो साहित्य के क्षेत्र में रूस और अमेरिका से अबाध आयातित भाव और विचार संवदा पर अंकुश लग सकता था और अपने साहित्य को वैज्ञानिक युग में भारतीय भाव भूमि पर नये आयाम उद्घटित करने में सहायता मिल सकती थी ।"[1]

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय द्वारा कालीकट अधिवेशन में दिया गया भाषण उनकी संगीत और साहित्य को जन-जन तक पहुंचाने की अभिलाषा को प्रदर्शित करता है । उन्होंने कहा था -

"इतना अवश्य कहना होगा कि सामान्य जन में राजनीतिक चेतना का जागरण

1. उत्तर प्रदेश सन्देश
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय विशेषांक
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय की साहित्यिक अंतदृष्टि — पृष्ठ - 44
डा. कुंवर चन्द्रप्रकाश सिंह

इस युग की सबसे बड़ी देन है । ....

...... सामान्य जन में प्रबुद्ध राजनीतिक चेतना को साहित्य के माध्यम से भावात्मक रूप प्रदान किया जाए । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने एक व्यापक योजना बनाई थी, उन्होंने मई 1879 में "कवि वचन सुधा" में लिखा था - "भारत वर्ष की उन्नति के जो अनेक उपाय महात्मागण आजकल सोच रहे हैं उनमें एक और उपाय भी होने की आवश्यकता है । .... इस विषय के बडे-बड़े काव्य प्रकाशित होते हैं, किन्तु वे जनसाधारण को दृष्टिगोचर नहीं होते उसके हेतु मैंने यह सोचा है कि जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बने वे सारे देश गांव-गांव में साधारण लोगों में प्रचार की जाए ।"[1]

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय का दृढ़ मनत्व्य है कि छात्रों के अन्दर अध्ययन का भाव जागृत करने के लिए सबसे पहले सम्बन्धित विषय के प्रति एकाग्रता एवं रूचि उत्पन्न की जानी चाहिए तथा साहित्य और संगीत के सम्मिश्रण से किसी भी विषय के प्रति रूचि एवं एकाग्रता सहजता से उत्पन्न की जा सकती है । उनके द्वारा प्रणीत् सम्राट चन्द्रगुप्त नामक कृति 'संगीत और साहित्य' का अनुपम समन्वय है । काव्यात्मकता के कारण इसमें इतनी रोचकता है कि कोई भी व्यक्ति यदि इस पुस्तक को एक बार उठा लेता है तो पूरी पढ़े बिना नहीं रूक सकता । यथा -

"संध्या समय लाल सूर्य अस्तांचल की ओर भागा चला जा रहा था मानो पश्चिम की ओर पीठ दिखाकर भागते हुए शत्रु की पीठ पर लगा हुआ रक्त प्रण हो । चहकते हुए पक्षी शत्रु के इस प्रयाण पर आनन्दगान कर रहे थे अचानक आये हुए इस बवण्डर से एक दिन विपाशा (व्यास) का जल प्रवाह क्षुब्ध हो उठा था । आज भी वह शान्त कल कल ध्वनि से बह रहा था और उसके साथ सम्पूर्ण देश भी सन्तोष की सांस ले रहा था ।"

× × × × ×

---

1. सम्राट चन्द्रगुप्त
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय — पृष्ठ - 43
   लोकहित प्रकाशन, लखनऊ

"राज भक्ति वहीं पुण्य है जहां वह
राष्ट्र और देश भक्ति की पोषक हो ।"[1]

× × × × ×

"आज सम्पूर्ण भारत एक आवाज में बोलता है और एक इशारे पर काम करता है ।"[2] ये सब ऐसे काव्यांश हैं जिनके कारण पाठक की रोचकता और कौतूहल और अधिक बढ़ जाता है और वह पूरी एकाग्रता से इसको पूरा पढ़ लेना चाहता है ।

शोधकर्ता इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि पण्ड़ित दीनदयाल जी छात्रों एवं किशोरों के अन्दर अध्ययन के प्रति रूचि एवं एकाग्रता जाग्रत करने के लिए पाठ्यक्रम में संगीत और साहित्य को प्रमुखता प्रदान करने के प्रबल पक्षधर थे पाठ्यवस्तु को सुरूचिपूर्ण बनाने के लिए उन्होंने 'संगीत और साहित्य' को अपनी रचनाओं 'सम्राट चन्द्र गुप्त' एवं 'जगत् गुरू शंकराचार्य' में प्रमुख स्थान प्रदान किया है ।

---

1. सम्राट चन्द्रगुप्त — पृष्ठ - 39

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

2. सम्राट चन्द्रगुप्त — पृष्ठ - 61

5 - समीक्षात्मक विचार

वर्तमान समय में सम्पूर्ण देश में अनेकानेक शिक्षण संस्थाए शिक्षा देने का कार्य कर रही हैं जिनका एक मात्र उद्देश्य रहता है विद्यार्जन के बाद छात्र को धनार्जन के योग्य बनाना । जिसका परिणाम देखने को यह मिल रहा है कि मानवीय गुणों का निरन्तर ह्रास हो रहा है । पण्डित दीनदयाल जी भी इस बात के पक्षधर दिखाई देते हैं कि ऐसे पाठ्यक्रम का निर्माण किया जाना चाहिए जो छात्रों के लिए अर्थोपार्जन में सहायक सिद्ध हो सके लेकिन जीवन के प्रति अतिसय अर्थवादी दृष्टिकोण के लिए वह सर्वथा विपरीत थे । उन्होंने कहा भी है -

> "मनुष्य के जीवन का यह सर्वांगपूर्ण विचार ऐसी किसी भी अर्थरचना की कल्पना नही कर सकता जिसमें नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना किये बिना ही मनुष्य को सुखी बनाया जा सके ।"[1]

पाठ्यक्रम शिक्षा के उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन है । अतः पाठ्यक्रम ऐसा होना चाहिए जिसके द्वारा शारीरिक, व्यवसायिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक उद्देश्यों की पूर्ति की जा सके । क्योंकि जब तक उपर्युक्त मानबिन्दु व्यक्ति के जीवन में परिलक्षित नहीं होते हैं । उसको शिक्षित या सभ्य समाज का पूर्ण मनुष्य नहीं माना जा सकता है । उपाध्याय जी ने इस सम्बन्ध में कहा है,

> "हमने व्यक्ति के जीवन का पूर्णता के साथ तथा संकलित विचार किया है उसके शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा सभी का विकास करने का उद्देश्य रखा है । उसकी सभी भूखों को मिटाने का प्रयास किया है ।"[2]

विद्यालयों से पढ़कर ऐसे विद्यार्थी निकलने चाहिए जो सामाजिक प्राणी होने का दायित्व पूर्ण कर सके । शील, सद्भावना, सदाचार एवं आत्मीयतापूर्ण व्यवहार करने के योग्य बन सके ।

---

1. भारतीय अर्थनीति विकास की एक दिशा, पृष्ठ - 22
   पण्डित दीनदयाल उपाध्याय
   लोकहित प्रकाशन, लखनऊ
2. एकात्म मानव दर्शन पृष्ठ - 29
   एकात्म मानव वाद
   पण्डित दीनदयाल उपाध्याय

जिनको अपने देश की नीति-रीति, संस्कृति का परिचय हो । इतिहास भूगोल का ज्ञान हो जिनमें सामाजिक चेतना देश प्रेम एवं राष्ट्रीय एकता की भावना भरी हो चरित्रवान और यशस्वी हो और अपने पैरों पर खड़े हो सकने की क्षमता हो ।

> "यह पूर्ण मानव की, एकात्म मानव की कल्पना है जो हमारा आराध्य तथा हमारी आराधना का साधन दोनों ही है ।"[1]

इस हेतु विद्यालयों को चाहिए कि वह बालक के सर्वांगीण विकास के लिए शारीरिक, व्यवसायिक, नैतिक शिक्षा की व्यवस्था करें । विद्यार्थियों को अपने प्रकृति के अनुकूल विषय चयन की सुविधा हो । पाठ्यक्रम बालक के लिए होना चाहिए न कि बालक पाठ्यक्रम के लिए । पाठ्यक्रम का असामान्य भार बालक के मस्तिष्क को बोझिल बना देता है इसलिए उसकी रूचि, मानसिक स्तर का ध्यान रखा जाना चाहिए ।

शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उपाध्याय जी ने पाठ्येत्तर क्रियाओं के आयोजन का सुझाव दिया । उनका मानना है कि दुर्बल व्यक्ति किसी भी प्रकार का सुख नहीं प्राप्त कर सकता । इसलिए व्यक्ति को शारीरिक रूप से स्वस्थ्य एवं बलिष्ठ होना चाहिए । इस हेतु उन्होंने व्यायाम की शिक्षा पर विशेष बल दिया । उन्होंने कहा है ।

> "बिना औषधि के रोग ठीक नहीं होता और व्यायाम का कष्ट उठाये बिना बल भी नहीं आता ।"[2]

वर्तमान समाज में प्रचलित अस्पृश्यता, ऊँच-नीच, भेद-भाव, गरीब, बेरोजगारी, मंहगाई, दहेज आदि बुराइयों से छात्रों को प्रत्यक्षत परिचित कराने के लिए उन्होंने पाठ्येत्तर क्रियाओं पर बल दिया । इस प्रकार समस्त मानवीय गुणों को छात्रों के जीवन में पुष्ट करते हुए उन्हें सर्वप्रथम मनुष्य बनाने का श्रेष्ठ कार्य ईश्वरीय कार्य विद्यालयों और शिक्षा के द्वारा किया जाना चाहिए । यही पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय जी की परिकल्पना थी ।

---

1. तथैव
2. तथैव — पृष्ठ - 73
   राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल अर्थरचना
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

(ग) शिक्षण पद्धति

शिक्षण पद्धति ही शिक्षा दर्शन एवं सिद्धान्तों के क्रियान्वयन का प्रमुख माध्यम है । उपयुक्त शिक्षण पद्धति के अभाव में अच्छा से अच्छा दर्शन एवं सिद्धान्त असफल होकर कोरे पुस्तकीय आदर्श और सिद्धान्त बनकर रह जाते हैं । इसलिए शिक्षा सिद्धान्तों आदर्शों, मूल्यों एवं शैक्षिक उद्देश्यों को साकार करने के लिए अनुकूल शिक्षण पद्धति वाञ्छनीय है ।

शिक्षण की प्रक्रिया में तीन कारक निहित रहते हैं प्रथम बालक, जो इस प्रक्रिया का आधार बिन्दु है; द्वितीय विषय वस्तु, जो उसे सीखनी है और तीसरा है शिक्षण जो सीखने में सहायता प्रदान करता है । अर्थात सीखना और सिखाना ही शिक्षण पद्धति है । शिक्षण पद्धति को हम शिक्षण संस्कार भी कह सकते हैं जिसके द्वारा अनुभवी व्यक्ति अर्थात शिक्षक अपने विद्यार्थी को अभीष्ट ज्ञान एवं अर्जित अनुभवों से दीक्षित करता है ।

अन्य कलाओं की भाँति शिक्षण भी एक कला है । स्वामी विवेकानन्द के अनुसार,

> "मनुष्य के अन्तर में समस्त ज्ञान अव्यवस्थित है । आवश्यकता है उसे जाग्रत करने के लिए उपयुक्त वातावरण निर्मित करने की । उस वातावरण का निर्माण करना ही शिक्षण कार्य है ।"

शिक्षक को यह स्मरण रखना चाहिए कि बालक काम करके और स्वयं खोज करके उत्तम ढंग से सीखता है । शिक्षक तो उसकी सहायता करता है उसके लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण करता है; उसके अन्दर की सृजनात्मक शक्ति का विकास करके उसकी रूचि को जागृत करता है ।

प्राचीनकाल से ही शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शिक्षण पद्धतियों का प्रयोग होता रहा है । श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनइन तीन प्रक्रियाओं का शिक्षण कार्य में महत्वपूर्ण स्थान था -

"श्रवणं तु गुरोः पूर्वं मननं तदनन्तरम् ।
निदिध्यासनमित्येतत्पूर्णं बोधस्य कारणम् ।।"[1]

अर्थात श्रवण के द्वारा शिष्य गुरू के वचनों को ध्यानपूर्वक सुनता था, मनन के द्वारा उनके वचनों का बौद्धिक परिग्रहण करता था तथा निदिध्यासन के द्वारा उसकी साधनात्मक अनुभूति करता था । इस प्रकार ज्ञानार्जन की प्रक्रिया में शिक्षक की अपेक्षा शिष्य की चेष्टा ही प्रधान रहती थी । अपने स्वाध्याय के द्वारा ही वह गुरू के उपदेशों को हृदयंगम करता था । गुरू तो केवल मार्गदर्शक हुआ करते थे ।

शिक्षण एक विज्ञान भी है ।

> "शिक्षण के विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि विविध पृष्ठ पोषण प्रविधियों के प्रयोग से प्रशिक्षण संस्थाएं प्रभावशाली शिक्षक तैयार कर सकती है । शिक्षक की क्रियाओं तथा शिक्षक के व्यवहार का विश्लेषण वस्तुनिष्ठ रूप से करने के लिए निरीक्षण विधियों का विकास किया जा चुका है शिक्षण प्रतिमान भी विकसित हो चुके हैं । शिक्षण तकनीकी तथा शिक्षण सिद्धान्त, शिक्षा विज्ञान की ही देन है ।"[2]

आज मानव के ज्ञान और विज्ञान का विस्फोट हुआ है । इस स्थिति में अध्यापक का कार्य और अधिक जटिल हो गया है । उसे नवीन विधियों में पारंगत होना आवश्यक है ताकि वह भावी पीढ़ी को उत्तम चिन्तक तथा उत्तम कार्यकर्ता बना सके और विद्यार्थी अनुभूतियों तथा प्रत्यक्षीकरण के साथ समायोजन कर सके । आन्तरिक तथा बाह्य अनुभवों के साथ समन्वय कर सकें, और रचनात्मक दिशा में अपने कदम बढ़ा सके । रूसो, फ्रावेल, हरवर्ट, स्पेन्सर, ड्यूवी और गांधी जैसे शिक्षाशास्त्रियों ने नवीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके नवीन विधियों को प्रस्तुत किया । किण्डर गार्डेन माण्टेसरी, डाल्टन प्रोजेक्ट, ह्यूरिस्टिक तथा बेसिक शिक्षा आदि ऐसी नवीन विधियां हैं जिनमें बालक

---

1. भारतीय शिक्षा के मूल तत्व,
   शिक्षण के सिद्धान्त एवं पद्धतियां — पृष्ठ - 145
   लज्जाराम तोमर
   सुरूचि प्रकाशन, केशवकुञ्ज
   झण्डेवाला, नई दिल्ली
2. शिक्षा तकनीकी — पृष्ठ - 36
   आर.ए. शर्मा

को केन्द्रबिन्दु मानकर उसकी रूचियों, अभिरूचियों, योग्यताओं एवं भिन्नताओं का ध्यान रखते हुए उसका विकास किया जाता है । पण्डित दीनदयाल उपाध्याय ने भी अपनी शैक्षिक विचारधारा को जन-जन तक पहुंचाने के लिए निम्नांकित शिक्षण विधियों को अंगीकृत किया है । शोधकर्ता द्वारा उनका विवेचन प्रस्तुत है -

1. <u>आगमन एवं निगमन विधि</u> :

आगमन विधि एक स्वाभाविक विधि है इस विधि के द्वारा बालक पाठ्यवस्तु को सरलतापूर्वक सीख लेता है । प्राचीनकाल में ही शिक्षण विधि के रूप में इस विधि का प्रयोग होता आ रहा है । आगमन विधि में शिक्षक शिक्षार्थियों के सामने कुछ विशिष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं; शिक्षार्थी इनमें सामान्य तत्वों की खोज करते हैं । अन्त में नियम अथवा सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं । इस विधि में -

"ज्ञान से अज्ञान की ओर"

"विशिष्ट से सामान्य की ओर" और

"मूर्त से अमूर्त की ओर"

"सरलता से कठिन की ओर" चला जाता है

इस प्रकार नियमों की खोज एवं सिद्धान्तों के निरूपण में इसी विधि का प्रयोग करते हैं । लेकिन नियम और सिद्धान्तों की खोज के बाद उनका प्रयोग करना निगमन विधि के अन्तर्गत आता है । अतः आगमन विधि के बाद निगमन विधि का प्रयोग आवश्यक होता है । इसका अर्थ है निगमन विधि का प्रयोग करने से पहले आगमन विधि का प्रयोग किया जाना चाहिए । इस प्रकार आगमन निगमन विधि एक दूसरे की पूरक है । शोधकर्ता की दृष्टि में प्रायः सभी शिक्षण कार्य में आगमन निगमन विधि सन्निहित रहती है । अतएव पण्डित दीनदयाल जी की शिक्षा' में भी आगमन निगमन विधि का प्रयोग हुआ है जैसे -

> " 'अध्यापन' शिक्षा का सर्वमान्य साधन है ...... अध्यापन के अन्तर्गत वे सब क्रियायें आती हैं जिनके द्वारा कोई भी व्यक्ति या व्यक्ति समूह अपने पास के ज्ञान को दूसरे को देने का चेतनापूर्वक प्रयास करता हो ।"

2. <u>मनोवैज्ञानिक शिक्षण पद्धति -</u>

शिक्षण कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए अध्यापक को ऐसी शिक्षण विधियों को अपनाना पड़ता है जिनकी सहायता से नीरस विषय भी रूचिकर लगने लगे । मनोविज्ञान इस कार्य में सहायक सिद्ध होता है । मनोविज्ञान ने प्राचीन शिक्षण विधियों में परिवर्तन करके ऐसी, विधियों को जन्म दिया है जिससे बालक स्वयं रूचिपूर्वक सीख सकता है । माण्टेसरी शिक्षण पद्धति, किण्डर गार्डन प्रोजेक्ट तथा ह्यूरिस्टिक शिक्षण पद्धति ऐसी मनोवैज्ञानिक शिक्षण पद्धतियां हैं जो बालक के रूचि और स्वभाव का विशेष ध्यान रखती हैं । मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की भली-भांति जानकारी रखने वाला अध्यापक बालक के विकास में पूर्ण योगदान कर सकता है । पाठ्ययोजना के निर्माण में मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त बालक की रूचि, रुझान, मूलप्रवृत्ति क्षमता और योग्यता को परखने में सहायता प्रदान करते है ।

वी.एन. झा का तो यहां तक कहना है कि -

"शिक्षा की प्रक्रिया पूर्णतया
मनोविज्ञान की कृपा पर निर्भर है ।"[1]

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय जी ने भी अपनी शिक्षा प्रणाली के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक शिक्षण पद्धति को अपनाया है । सामाजिक जीवन एवं व्यक्तिगत भिन्नताओं के अध्ययन के लिए अनुशासन की समस्याओं को समझने और उनका समाधान करने के लिए उन्होंने मनोवैज्ञानिक शिक्षण पद्धति का सहयोग लिया है । जैसे -

"समाज की अपनी हस्ती होती है समाज के भी व्यक्ति की भांति शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा होते हैं इस बात को पश्चिम के लोग तथा मनोवैज्ञानिक भी अब स्वीकार करने लगे हैं । मैक्डूगल ने सामूहिक मन जैसे नए मनोविज्ञान का प्रादुर्भाव किया । उसमें उसने इस बात और सत्य को स्वीकार किया कि जैसे

---

1. शिक्षा मनोविज्ञान की रूपरेखा — पृष्ठ - 31
डा. मालती सारस्वत

मनुष्य अलग रहता है उसका अपना मस्तिष्क होता है वैसे ही समूह का मस्तिष्क होता है । वैसे ही समूह का मस्तिष्क होता है । परन्तु व्यक्तियों की शक्ति का जोड़ मिला करके समूह या समाज की शक्ति नहीं बन जाती । समूह तथा व्यक्ति की शक्ति व बुद्धि का जोड़ मिला दिया जाय और उसमें से समाज की बुद्धि या शक्ति प्रकट हो जाए ऐसी बात नहीं । समूह की बुद्धि, समूह की भावना क्रियाशक्ति जैसी सामूहिक शक्तियां मूलतः व्यक्ति से भिन्न होती हैं और इसलिए कभी-कभी ऐसे अनुभव आते हैं कि नितान्त दुर्बल से दुर्बल व्यक्ति भी व्यक्तिगत नाते से दुर्बल होते हुए भी समाज के नाते बड़ा पराक्रमी निकल आता है । व्यक्ति के नाते मनुष्य जिन बातों को सहन कर लेता है, समाज के नाते से वह उन बातों को सहन करने के लिए तैयार नहीं होता । व्यक्ति के नाते से कोई व्यक्ति बहुत अच्छा हो सकता है और समाज के नाते बुरा हो सकता है । इसी प्रकार समाज के नाते कोई अच्छा तथा व्यक्तिगत नाते से बुरा हो सकता है । विचार करने की यह रीति बहुत महत्वपूर्ण है ।"[1]

× × × × × ×

"व्यक्ति की विचार करने की पद्धति और समाज की विचार करने की पद्धति इन दोनों में सदैव अन्तर रहता है .... यदि हजार अच्छे व्यक्ति इकटठे हो जाए तो वे उसी प्रकार से विचार करेंगे यह नहीं कहा जा सकता ।"[2]

× × × × × ×

"भारत के विद्यार्थी को ले लिया जाए तो आज का विद्यार्थी बड़ा सौम्य तथा सीधा देखने में आएगा .... किन्तु जब वैसे चालीस विद्यार्थी मिल जाए तो बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है । फिर तो वे सभी प्रकार की उच्छृङखलता कर

---

1. एकात्म मानव दर्शन
व्यष्टि समस्टि में समरसता
समाज 'स्वयं भू' है — पृष्ठ - 31-32
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

2. तथैव — पृष्ठ - 32

सकते हैं । अर्थात अकेला विद्यार्थी अनुशासनपूर्ण है परन्तु जब चालीस मिल गए तो उनमें अनुशासन हीनता आ जाती है ।"[1]

इस प्रकार उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि समूह या समाज का अध्ययन करने के लिए व्यक्तिगत भिन्नताओं का अध्ययन करने के लिए तथा अनुशासन की समस्याओं का अध्ययन करके उसका समाधान खोजने के लिए पण्ड़ित दीनदयाल जी ने मनोवैज्ञानिक शिक्षण पद्धति का प्रयोग किया है । इसी तरह राष्ट्र, धर्म, संस्कृति और मानवता सम्बन्धी विचारों के प्रसार में उन्होंने मनोवैज्ञानिक शिक्षण पद्धति को अपनाया है ।

3. **रचनात्मक शिक्षण प्रणाली -**

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ रचनात्मक कार्यों के माध्यम से समाज और राष्ट्र की अहनिर्शि सेवा करने वाला एक सांस्कृतिक हिन्दू संगठन है । जिसके एक एक कार्यकर्ता के मुंह से यह रचनात्मक गीत अनायास ही प्रस्फुटित होता रहता है -

निर्माणों के पावन युग में हम चरित्र निर्माण न भूलें
स्वार्थ साधना की आंधी में, वसुधा का कल्याण न भूलें ।।'

उसी संगठन द्वारा संस्कारित पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण जैसे पुनीत रचनात्मक कार्य के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन न्योछावर कर दिया ।

'राष्ट्रीय परम वैभव' का सपना आंखों और हृदय में संजोए हुए पण्ड़ित दीनदयाल जी उपाध्याय राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के कार्यकर्ता के नाते, भारतीय जनसंघ के नेता के रूप में तथा अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद विश्व हिन्दू परिषद भारतीय मजदूर संघ, पत्रकारिता एवं साहित्य सृजन के द्वारा रचनात्मक कार्यों के माध्यम से समाज और राष्ट्र की आजीवन सेवा करते रहे । ऐसे सृजनशील महामानव की शिक्षा प्रणाली में रचनात्मकता का अभाव कैसे हो सकता है ?

---

1. तथैव पृष्ठ - 32

उन्होंने अपनी रचना 'जगद्गुरू शंकराचार्य' में गृहस्थ जीवन से सन्यास लेकर देशसेवा के रचनात्मक कार्यों की प्रशंसा की है तथा परोक्ष में संघ की 'प्रचारक' पद्धति को प्रोत्साहित किया है ।

"इस सन्यास में अलगाव नहीं अपनाव है,
विरक्ति नहीं प्रेम है । हाँ इस प्रेम में
आसक्ति नहीं, बंधन नहीं, मोह नहीं ।
इसमें संकुचितता नहीं विशालता है,
दुर्बलता नहीं शक्ति है, व्यक्ति के लिए
समाज का त्याग नहीं समाज के लिए
व्यक्ति का राग है ।"[1]

उनकी रचनात्मक शिक्षण प्रणाली का निम्न उदाहरण तो किसी भी व्यक्ति को रचनात्मकता की ओर प्रवृत्त कर सकने में सक्षम है -

"आर्त की पुकार में जिनको भगवान की वाणी नहीं सुनाई देती उसके कान भगवान के शान्त स्वर को नहीं सुन सकते । दुर्बल और दु:खी की आत्मा को जो नहीं पहचान सकता वह सर्वात्मा का क्या दर्शन कर सकेगा ?"[2]

पण्ड़ित श्री उपाध्याय अपनी रचनात्मक शिक्षण प्रणाली द्वारा व्यक्ति के अन्दर देशहित के लिए त्याग और बलिदान की भावना विकसित करना चाहते थे । यथा -

"देशभक्ति क्या है ? उसका कोई रचनात्मक आधार होता होगा । यदि यह रचनात्मक आधार न रहा तो बड़े-बड़े देशभक्त भी देश भक्ति के नाम पर स्वार्थ का सौदा करने लग जायेंगे । अपने नाम व पद के लिए देश के हितों का भी बलिदान करने को तैयार हो जायेंगे । अतः देशभक्ति की एक भावात्मक कल्पना चाहिए । रचनात्मक आधार चाहिए वह भी चिरन्तन नियमों के

---

1. जगद्गुरू शंकराचार्य ध्येयपथ
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय — पृष्ठ - 22
राष्ट्रधर्म प्रकाशन लखनऊ

2. तथैव — शिक्षा, माया और संसार — पृष्ठ - 32,33

अनुसार । अन्यथा देशभक्ति का महल बालू की नींव पर बनाए महल के समान वायु के प्रकम्प मात्र से ही ढह जाएगा । इस रचनात्मक आधार को समझने के लिए हमको अपनी दृष्टि अन्तर्मुखी करनी होगी ।"[1]

उपरोक्त विवेचन के आधार पर शोधकर्ता का मानना है कि पण्ड़ित दीनदयाल जी उपाध्याय रचनात्मक शिक्षण पद्धति के प्रबल समर्थक थे तथा समाज की पुर्नसंरचना के दायित्व का भान कराना चाहते थे ।

---

1. राष्ट्र चिन्तन
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ - 117-18

4. **सीखने के अवसर प्रदान करना -**

जन्म से लेकर मृत्यु तक व्यक्ति कुछ न कुछ सीखता ही रहता है अर्थात सीखना मनुष्य की जन्मजात् प्रवृत्ति है । इस प्रकार कहा जा सकता है कि सीखना ही प्रमुख अध्ययन विषय है, सीखना ही शिक्षा है ।

वुडवर्थ के अनुसार -

"नवीन ज्ञान एवं नवीन प्रतिक्रियाओं की प्रक्रिया सीखने की प्रक्रिया है ।"[1]

शोधकर्ता की दृष्टि में कोई भी ऐसी शिक्षा प्रणाली नहीं होगी जिसमें सीखने के अवसर न उपलब्ध हो । कोई भी सैद्धान्तिक ज्ञान बिना व्यवहारिक ज्ञान के परिपूर्ण नहीं होता और व्यवहारिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए सीखने की प्रक्रिया का उपयोग अपरिहार्य है । बचपन से ही बालक अपने पूर्वजों के द्वारा अनेकानेक व्यवहारिक क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त करता है । गुणों का अनुसरण करता है आदर्शों एवं मूल्यों को धारण करता है । यह आवश्यक नहीं है कि उपरोक्त सभी बातों की सैद्धान्तिक शिक्षा दी जाये । यह सब बालक व्यवहार के द्वारा सहज ही सीख लेता है । पण्डित दीनदयाल उपाध्याय का भी यह मत था कि शिक्षा प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिसके द्वारा सीखने के अधिकाधिक अवसर प्रदान किये जाये । इस सम्बन्ध में आपका कहना है :-

> "मानव के ज्ञान का बहुत ही थोड़ा अंश भाषा के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है और उसमें से भी एक अंश मात्र लिपिबद्ध है । अतः लिपि ज्ञान एवं भाषा ज्ञान से शिक्षा का उद्देश्य पूर्ण सिद्ध नही होता ।"[2]

इसलिए उपाध्याय जी सिखाने के ज्यादा पक्षधर है । उनका सुझाव है कि विभिन्न शिक्षा संस्थानों द्वारा सिखाने एवं व्यवहारिक ज्ञान प्रदान किये जाने का प्रयास किया जाना चाहिए । जैसा कि उन्होंने लिखा है -

---

1. शिक्षामनोविज्ञान की रूपरेखा
   सीखना
   पृष्ठ - 217
   डा. मालती सारस्वत
   आलोक प्रकाशन, लखनऊ

2. राष्ट्रचिन्तन
   शिक्षा
   पृष्ठ - 100-101
   पण्डित दीनदयाल उपाध्याय
   राष्ट्रधर्म पुस्तक प्रकाशन, लखनऊ

"यह प्रयास पाठशालाओं और विश्वविद्यालयों में ही नहीं घर घर में तथा खेत खलिहान, कारखानों, दुकानों या कला भवनों, खेल के मैदानों और मल्लशालाओं में चलता रहता है । साथ ही जीवन के पहले आश्रम में ही नही बाद में भी मनुष्य का विभिन्न प्रकार से अध्यापन होता रहता है ।"[1]

अतः शोधकर्ता इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने मात्र पुस्तकीय ज्ञान को पर्याप्त नहीं माना बल्कि शिक्षा को आजीवन चलने वाली सतत् प्रक्रिया मानते हुये समस्त अनुभवों एवं व्यवहृत ज्ञान को सैद्धान्तिक ज्ञान का पूरक माना है, तथा सीखने के अवसर प्रदान करने वाली शिक्षण पद्धति को अपनी शिक्षा प्रणाली में प्रमुख स्थान प्रदान किया है ।

5. मातृ भाषा शिक्षण विधि -

बालक जब भी बोलना प्रारम्भ करता है तो वह उसी भाषा को बोलता है जिसको उसकी माँ बोलती है । अतः बालक द्वारा अपनी माता से अनुकरण की जाने वाली भाषा मातृभाषा है । कुछ विद्वानों ने मातृभाषा को माता से सीखी हुई भाषा की संकुचित सीमाओं से निकालकर मातृ भूमि पर बोली जाने वाली भाषा माना है ।

संकुचित और व्यापक दोनों अर्थों में निर्विवाद रूप से मातृभाषा सीखने का सरलतम् साधन है । मातृभाषा अर्थग्रहण के साथ-साथ अभिव्यक्ति की भी सरलतम् माध्यम है । जितनी सरलता और सहजता से हम मातृभाषा के माध्यम से ज्ञान अर्जित कर सकते हैं उतना अन्य भाषाओं के माध्यम से नहीं । पढ़ना और लिखना सीखना तो मातृभाषा के द्वारा ही प्रारम्भ होता है क्योंकि पढ़ना लिखना सीखना उसी भाषा के माध्यम से सरल होता है जिसे बालक बोलता है । अतः बालक के सर्वांगीण विकास के लिए मातृभाषा का शिक्षण अत्यधिक महत्वपूर्ण है ।

बालक के व्यक्तित्व के विकास के साथ-साथ राष्ट्रीय चेतना के विकास में मातृभाषा महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है । मातृभाषा विचारों के आदान प्रदान का सरलतम् सहजतम् और सर्वाधिक प्रभावी साधन है । विचारों, भावनाओं, प्रथाओं, रीति, रिवाजों, का प्रचार प्रसार मातृभाषा के माध्यम से ही प्रभावी सिद्ध होता है । अतः मातृभाषा राष्ट्रीय एकता का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक है ।

शोधकर्ता की दृष्टि में मातृभाषा के उपरोक्त गुणों के कारण पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय मातृभाषा को शिक्षण का माध्यम बनाना चाहते थे । उनका कहना है कि -

"इस दृष्टि से यह स्वाभाविक है कि शिक्षा का माध्यम स्वभाषा ही हो सकती है भाषा केवल अभिव्यक्ति का माध्यम ही नहीं, वह स्वयं भी एक अभिव्यक्ति है । भाषा के एक-एक शब्द, वाक्य रचना, मुहावरों आदि के पीछे समाज के जीवन की अनुभूतियां राष्ट्र की घटनाओं का इतिहास छिपा हुआ है फिर स्वभाषा व्यक्ति को अलग-अलग प्रकोष्ठों में नहीं बांटती ।"[1]

6. <u>क्रियात्मक शिक्षण विधि</u> -

क्रियात्मक शिक्षण विधि का अर्थ है -

"सीखने-सिखाने में शिक्षार्थियों की सक्रिय भागीदारी, उनकी ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का अधिक से अधिक प्रयोग और उन्हें स्वयं करके स्वयं सीखने के अवसर प्रदान करना ।"[1]

यह विधि स्वाभाविक रूचिकर होती है इस विधि के द्वारा गूंगे, बहरे और मानसिक दृष्टि से कमजोर बच्चों को भी पढ़ाया जा सकता है । इस विधि के द्वारा शिक्षण कार्य करने से विद्यार्थी के अन्दर परिश्रम करने की सहज प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है ।

भारतीय संस्कृति के अनुसार कोई भी कार्य परिश्रम के बिना सिद्ध नहीं होते -

---

1. राष्ट्रचिन्तन "शिक्षा" पृष्ठ - 102
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

2. शिक्षण कला एवं तकनीकी क्रिया विधि
रमन बिहारी लाल पृष्ठ - 120
रस्तोगी पब्लिकेशन मेरठ

"उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि

न मनोरथै :

नहि सुप्तस्य सिंहस्य

प्रविशन्ति मुखे मृगा : ।।

कार्यो की सिद्धि मनोरथो मात्र से नहीं होती वरन् परिश्रम करना पड़ता है । सोते हुए सिंह के मुख में मृग स्वयं नही प्रवेश कर जाते हैं परन्तु भूख शान्त करने के लिए उसे परिश्रम करना पड़ता है ।

× × × × × ×

'क्रिया सिद्धि : सत्वे भवति महता नोपकरणे ।' कार्य की सिद्धि क्रियाशीलता से होती है कामनाओं मात्र से नहीं ।

मनुष्य को ठीक प्रकार से जीवन व्यतीत करने के लिए कार्यशील होना चाहिए इतना ही नहीं शरीर को स्वस्थ बनाए रखने के लिए भी कार्यशीलता आवश्यक है क्योंकि कहा गया है -

"आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान रिपुः ।"

आलस्य मनुष्य के शरीर का महान् शत्रु है ।

इसलिए शिक्षण विधि भी ऐसी होनी चाहिए जो बालक के अन्दर कर्मशक्ति जागृत करे उसे क्रियाशील बनाए ।

कर्मचेतना की साक्षात् प्रतिमूर्ति पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय जीवन भर चरैवेति । चरैवेति अर्थात चलते रहो । चलते रहो । के सिद्धान्त पर चलते रहे । इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत करते हुये उन्होंने कहा है -

"सर्वांगीण विकास की दृष्टि से व्यक्ति के सामने कर्तव्य रूप में हमारे यहां चतुर्विध पुरुषार्थ की कल्पना रखी गयी है धर्म अर्थ काम और मोक्ष । पुरुषार्थ का अर्थ उन कर्मों से है जिनसे पुरुषत्व सार्थक हो ।"

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय क्रियाशील शिक्षण पद्धति के समर्थक थे । उनका मानना था कि बालक को ऐसी विधि के द्वारा शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे कि वह कर्मठ और कार्यशील बनकर कमाने के योग्य हो जाए और सुखी जीवन व्यतीत कर सके । उनकी क्रियाशील शिक्षण विधि के कुछ उदाहरण भी दृष्टिगोचर है -

> "कमाने की पात्रता शिक्षा से आती है ।..... प्रत्येक समाज इस कर्तव्य का निर्वाह करता है । ...... इस कर्तव्य के निर्वाह की क्षमता पैदा करना ही अर्थव्यवस्था का काम है ।"

मनुष्य के सर्वांगीण विकास के लिए उपाध्याय जी ने क्रियाशील शिक्षण पद्धति की अनिवार्यता को स्वीकार किया है तथा आदेशित भी किया है कि -

> "यदि व्यक्ति की आवश्यकता पूर्ण होती रही तो भी पुरुषार्थ न करने के कारण उसका विकास एकांगी रह जाएगा । मानव को पेट और हाथ दोनो मिले हैं यदि हाथों को काम न मिले और पेट को खाना मिलता रहे तो भी मनुष्य सुखी नहीं रहेगा ।"

देश के आर्थिक ढांचे के निर्माण में मनुष्य को क्रियाशील बनाने का प्रयत्न उपाध्याय जी की शिक्षण पद्धति में हमें देखने को मिलता है ।

> "जैसे किसी कारखाने की पूरी क्षमता का उपयोग न कर पाना आर्थिक दृष्टि से ठीक नहीं वैसे ही देश के लोगों को बेकार रखना घाटे का सौदा है । यहां तो दोहरा घाटा है । खाली मशीन केवल पुरानी पूंजी खाती है नया कुछ नहीं पर बेकार मनुष्य तो आज भी खाता है । अतः आज तो 'कमाने वाला खाएगा' के स्थान पर 'खाने वाला कमाएगा' यह लक्ष्य रखकर हमें भारत की अर्थरचना करनी होगी ।"

व्यक्ति की प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए उसे पुरुषार्थशील बनाने का सुझाव पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय की शिक्षण पद्धति के द्वारा हमें प्राप्त होता है ।

> "भगवान की सर्वश्रेष्ठ कृति मानव अपने को खोता जा रहा है । हमें मानव को पुनः अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करना होगा, उसकी गरिमा का उसे ज्ञान कराना होगा उसकी शक्तियों की जगाना होगा तथा उसे देवत्व की प्राप्ति हेतु पुरुषार्थशील बनाना होगा ।"[1]

इस प्रकार व्यक्ति को निद्रालु, आलसी एवं क्रियाहीन बनाने वाली शिक्षा तथा शिक्षण व्यवस्था और संस्थाओं को बदलने का सुझाव देते हुए पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने कहा है -

> "हमें उन संस्थाओं का निर्माण करना होगा जो हमारे अन्दर कर्मचेतना पैदा करें।"[2]

7. **साहित्य एवं ललित कलाओं का शिक्षण** -

शुष्क एवं नीरस पाठ्यक्रम बालक के मस्तिष्क को बोझिल बना देता है और पाठ्य पुस्तकें उसको अरूचिकर लगने लगती है इस स्थिति में उसके अन्दर सौन्दर्यानुभूति एवं आनन्दानुभूति जागृत की जानी चाहिए । इस दृष्टि से साहित्य और ललितकलाओं का शिक्षण अतिआवश्यक प्रतीत होता है ।

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ में किशोरों एवं तरूणों के हृदयों में मातृभूमि के प्रति स्नेह और ममता जागृत करने एवं उत्कट देशभक्ति की लहरें उत्पन्न करने के लिए प्रेरणादायक 'गीतो' को माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया है । शाखा में खेल एवं सामान्य ज्ञान, प्रश्नोत्तर तथा संघ दर्शन के शिक्षण के उपरान्त थके हुए स्वयं सेवकों में 'गीतो' के द्वारा राष्ट्र भाव जागृत किया जाता है ।

---

1. तथैव पृष्ठ - 72
2. तथैव पृष्ठ - 75

"मातृ भूमि पितृ भूमि धर्म भू महान ।

भरत भू महान् है महान् है महान् ।।

× × × × × ×

"युगों युगों से यही हमारी बनी हुई परिपाटी है ।

खून दिया है मगर नहीं दी कभी देश की माटी है ।"

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय साहित्य और ललितकलाओं के शिक्षण द्वारा बालकों को संस्कारित करना चाहते थे । इसी दृष्टि से उन्होंने अपनी साहित्यिक कृति 'सम्राट चन्द्रगुप्त' में ऐतिहासिक पात्रों चन्द्रगुप्त और चाणक्य के माध्यम से स्वातन्त्र्य प्रयत्नों की ओर किशोर हृदयों को प्रवृत्त करने का प्रयत्न किया है -

"आज देश को आवश्यकता है तो तुम उसकी पूर्ति को सम्राट बनोगे कल आवश्यकता होगी तो उसी के लिए तुम्हें भिक्षुक भी बनना पडेगा ।"[1]

बालकों के मानसिक सन्तुलन को ठीक बनाए रखने एवं उनके अन्दर धार्मिक भावना जागृत रखने के लिए पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ललितकलाओं के शिक्षण को अनिवार्य मानते हैं ।

"मन को सन्तोष देने वाली ललितकलाओं - यज्ञ - यात्रादि कर्मो की अवहेलना हुई तो धर्म का पालन करने वाले संस्कार नहीं होगे । मानस विकृत रहेगा तथा धर्म की हानि होगी ।"[2]

---

1. सम्राट चन्द्रगुप्त — पृष्ठ - 46
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

2. एकात्म मानव दर्शन
   'एकात्म मानववाद' — पृष्ठ - 29
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

8. **वैज्ञानिक विधि -**

वर्तमान युग विज्ञान के युग के नाम से जाना जाता है । मानव एवं प्रकृति की प्रत्येक क्रिया को वैज्ञानिक दृष्टि से देखने का प्रयास किया जाता है । इस प्रकार विज्ञान की नयी-नयी खोजों ने प्राचीन मान्यताओं को बदल डाला है । मानव जीवन का सम्पूर्ण क्षेत्र विज्ञान से प्रभावित है यहां तक कि धर्म और दर्शन की व्याख्या भी वैज्ञानिक आधार पर की जाने लगी है । तब शिक्षा विज्ञान के प्रभाव से प्रभावित हुए बिना कैसे रह सकती है ? आज शैक्षिक उद्देश्यों, पाठ्यचर्या एवं शिक्षण विधियों के निर्माण में विज्ञान का सहयोग अपरिहार्य हो गया है । नए-नए नियमों एवं सिद्धान्तों के प्रतिपादन एवं उनके सत्यापन के लिए वैज्ञानिक विधि का सहयोग लेना पड़ता है ।

समय की मांग के अनुसार देश के उज्जवल भविष्य के निर्माण की दृष्टि से पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने भी अपनी शिक्षण पद्धति में वैज्ञानिक विधि को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है । उनका मानना है कि हमें पुरानी रूढ़ियों से चिपके नहीं रहना है, वरन् नवनिर्माण के लिए नए-नए विचारों नियमों और सिद्धान्तों को लेकर चलना होगा ।

> "काल मार्क्स का सिद्धान्त देश और काल दोनों ही दृष्टियों से इतना बदल चुका है कि आज हम मार्क्सवादी विश्लेषण को तोते की तरह रटकर आंख मूंद कर भारत पर लागू करें तो वह वैज्ञानिक अथवा विवेकपूर्ण दृष्टिकोण नहीं कहा जाएगा । वह रूढ़िवादिता होगी ।"[1]

पण्ड़ित दीनदयाल ने विविधता में निहित एकता की शिक्षा देने के लिए तथा एकता का विविध रूपों में व्यक्तीकरण करने के लिए वैज्ञानिक पद्धति को अपनाया है यथा -

> "हम यह तो स्वीकार करते हैं कि जीवन में अनेकता अथवा विविधता है किन्तु उसके मूल में निहित एकता को खोज निकालने का हमने सदैव प्रयत्न किया है । यह प्रयत्न पूर्णतः वैज्ञानिक है । विज्ञान वेत्ता का प्रयत्न रहता

---

1. एकात्म मानवदर्शन
एकात्म मानववाद — पृष्ठ - 15
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

है कि वह जगत में दिखने वाली अव्यवस्था में से व्यवस्था ढूंढ निकाले, उनके नियमों का पता लगाए तथा तदनुसार व्यवहार के नियम बनाए ।"[1]

प्रकृति और मानव के विविध रूपों के बीच एकता का दर्शन करने वाले पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने मानव को परस्परानुकूलता के अनुसार जीवन जीने की जो शिक्षा दी है, पूर्णतः पर्यावरण सम्बन्धी एवं वैज्ञानिक है -

"वनस्पति और प्राणी दोनों एक दूसरे की आवश्यकता को पूरा करते हुए जीवित रहते हैं । हमें आक्सीजन वनस्पतियों से मिलती है तथा वनस्पतियों के लिए आवश्यक कार्बनडाई ऑक्साइड प्राणि जगत से प्राप्त होती है । इस पर स्वर पूरकता के कारण ही संसार चलता है ।"[2]

वैज्ञानिक शिक्षण विधि का उद्देश्य है शिक्षक को शैक्षिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु सहयोग करना । वह किस विधि युक्ति और साधन का प्रयोग कब और किस सीमा तक करें इस क्षेत्र में वैज्ञानिक विधि अध्यापक की बहुत ही सहायता करती है ।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन के आधार पर शोधकर्ता को पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय की 'शिक्षा प्रणाली' में वैज्ञानिक विधि का स्पष्ट प्रयोग दिखाई पड़ता है । देशकाल और परिस्थितियों के आधार पर 'नियमों' के पालन करने की शिक्षा देते समय उन्होंने वैज्ञानिक विधि का प्रयोग किया है -

"मनुष्य को शरीर धारण करने के लिए भोजन करना चाहिए । यह नियम शाश्वत है । किन्तु व्यक्ति विशेष को कब कैसा और कितना भोजन करना चाहिए यह परिस्थिति सापेक्ष होगा । कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि भोजन नहीं चाहिए । किसी मनुष्य को टॉप फॉयड हो गया और हमने कहा कि शरीर धारण करने के लिए भोजन चाहिए और उसे भोजन करा दिया तो कठिनाई पैदा हो जाएगी । उस समय 'भोजन नहीं चाहिए' यह नियम लागू करना पड़ेगा ।...... इसलिए देशकाल के आधार पर इन नियमों का पालन

---

1. तथैव पृष्ठ - 18
2. तथैव पृष्ठ - 19

करना पड़ेगा ।"[1]

वैज्ञानिक शिक्षण विधि का प्रमुख उद्देश्य होता है - शिक्षण को प्रभावशाली बनाना जिससे कम से कम शक्ति व समय में अधिक से अधिक सिखाया जा सके । आजकल सभी इस बात से सहमत हैं कि 'शिक्षा बालक के लिए है न कि बालक शिक्षा के लिए ।' इस प्रकार बालक को वैज्ञानिक विधि के द्वारा अधिक से अधिक शिक्षा देने का प्रयास होना चाहिए । इसी दृष्टिकोण के अनुसार पण्डित दीनदयाल उपाध्याय ने भी अपनी शिक्षा के लिए 'वैज्ञानिक विधि' को प्रमुखता प्रदान की -

> "इंजन को चलाने के लिए कोयला चाहिए किन्तु कोयला खाने के लिए इंजन नहीं बनाया गया । प्रत्युत हमारा प्रयत्न तो यही रहता है कि कम से कम ईंधन से अधिक से अधिक मात्रा में शक्ति पैदा हो । ...... मानव जीवन के उद्देश्य का विचार करके हमें ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे वह न्यूनतम् ईंधन से अधिकतम गति के साथ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ सके ।"[2]

9. **स्वाध्याय एवं व्याख्यान विधि -**

स्वाध्याय एवं व्याख्यान विधि शिक्षण की अति प्राचीन विधियां हैं । प्राचीन काल से प्रचलित उपरोक्त दोनों विधियां शिक्षण की दृष्टि से आज भी उतनी ही उपयुक्त एवं अपरिहार्य है जितनी कि प्राचीन काल में थी ।

'आत्मदीपो भव' कहकर प्राचीन काल में 'स्वाध्याय' के लिए शिक्षार्थियों को प्रोत्साहित किया जाता था । स्वाध्याय अर्थात स्वयं के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान रूपी दीपक के द्वारा स्वयं को प्रकाशित करना शिक्षा का उद्देश्य माना जाता था । आज भी शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए 'स्वाध्याय' का महत्वपूर्ण स्थान है । सरस्वती विद्या मन्दिरों की अभिनव पञ्चपदी शिक्षण पद्धति में 'स्वाध्याय' को अन्तिम पञ्चम पद अर्थात् अत्यन्त महत्वपूर्ण पद के रूप में स्वीकार किया गया है ।

1. अधीति 2. बोध 3. अभ्यास 4. प्रयोग 5. प्रसार

---

1. तथैव पृष्ठ - 45
2. तथैव पृष्ठ - 61

पञ्चपदी शिक्षण पद्धति के पाँच पद है पांचवे पद प्रसार की विवेचना करते हुए बताया गया है कि -

"ज्ञान के प्रसार के लिए विविध प्रयास करना चाहिए -

1. स्वाध्याय 2. प्रवचन ।"[1]

इस प्रकार 'स्वेन अधीयते इति स्वाध्यायम्' अर्थात अपने द्वारा जो अध्ययन किया जाए उसे ही स्वाध्याय करते हैं । पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने अपनी शिक्षण पद्धतियों में 'स्वाध्याय विधि' को भी स्वीकार किया है । उन्होंने माना है कि -

> 'स्वाध्याय' मनुष्य का स्वयं का अध्ययन है । लिपि ज्ञान स्वाध्याय के लिए बहुत आवश्यक है । पठ्न मनन और चिन्तन के सहारे मनुष्य ज्ञान को आत्मगम्य करता है । बिना स्वाध्याय के न तो प्राप्त ज्ञान टिकता है और न बढ़ता है । स्वाध्याय के बिना ज्ञान को जीवन का अंग बनाकर 'तेजस्वीय' बनने का तो प्रश्न ही नहीं । अतः 'स्वाध्यापान्मा प्रमद' - यह कुलपति का स्नातक को दीक्षान्त के अवसर पर आदेश रहता है । पुस्तकालय आदि की व्यवस्था स्वाध्याय के लिए आवश्यक है ।

'व्याख्यान' विधि भी उपरोक्त पञ्चपदी के अनुसार ज्ञान प्रसार का साधन है । व्याख्यान विधि की उत्पत्ति सुदूर प्राचीनकाल के गुरूकुल में दी जाने वाली उच्च शिक्षा से मानी जा सकती है । उस समय यह विधि एक मात्र शिक्षण विधि थी । मुख्यतः व्याख्यान विधि से ही शिक्षण होता था । शिक्षा पूरी तरह से मौखिक थी गुरू के मुख से निकली हुई बात को शिष्य याद करते थे तथा अगली पीढ़ी को समर्पित करते थे । इस प्रकार शिक्षण का सम्पूर्ण कार्य व्याख्यानों पर ही आधारित था प्रश्नोत्तरों के द्वारा शंकाओं का समाधान होता था । बडी बडी विचार गोष्ठियों का आयोजन होता था । गम्भीर एवं विवादास्पद प्रश्नों को हल करने के लिए विद्वानों के सम्मेलन बुलाए जाते थे ।

---

1. भारतीय शिक्षा के मूल तत्व
   शिक्षण के सिद्धान्त एवं पद्धतियां — पृष्ठ - 159
   लज्जाराम तोमर
   सुरूचि प्रकाशन, झण्डेवाला, नई दिल्ली

वर्तमान समय में भी 'व्याख्यान' विधि का सबसे अधिक प्रयोग किया जाता है । विशेष कर उच्च शिक्षा में धर्म, दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और शिक्षाशास्त्र जैसे विषयों के अध्यापन में सभी शिक्षक इसी विधि के द्वारा शिक्षण कार्य करते हैं । उनके पद को भी 'लेक्चरर' अर्थात 'व्याख्याता' ही कहा जाता है । परन्तु प्राचीन काल से आज इस विधि में बहुत सुधार है । अनेक युक्तियों और उपकरणों का विकास हो जाने से यह विधि बहुत ही परिस्कृत हो गयी है । श्यामपट वस्तुमाडल रेखाचित्र मानचित्र आदि शिक्षोपकरणों के प्रयोग से व्याख्यानों को सजीव बनाने का प्रयास किया जाता है ।

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय का अधिकांश चिन्तन तो उनके 'व्याख्यानों' का ही संकलन है । अपने चिन्तन दर्शन के प्रसार के लिए उन्होंने 'व्याख्यान विधि का सर्वाधिक प्रयोग किया है । उनका अधिकांश चिन्तन दर्शन संघ के शिक्षा वर्गों, अनेकानेक कार्यक्रमों, सम्मेलनों एवं विचार गोष्ठियों में दिये गये भाषणों में प्रस्फुटित हुआ है । सच्चे अर्थों में वह तो हिन्दू राष्ट्र के 'व्याख्याता' ही थे । 'राष्ट्रचिन्तन' नामक पुस्तक के प्रकाशन के अनुसार -

> "पण्ड़ित दीनदयाल जी उपाध्याय द्वारा समय-समय पर दिये गये भाषणों का एक संग्रह 'राष्ट्र जीवन की समस्याएं' नाम से प्रकाशित हुआ था । राष्ट्र जीवन के विविध क्षेत्रों में गम्भीर चिन्तन और सरल अभिव्यक्ति की दृष्टि से पण्ड़ित दीनदयाल जी के विचारों की यह पुस्तक समाहत हुई है । उस पुस्तक के उन सभी लेखों को पुनः प्रकाशित करने का आग्रह बहुत समय से जिज्ञासु पाठकों द्वारा किया जा रहा है था ।
>
> प्रस्तुत पुस्तक राष्ट्र चिन्तन में उन लेखों के अतिरिक्त पण्ड़ित दीनदयाल जी द्वारा दिए गए महत्वपूर्ण भाषणों को भी संकलित कर लिया गया है ।

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने व्याख्यान विधि को प्रमुख शिक्षण विधि के रूप में समाहित किया है -

---

1. "राष्ट्रचिन्तन" प्रकाशक
   भानु प्रताप शुक्ल
   भा. सं. पु. समिति उत्तर प्रदेश, लखनऊ

शोधकर्ता ने निम्न उदाहरण के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय 'व्याख्यान विधि' के प्रबल समर्थक थे -

"हिमालय की गुफा में योगभ्यास करके मुक्ति नहीं मिल सकती योगाभ्यास भले ही हो जाये । मुक्ति भी व्यक्तिगत नहीं सामाजिक है समष्टिगत है जब समाज मुक्त होगा, ऊँचा उठेगा तो व्यक्ति भी । भगवान ने भी अवतार लिया तो धर्म की रक्षा के लिए ..... । भगवान कृष्ण ने तो जीवन भर कार्य किया उन्होंने सम्पूर्ण समाज को अपने सामने रखकर कर्म किया । निष्कर्ष यह है कि समाज के लिए काम भगवान का काम है राष्ट्रभक्ति यानि समाजभक्ति ही वास्तव में भगवानभक्ति है । ...... सच बात तो यह है कि हम देश के लिए सदैव कुछ भी करने को तत्पर हो सकें, यह बात सहज साध्य नहीं । इसके लिए मन पर सतत् संस्कार पड़ने की आवश्यकता होती है । चार लोग मिलकर एक निर्णय से काम कर सकें, यह बात सहज साध्य नहीं । इसके लिए संस्कार शिक्षण और आदत की जरूरत होती है । यदि राष्ट्र भाव हमारे सामने रहेगा तो हम सब मिलकर काम कर सकेंगे ।"[1]

10. दृश्य श्रव्य साधनों का प्रयोग -

दृश्य श्रव्य शिक्षण विधि के द्वारा बालक की कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों का दृश्य श्रव्य शिक्षण विधि के द्वारा बालक को ज्ञान प्राप्त करना सुगम हो जाता है तथा ऐसा ज्ञान शीघ्र विस्मृत नहीं होता वरन् स्थाई होता है । दृश्य श्रव्य साधनों के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने में बालक को अरूचि नही होती । अन्य विधियों की तरह दृश्य श्रव्य विधि भी प्राचीन काल से प्रयुक्त होने वाली शिक्षण विधि है । आज इस विधि को अत्यन्त अधुनातम् बनाने का श्रेय विज्ञान को प्राप्त है । उपग्रहों के द्वारा शिक्षण कार्य किया जाने लगा है जिसे 'आकाश के शिक्षक' की संज्ञा दी गयी है ।

---

1. उत्तर प्रदेश सन्देश, 4 फरवरी 1968 स्थान रायबरेली में पण्ड़ित दीनदयाल जी द्वारा दिया गया अन्तिम भाषण

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय विशेषांक पृष्ठ - 101

10 सितम्बर 1991 अंक 9

प्राचीन काल में कथा, कीर्तन और नाटकों आदि के द्वारा समाज को संस्कारित करने का कार्य किया जाता था । वर्तमान समय में विज्ञान के विकास के साथ-साथ शिक्षण विधियों का भी विकसित स्वरूप हमारे सामने उपस्थित हुआ है । पत्र-पत्रिकाओं से लेकर रेडियो, सिनेमा और टेलीविजन तक का प्रयोग शिक्षण कार्य के लिए किया जाने लगा है । एडीसन के शब्दों में -

"चलचित्र अनिवार्य रूप से शिक्षा का एक मात्र रचनात्मक साधन है ।"

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने भी दृश्य श्रव्य साधनों के प्रयोग को प्राचीनकाल से चली आने वाली शिक्षण पद्धति के रूप में स्वीकार किया है । इसके साथ ही साथ दृश्य श्रव्य साधनों के अधुनातम् स्वरूप को भी स्वीकार करते हुए शिक्षण कार्य को सुगम बनाने का सफल प्रयास किया है ।

दृश्य श्रव्य साधनों को शिक्षण के सशक्त माध्यम के रूप में स्वीकार करते हुए पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने कहा है -

"प्राचीन काल के कथा और कीर्तन तथा आज के रेडियो सिनेमा समाचार पत्र आदि सभी इस सीमा में आते हैं ।"

---

1. शिक्षा के सिद्धान्त
   शिक्षा के अभिकरण 'चलचित्र' पृष्ठ - 95
   सुबोध अदावाल
2. राष्ट्रचिन्तन
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ - 101
   राष्ट्र धर्म पुस्तक प्रकाशन लखनऊ

11. समीक्षात्मक विचार -

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय की उपरोक्त 'शिक्षण पद्धति' की समीक्षा करने पर शोधकर्ता ने अनुभव किया है कि उपाध्याय जी ने अपनी 'शिक्षण पद्धति' में प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों ही शिक्षण विधियों का समन्वय स्थापित किया है । एक ओर जहां उन्होंने आगमन, निगमन और स्वाध्याय एवं व्याख्यान जैसी प्राचीन शिक्षण विधियों को अपनी शिक्षण पद्धति में स्थान दिया है वहीं दूसरी ओर मनोवैज्ञानिक, वैज्ञानिक, रचनात्मक, क्रियात्मक एवं दृश्य श्रव्य जैसी अधुनातम् शिक्षण विधियों का प्रयोग करने में किसी भी प्रकार का संकोच नहीं किया ।

उनकी शिक्षण विधियों के अध्ययन के उपरान्त शोधकर्ता यह कह सकता है कि उपाध्याय जी किसी एक शिक्षण विधि के अनुयायी या पिछलग्गू नहीं थे वरन् अपनी शिक्षा प्रणाली के अनुरूप अपनी सूझबूझ के अनुसार उपयुक्त शिक्षण विधियों को ग्रहण किया ।

मानव को संस्कारित करने की दृष्टि से उन्होंने रचनात्मक शिक्षण विधि तथा साहित्य एवं ललितकलाओं के शिक्षण की व्यवस्था की तथा आधुनिक प्रगति की दौड़ में प्रतिष्ठापूर्ण स्थान प्राप्त कराने में सक्षम वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक शिक्षण विधियों का प्रयोग किया । इस प्रकार शोधकर्ता का स्पष्ट मत है कि शिक्षण पद्धति की दृष्टि से पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने अपनी शिक्षा में शिक्षण विधियों का कुशल समन्वय एवं समायोजन किया है । अतः उनकी 'शिक्षण पद्धति' वर्तमान शैक्षिक उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक सिद्ध हो सकती है ।

(घ) **शैक्षिक अभिकरण -**

शिक्षा के अभिकरण से तात्पर्य ऐसे स्थानों उपकरणों या समूहों से है जिनके द्वारा अथवा जहां शिक्षा की प्रक्रिया परिचालित होती है जैसे घर परिवार विद्यालय समाज, राज्य, धर्म आदि।

शिक्षा अनेक प्रकार की संस्थाओं, संस्थानों, माध्यमों अथवा अभिकरणों द्वारा प्रदान की जाती है। घर परिवार को एक प्रकार की शिक्षा संस्था कहा जा सकता है। विद्यालय, समाज और धार्मिक संस्थाएं भी शिक्षा प्रदान करने का कार्य करती है। इन सबको शिक्षा का अभिकरण कहा जाता है। औपचारिक, अनौपचारिक अथवा न-औपचारिक शिक्षा सभी किसी न किसी अभिकरण का सहारा लेती हैं। कोई भी राष्ट्र अपने राष्ट्रीय लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए शिक्षा को माध्यम बनाता है तथा शैक्षिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए इन्हीं अभिकरणों का सहारा लिया जाता है। पण्ड़ित दीनदयाल जी कहा करते थे कि जिस प्रकार मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसके शरीर में विभिन्न प्रकार के अंगों का निर्माण होता है उसी प्रकार राष्ट्र भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विभिन्न प्रकार की संस्थाओं को जन्म देता है।

> "संस्थाओं को जन्म राष्ट्र अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देता है 'कुटुम्ब जाति' वर्ण श्रेणी पुराने समय में अपने यहां थी।"[1]

पण्ड़ित जी के अनुसार,

> "प्रत्येक व्यक्ति इनमें से प्रत्येक संस्था का अंग रहता है यथा कुटुम्ब का मैं अंग हूँ जाति व्यवस्था हो तो उसका भी अंग हूँ ..... समाज का भी मैं एक अंग हूं और इस समाज से आगे यदि पूर्ण मानवता का विचार करें तो उसका भी मैं एक अंग हूँ मानव से आगे बढ़कर यदि हम इस चराचर जगत् का विचार करें तो उसका भी मैं एक अंग हूँ।"[2]

---

1. व्यष्टि समष्टि में समरसता, "संस्था द्वारा राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति"
   एकात्म मानवदर्शन
   पृष्ठ - 37
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
2. व्यष्टि समष्टि में समरसता "व्यक्ति एकांगी नहीं बहुरंगी है"
   एकात्म मानवदर्शन
   पृष्ठ - 39
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

अतः परिवार, समाज, धार्मिक संगठन राज्य और विद्यालयों को पण्ड़ित जी राष्ट्र की प्रमुख संस्थाएं मानते हैं जिनका प्रत्येक व्यक्ति सदस्य होता है इन्हीं संस्थाओं के माध्यम से वह अपने व्यक्तित्व का विकास करता हुआ राष्ट्रीय विकास में योगदान करता है । उपाध्याय जी का मानना था कि केवल -

"शालेय शिक्षा अकेली ही मनुष्य का निर्माण नहीं करती संस्कार और अध्यापन का बहुत सा ऐसा क्षेत्र है जो शालेय क्षेत्र के बाहर है ।"[1]

डा. महेश चन्द्र शर्मा का कहना है कि -

"केवल सरकारी माध्यम से शिक्षा की सर्वांगपूर्ण व्यवस्था की कल्पना करना सर्वथा अव्यवहार्य है समन्वित शिक्षक-त्रयी ही समाज में सर्वांगपूर्ण शिक्षा नीति की प्रत्याभूति है ।"[2]

इस शिक्षक-त्रयी को भारतीय शास्त्रकारों ने परिभाषित करते हुए कहा है-

"माताः प्रथमतः गुरूः आचार्य देवो भव, आत्मदीयो भव ।"[3]

विभिन्न शिक्षाविद्गो ने विद्यालय और राज्य के अतिरिक्त परिवार, समुदाय एवं समाज तथा धार्मिक संगठनों को शिक्षा के सशक्त अभिकरण के रूप में स्वीकार किया है ।

अतः पण्ड़ित जी द्वारा प्रतिपादित, शैक्षिक अभिकरणों का व्यवस्थित विश्लेषण करते हुए शोधकर्ता ने विद्यालय और राज्य के अतिरिक्त परिवार समाज तथा धार्मिक संगठनों को शिक्षा के सशक्त माध्यम के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । जिनके द्वारा सर्वांगपूर्ण शिक्षा की व्यवस्था की जा सकती है ।

परिवार -

"अपने यहां यह माना गया है कि व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास होना चाहिए ।

---

1. राष्ट्र चिन्तन शिक्षा अध्याय - 14 पृष्ठ - 100
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
2. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय कर्तत्व एवं विचार
सामाजिक सक्रियता एवं विचार 'शिक्षा' पृष्ठ - 313
डा. महेश चन्द्र शर्मा
3. तथैव पृष्ठ - 310

अतः इस तरह की सामाजिक आर्थिक रचना होनी चाहिए जिससे सम्पूर्ण सुख और विकास प्राप्त हो सके । इसी नाते व्यक्ति को मान्यता देने के साथ-साथ परिवार को भी मान्यता दी गयी है । 'मातृ देवो भव,' 'पितृ देवो भव' कहा गया है ।"[1]

परिवार या घर समाज की आधारभूत इकाई है । माता-पिता और उनकी सन्तान के बीच की सम्बन्ध व्यवस्था को परिवार कहा जाता है अनेक शिक्षाविदो ने परिवार को शिक्षा का सर्वोत्तम स्थान माना है तथा कुछ विद्वान परिवार को बालक की प्रथम पाठशाला एवं माँ को प्रथम गुरू मानते हैं । कहा भी गया है कि माता प्रथमो गुरूः ।

बालक परिवार में पैदा होता है, परिवार में ही उसका शैशव व्यतीत होता है । परिवार में ही वह उठना-बैठना, खाना-पीना, हंसना-बोलना सीखता है । परिवार के संस्कारों को वह अनजाने में ही प्रतिपल आत्मसात करता रहता है । इस प्रकार उसके भावी जीवन की नींव परिवार में ही पड़ जाती है । परिवार के लोगों के साथ-साथ रहते बालक में सहयोग सदाचार सद्भावना आदि मानवीय गुणों का विकास होता रहता है । पारिवारिक वातावरण की अमिट छाप उसके ऊपर पड़ती रहती है वह निरन्तर परिवार के ढ़ांचे में ही ढ़लता रहता है । बुन्देलखण्ड में लोग कहते भी हैं "जिसके जैसे बाप-मताई, उसका वैसा लड़का" इसीलिए विभिन्न घरेलू वातावरण के कारण किसी विद्यालय की एक कक्षा में पढ़ने वाले बहुत से बालक ज्ञान, रूचि व्यवहार से भिन्न होते हैं घर परिवार के वातावरण की बालक को बनाने बिगाड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका रहती है । उसके मूल प्रवृत्तियों का उन्नयन भावनाओं तथा इच्छाओं का प्रशिक्षण परिवार में ही होता है इसीलिए सभी शिक्षाशास्त्रियों के साथ पण्डित दीनदयाल उपाध्याय ने भी बच्चे की शिक्षा-दीक्षा के लिए परिवार के महत्व को स्वीकार किया है । हमारे यहां कहा भी गया है कि -

"माता शत्रुः पिता वैरी एन वालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंस मध्ये वकोयथा ।।"

---

1. एकात्म मानववाद एक अध्ययन,
भारतीय जीवन रचना अध्याय-6
एकात्म मानव दर्शन पृष्ठ - 105
दन्तोपन्त ठेंगडी

वह माता शत्रु तथा पिता वैरी के समान है जिन्होंने अपने पुत्र को शिक्षा नहीं दी। वह अशिक्षित मूर्ख बालक हंसों की सभा में बगुले की तरह शोभायमान नहीं होता।

बालक अपने परिवार में रहकर बड़ा होता है लेकिन केवल उसको बडा कर देना ही परिवार का दायित्व नहीं है। उसकी व्यक्तिगत भिन्नता के अनुसार उसके व्यक्तित्व का विकास किया जाना चाहिए। बालक के मानस पटल पर अंकित शैशवावस्था के चित्र प्रायः अंकित होते हैं। वह परिवारिक परम्पराओं का प्रतीक बनता है और आने वाली पीढ़ी को पैतृक सम्पदा सुरक्षित तथा संवर्द्धित रूप में सौंप देता है। अतएव घर एवं परिवार की जिम्मेदारी है कि बालक पारिवारिक आदर्शों एवं परम्पराओं की प्रतिष्ठा का सुप्रयास करें। उसपर अधिक समय देकर उसके समाजीकरण में अधिकाधिक योगदान करें।

हमारे देश के महान विचारक माननीय दत्तोपन्त ठेंगडी जी ने शैक्षिक दृष्टि से परिवार की महानता को स्वीकार करते हुए लिखा है -

> "व्यक्ति के बाद अब हम पारिवारिक व्यवस्था का विचार करें जो एक सर्वमान्य प्रस्थापित तथ्य के रूप में सभी समाजों में सर्वदा विद्यमान रही है। इसकी अपरिहार्यता को हिन्दू धर्मशास्त्रों कन्फूशियस मोहम्मद और ईसाइयत सभी के द्वारा स्वीकार किया गया है लेकिन पश्चिमी जगत में उसके विरूद्ध भी दो दिशाओं में विद्रोह दिखाई दिया। एक ओर कम्युनिस्टों ने यह कहकर पारिवारिक व्यवस्था का विरोध आरम्भ किया कि यह कृत्रिम व्यवस्था है। मनुष्य और मानव जाति के बीच परिवार सरीखी किसी श्रंखला या मध्यस्थ की क्या आवश्यकता है ? अतः इन्हें तोड़कर कम्यूनों की स्थापना करो। दूसरी ओर लोकतान्त्रिक देशों में यह भावना बल पकड़ने लगी कि पारिवारिक व्यवस्था में प्रत्येक घटक को जिस पारिवारिक अनुशासन का पालन करना पड़ता है उसका पालन क्यों किया जाए ? यह तो व्यक्ति स्वातन्त्र्य का विलोम है। अतः संयुक्त परिवार को तोड़ दो विवाह करके माता-पिता से छुट्टी ले लो अपना परिवार

जितना छोटा होगा उतना ही अधिक उपभोग किया जा सकेगा और स्वरोचार चल सकेगा किन्तु इन आन्दोलनों की खामियां शीघ्र ही सामने आने लगीं और हम देखते हैं कि वे सफल नहीं हो सके हैं । सोवियत संघ में कम्यूनों का प्रयोग विफल सिद्ध हुआ है और इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप पारिवारिक भावना प्रबल होने लगी है । कम्युनिष्ट शासन व्यवस्था में अभिभावकत्व और पितृत्व को कानूनी मान्यता देने की पुरजोर मांग की जाने लगी जिसे अन्त में शासन को स्वीकार करना पड़ा । इसी भांति लोकतान्त्रिक देशों में विशेष रूप से अमेरिका में 'हिप्पी' सम्प्रदाय आदि के स्वेराचार के विरूद्ध वहां के श्रेष्ठ विचारकों ने यह मांग करना आरम्भ कर दिया है कि संयुक्त परिवार प्रणाली अवश्य स्थापित की जानी चाहिए अन्यथा समाज में स्थिरता न रह सकेगी ।"[1]

अतः नैतिक विकसित एवं स्थिर जीवन की नींव परिवार से ही प्रारम्भ होती है । इसीलिए पण्ड़ित जी ने परिवार को ही प्रथम एवं महत्वपूर्ण अभिकरण स्वीकार किया है ।

---

1. एकात्म मानववाद एक अध्ययन
दत्तोपन्त ठेंगडी
पृष्ठ - 96-97

2- समुदाय एवं समाज

परिवार की भाँति समाज भी बालक की शिक्षा का एक महत्वपूर्ण अभिकरण है । बालक का विकास तथा देश के भावी नागरिक के रूप में उसका निर्माण समाज में रहकर समाज के द्वारा ही सम्भव होता है । आज के बालक की शिक्षा पर कल के ही नहीं वरन् आज के समाज की उन्नति निर्भर है । एक-एक बालक को उन्नत मानव बनाने में समाज का महत्वपूर्ण स्थान है । अतः यदि समाज उन्नतिशील होगा तो उन्नतशील व्यक्तियों का निर्माण हो सकेगा और यदि व्यक्ति उन्नतिशील हुए तो उन्नतशील समाज बनेगा । व्यक्ति व समाज अन्योन्य आश्रित है -

> "हमारी यही मान्यता है कि बिना व्यष्टि के किसी समष्टि की कल्पना ही नहीं की जा सकती और बिना समष्टि के व्यष्टि का क्या मूल्य ? इसीलिए हम दोनों के बीच समन्वय स्थापित करना चाहते हैं । व्यक्ति के विकास और समाज की पूर्णता का यही समन्वित विचार भारतीय चिन्तन की विश्व को देन है । व्यक्ति जन्म लेता है समाज द्वारा उसे शिक्षित और संस्कारित किया जाता है धीरे-धीरे व्यक्ति गुणवान बनता है । व्यक्ति अपने अन्दर सुप्त श्रेष्ठताओं के विकास का अवसर पाता है । समाज उसकी देखभाल करता है । व्यक्ति को बुद्धिमान, धैर्यवान पराक्रमी शक्तिवान और धनवान बनाने का काम समाज ही करता है । इस प्रकार समाज में सब कुछ पाकर जब व्यक्ति सक्षम हो जाता है तो वह स्वयं कर्म करता है किन्तु जिस प्रकार वृक्ष स्वयं फल नहीं खाता व्यक्ति भी अपने सत्कर्म समाज को समर्पित करता है ..... व्यक्ति अपने गुण और शक्ति का उपयोग समाज के लिए करता है । जब व्यक्ति समाज को अधिकाधिक समर्पित करता है तब समाज भी व्यक्ति के योगक्षेम की चिन्ता करता है । वैसे व्यक्ति अपने गुणों और शक्ति से समाज की दो चार आवश्यकताओं की ही पूर्ति कर पाता है किन्तु समाज उसके बदले में उसे कई चीजें लौटाता है शिक्षा, वस्तु, मकान, सुरक्षा ।"[1]

---

1. राष्ट्र जीवन की दिशा
   व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध — पृष्ठ - 116
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

पण्ड़ित जी का मानना है कि हमारा नाम तक हमें समाज से ही प्राप्त होता है

> "मेरा नाम दीनदयाल है ...... इसी से लोग मुझे पहिचानते हैं । मेरा प्रत्येक कार्य इसी नाम से समझा जाता है । ..... किन्तु यह नाम भी मुझे क्यों मिला कि दीनदयाल के बदले मेरा नाम मिस्टर जॉन क्यों नहीं रखा गया ? .... रूसी चीनी, ईसाई, तुर्की, अरबी, आदि नामों में से कोई क्यों नहीं रखा ? साफ है कि जिस समाज का मैं अंग हूँ उसके अनुरूप नामाभिधान हुआ ।"[1]

पण्ड़ित जी का यह भी कहना है कि भाषा, शिक्षा, नाम, वस्तु, मकान, सुरक्षा आदि के अलावा अनुभूतियां तक हमें समाज द्वारा प्राप्त होती है -

> "जन्म के लिए मेरा सम्बन्ध पूज्य माता-पिता से है किन्तु जिस दिन मेरा नामकरण संस्कार हुआ उस दिन मैं समाज का अंग बन गया । मेरी बोलने की शक्ति विकसित हुई तो भाषा भी मुझे समाज से मिली । मातृभाषा प्राप्त हुई, बड़े हुए तो सभ्य बने । इसका सम्बन्ध भी समाज से है । यानि समाज ने शिक्षा देकर बड़ा किया जितने सुख-दुःख के अवसर आए सब में समाज उपस्थित हुआ यहां तक कि सुख-दुःख की अनुभूतियां भी समाज ने दी ।"[2]

समाज से अपेक्षा की जाती है कि वह बालक के मानसिक विकास का पूरा-पूरा अवसर दे समाज को ऐसे वातावरण का सृजन करना चाहिए जिसके द्वारा बालक का सर्वांगीण विकास सम्भव हो सके और बड़ा होने पर वह देश की विषम से विषम समस्याओं का हल करने के योग्य बन सके ।

पण्ड़ित दीनदयाल जी उपाध्याय ने 'शिक्षा' को पूर्णरूपेण समाज का दायित्व माना है तथा उसके लिए शुल्क लेने की आलोचना करते हुए कहा है कि -

"बच्चे को शिक्षा देना समाज के अपने हित हैं । समाज से मानव पशुवत् पैदा

---

1. राष्ट्र जीवन की दिशा 'मैं और हम' पृष्ठ - 24
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

2. तथैव पृष्ठ - 24

होता है शिक्षा और संस्कार से वह समाज का अभिन्न घटक बनता है । जो काम समाज के अपने हित में हो उसके लिए शुल्क किया जाए यह तो उल्टी बात है । कल्पना करें कि कल शिक्षा शुल्क का बहिष्कार करके अथवा उसे देने में असमर्थ होने के कारण बच्चे पढ़ना बन्द कर दें । क्या समाज इस स्थिति को सहन करेगा ? पेड़ लगाने और सींचने के लिए हम पेड से पैसा नहीं लेते हम तो अपनी ओर से पूंजी लगाते हैं और जानते हैं कि पेड़ के फलने पर हमें फल मिलेंगे ही । शिक्षा भी इसी प्रकार का विनियोजन है व्यक्ति शिक्षित होने पर समाज के लिए काम करेगा ही ।"[1]

---

1. राष्ट्र जीवन के अनुकूल अर्थरचना
शिक्षा समाज का दायित्व
एकात्म मानव दर्शन पृष्ठ - 63-64
पण्डित दीनदयाल उपाध्याय

3- धार्मिक संगठन

"शिक्षा आयोग 1964-66 ने गिरते हुए धार्मिक स्तर के प्रति गहरी चिन्ता व्यक्त की और नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा के लिए संगठित प्रयत्नों की आवश्यकता बताया । नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा के विषय में आयोग ने सुझाव दिया कि विद्यालयी स्तर की पाठ्यचर्या में विश्व के सभी धर्मों को उचित स्थान दिया जाये । सत्य, प्रेम, दया, सहानुभूति, ईमानदारी आदि नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा दी जाए; उनको विद्यालयी कार्यक्रम का अंग बनाया जाए; विद्वानों से राष्ट्रीय स्तर पर पुस्तके तैयार करायी जायें जिनमें धार्मिक कहानियों एवं महापुरुषों की जीवनियों से सम्बन्धित पाठ हो और उनके माध्यम से धर्म के मूल तत्वों की शिक्षा दी जाए तथा आध्यात्मिक मूल्यों से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार विमर्श हो । विश्वविद्यालयी स्तर पर विद्यार्थियों को समानता धर्म निरपेक्षता, सामाजिक, न्याय आदि बातों से परिचित कराया जाय और इनकी शिक्षा दी जाए । .... इसके लिए उच्च कोटि के धर्माचार्यों से उच्चस्तरीय धार्मिक साहित्य तैयार कराया जाए ।"[1]

धर्म सदा से सद्गुणों का स्रोत रहा है उसमें चारित्रिक गुणों को उच्च स्थान दिया जाता है एक धार्मिक व्यक्ति से उच्च चरित्र की अपेक्षा करते हैं अतएव यदि शिक्षा के चरित्र निर्माण का उद्देश्य महत्व रखता है तो धर्म का स्थान भी अनिवार्यतः सुरक्षित रखना होगा । चारित्रिक पतन का मुख्य कारण यह भी है कि लोगों का धर्म से विश्वास उठता जा रहा है ।

महात्मा गांधी, राधाकृष्णन, मदन मोहन मालवीय, स्वामी विवेकानन्द, श्री राम शर्मा आचार्य जैसे लोगों ने शिक्षा में धर्म के स्थान को आवश्यक बताया है और उसको उच्च स्थान दिलाने के पक्ष में वकालत भी की है । इसके विपरीत ऐसे लोगों की संख्या भी कम नहीं है जिनका कहना है -

---

1. शिक्षा और धर्म 'धर्म की शिक्षा के सम्बन्ध में विभिन्न समितियों एवं आयोगों के सुझाव'
डा. सुबोध अग्रवाल एवं कन्हैया लाल अग्रवाल पृष्ठ - 262

"विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा से अनेक कठिनाइयां एवं हानियां हैं । व्यवहारिक कठिनाई तो यही है कि प्रायः हर विद्यालय में अनेक धर्मावलम्वी बालक शिक्षा पाते हैं प्रश्न है कि उन्हें किस धर्म की शिक्षा दी जाए । इस शिक्षा का रूप तथा इसकी विधि क्या होनी चाहिए ।"[1]

लेकिन ऐसे आलोचक शायद यह भूल जाते हैं कि

"धर्म का सम्बन्ध मुख्य रूप से राष्ट्रीयता व मानवता से है । यह वैज्ञानिकता विवेक व व्यापक जन कल्याण पर आधारित है इसमें किसी एक आचार्य या किसी एक पुस्तक पर अन्ध आस्था रखने का कोई विधान नहीं है । इसमें राष्ट्र धर्म व समाज धर्म अलग-अलग राष्ट्रों व समाजों में उनकी भिन्न आवश्यकताओं के अनुसार बदल सकते हैं इसमें आस्था है लेकिन रूढ़िवाद नहीं । यह ईश्वर की व्यवस्था पर नहीं । एक देश व एक समाज में स्वीकृत धर्म सबके लिए अनुपालनीय होता है ।"[2]

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट है कि बालक के जीवन में चारित्रिक गुणों के विकास के लिए धर्म की प्रधानता होनी चाहिए धर्म व्यक्ति को अच्छाई की ओर ले जाता है, बुराई से बचाता है लेकिन विद्यालयों में धार्मिक शिक्षा लागू करने की अनेकों व्यवहारिक कठिनाइयों के चलते धर्म संस्थाओं को इस दिशा में थोडा बहुत ध्यान देना चाहिए । इसी बात को ध्यान में रखकर पण्ड़ित दीनदयाल जी ने 'धार्मिक संगठन' को शिक्षा के अभिकरण के रूप में स्वीकार किया है तथा अपनी पुस्तक 'राष्ट्र चिन्तन' के शिक्षा नामक अध्याय - 14 में लिखा है -

"शालेय शिक्षा अकेली ही मनुष्य का निर्माण नहीं करती संस्कार और अध्यापन का बहुत सा ऐसा क्षेत्र है जो शालेय क्षेत्र के बाहर है ।"[3]

हमारा देश धर्म प्रधान देश है यहां अनेकानेक महापुरुषों ने 'धार्मिक संगठनों' की स्थापना करके मानव कल्याण की शिक्षा प्रसारित करने का महान कार्य किया ।

---

1. तथैव — पृष्ठ - 259
2. धर्मदर्शन 'धर्म' और रिलीजन' का अन्तर
   डा. धर्मस अमर उजाला - 20 जनवरी 1996 — पृष्ठ - 4
3. राष्ट्र चिन्तन शिक्षा अध्याय - 14
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय — पृष्ठ - 100

"इस सन्दर्भ में यह भी समझ लेना चाहिए कि इस देश के महापुरुष जब धर्म संस्थापना की बात करते हैं तो उनका आशय समाज या मानव धर्म से ही होता है । रिलीजन या किसी विशेष विश्वास या मत से नहीं । गीता में कृष्ण जब कहते हैं कि 'धर्म संस्थापनार्याय संभवामि युगे युगे' धर्म की स्थापना के लिए मैं युग युग में अवतार लेता हूँ तो वह न्याय पर आधारित समाज धर्म, राष्ट्र धर्म व मानव धर्म की बात करते हैं ।" ।

'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ' हमारे देश का ऐसा ही विशाल संगठन है जिसमें रहकर व्यक्ति चतुष्मुखी शिक्षा प्राप्त करता हुआ विशेषकर चारित्रिक विकास करता हुआ अपने राष्ट्र को परम वैभव तक पंहुचाने का संकल्प लेता है । राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ में जाने वाला प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर से यह प्रार्थना करता है कि हे प्रभो -

"विजेत्रीचनः संहता कार्य शक्ति ?
विधायास्य धर्मस्य संरक्षणम् ।।
परं वैभवं नेतु मेतत् स्वराष्ट्रं
समर्था भवत्वा शिषा ते भृशम् ।।[2]

तेरे आशीर्वाद से हमारी विजय शालिनी संगठित कार्य शक्ति स्वधर्म का संरक्षण कर अपने इस राष्ट्र को परम् वैभव की स्थिति पर ले जाने में अतीव समर्थ हो ।

युग निर्माण योजना एवं राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ जैसे धार्मिक संगठन युग की मांग के अनुसार प्रतिभा परिष्कार का पुण्य कार्य अनवरत रूप से कर रहे हैं तथा राष्ट्र के सर्वांगीण विकास हेतु कटिबद्ध है । पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की ओर इंगित करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है -

"इस सर्वव्यापी विशाल व्यापक और सम्पूर्ण रचना के मूलाधार धर्म का संरक्षण करते हुए परम् वैभव की ओर बढ़ा जा सकता है । इसके संरक्षण के लिए महान

---

1. धर्मदर्शन
धर्म और रिलीजन में अन्तर
डा. धर्मस अमर उजाला 20 जनवरी 1996 पृष्ठ - 4

2. एमात्मा स्तोत्रम
प्रार्थना
पृष्ठ - 22

शक्ति की आवश्यकता है इसीलिए राष्ट्र की संगठित कार्यशक्ति की भी कामना की गयी है । यही वह एक मेव मार्ग है जिससे राष्ट्र की सर्वांगीण प्रगति संभव है ।"[1]

4- राज्य शिक्षा का अभिकरण

परिवार विद्यालय तथा समाज की तरह राज्य भी व्यक्तियों को शिक्षित करता है इन्हीं की भांति यह भी शिक्षा का एक साधन है । अनौपचारिक अभिकरण के रूप में राज्य के अनेक शैक्षिक कृत्य हैं ।

देश के अनुकूल शिक्षा योजना का निर्माण एवं संचालन राज्य का पहला कर्तव्य है। राज्य द्वारा ही सभी नागरिकों के हित में राष्ट्रीय शिक्षा योजना की व्यवस्था की जा सकती है । प्रत्येक नागरिक के सर्वांगीण विकास के लिए राज्य का उत्तरदायित्व बहुत अधिक महत्वपूर्ण है। परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विद्यालय स्थापित किये जाते हैं और विद्यालय को प्रभावशाली बनाना समाज का कर्तव्य है किन्तु यदि इन सभी शिक्षा संस्थाओं परिवार विद्यालय समाज द्वारा सुचारू रूप से कार्य नहीं हो पाता तो बालक के हित में उनकी सारी कमियों को पूरा करना राज्य का प्रधान कृत्य है ।

मैथ्यू अर्नाल्ड, एडमण्ड वर्क रस्किन आदि विद्वानों का मत है कि -

"शिक्षा में राज्य का हस्तक्षेप होना चाहिए ।"

वे राज्य के अधिकारों को सर्वोपरि मानते हैं और शिक्षा को इसके नियन्त्रण में रखने के पक्ष में हैं । नैपोलियन कहता था -

> "शिक्षा की व्यवस्था से मेरा अभिप्राय यह है कि मेरे हाथ में एक ऐसा साधन हो जिससे मैं राजनीतिक तथा नैतिक मामलों में लोगों के विचारों पर पूरा प्रभाव डाल सकूं ।"[1]

रूसी विचारक पिंकेविच का कहना है कि -

> "सार्वजनिक शिक्षा जिसका उद्‌देश्य भावी नागरिकों का सुधार करना है, एक ऐसा सशक्त यन्त्र है जो राज्य दूसरों को नहीं दे सकता ।"[2]

---

1. शिक्षा के अभिकरण शिक्षा के सिद्धान्त पृष्ठ - 80 डा. सुबोध अदावाल, कन्हैयालाल अग्रवाल
2. तथैव

पण्ड़ित दीनदयाल जी का कहना है कि -

> "समाज में आयी हुई विकृति का नियमन करने के लिए विकृति व्यक्तियों को दण्ड़ित करना याने शान्ति स्थापित करना और समाज में आयी हुई जटिलता को सुलझाकर प्रत्येक व्यक्ति के लिए न्यायपूर्ण सम्मानित जीवन सुकर बनाना याने सुव्यवस्था करना राज्य के कार्य माने गए हैं ।"[1]

भारत में शिक्षा राज्य का विषय है तथा राष्ट्रीय महत्व का विषय भी है । इस कारण शिक्षा केन्द्र और राज्यों की साझेदारी है इसका सम्पर्क प्रत्येक घर और अभिभावक से है । इसे जनसाधारण के अधिकाधिक निकट सम्पर्क में रखना आवश्यक है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सब व्यक्तियों की शिक्षा की जिम्मेदारी राज्य के सबसे पहली जिम्मेदारी है और इस जिम्मेदारी को ठीक से न निर्वाह करने के कारण ही हमारा पतन हो रहा है इस सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द ने कहा था -

> "मेरे विचार से जनसाधारण की शिक्षा की अवहेलना महान राष्ट्रीय पाप है और हमारे पतन के कारणों में से एक है । सब राजनीति उस समय तक फेल रहेगी जब तक कि भारत में जन साधारण को एक बार फिर भली प्रकार शिक्षित नहीं कर लिया जायेगा ।"[2]

पण्ड़ित जी तो राज्य के द्वारा निःशुल्क शिक्षा व्यवस्था के हामी थे इसीलिए उन्होंने कहा है कि -

> "भारत में 1947 से पूर्व सभी देशी राज्यों में कहीं भी शिक्षा के लिए शुल्क नहीं लिया जाता था ।"[3]

इसके उदाहरण हैं बडौदा नरेश महाराज सयाजीराव गायकवाड़ ।

"उन्होंने 1905 में एक अधिनियम बनाकर अपने राज्य के सब बालकों एवं

---

1. 'राष्ट्र और राज्य' राष्ट्र जीवन की दिशा पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ - 46
2. भारतीय शिक्षा और उसकी समस्यायें प्राथमिक शिक्षा पृष्ठ - 342 पी.डी. पाठक
3. राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल अर्थरचना एकात्म मानवदर्शन; 'शिक्षा समाज का दायित्व' पृष्ठ - 64 पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

बालिकाओं के लिए प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क एवं अनिवार्य बना दिया ।"[1]

स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद भारत ने भी बालक बालिकाओं के निःशुल्क शिक्षा प्रदान करने के अपने उत्तरदायित्व को स्वीकार किया तथा संविधान सभा ने अग्रांकित शब्दों में निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा को राज्य का एक नीतिनिर्देशक सिद्धान्त घोषित किया -

"राज्य इस संविधान के कार्यान्वित किए जाने के समय से दस वर्ष के अन्दर सब बच्चों के लिए जब तक वे चौदह वर्ष की आयु पूर्ण नहीं कर लेंगे, निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने की चेष्टा करेगा ।"[2]

इसीलिए शिक्षा को जीवनोपयोगी बनाने एवं उसमें अनुकूलता लाने के लिए राज्य के द्वारा समय-समय पर अनेक आयोग एवं समितियों का गठन किया गया ।

ताराचन्द्र समिति 1948, राधाकृष्णन कमीशन (विश्वविद्यालय आयोग) 1948-49, मुदालियर आयोग (माध्यमिक शिक्षा आयोग) 1952-53 कोठारी आयोग 1964-66, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 ने शिक्षा को वर्तमान स्थिति तक पंहुचाने में सराहनीय योगदान किया है ।

वस्तुतः राज्य समाज का सोद्देश्य संगठन है जो जनहिताय होता है राज्य समाज के कार्यों को व्यवस्थित करता है उनमें समन्वय स्थापित करता है । राज्य को शिक्षा के लिए उत्तरदायी मानते हुए पण्ड़ित दीनदयाल जी ने कहा है -

"प्रजा को शिक्षा की उपेक्षा न करने देना शिक्षा सम्बन्धी कार्यों में उनकी सहायता करना प्रत्येक स्थान पर विद्वान गुरूओं का प्राचुर्य रखना, देशकाल निमित्तों को शिक्षा के अनुकूल रखना स्थान स्थान पर शिक्षाश्रमों की व्यवस्था करना सर्वतः उनके उत्साह को बढ़ाए रखना राज्य के परम्परागत कर्तव्य हैं ।"[3]

---

1. अनिवार्य शिक्षा के लिए प्रारम्भिक प्रयास,
   भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएं — पृष्ठ - 347

2. तथैव — पृष्ठ - 352

3. भारतीय जनसंघ सिद्धान्त और नीति
   भारतीय जनसंघ प्रकाशन — पृष्ठ - 20

5- शिक्षा का औपचारिक अभिकरण
विद्यालय

वर्तमान समय में समाज की विभिन्न जटिल समस्याओं को सुलझाने के लिए घर या परिवार की शिक्षा पर्याप्त नहीं है । नये नये ज्ञान एवं तकनीकी की जानकारी के लिए विद्यालयों की अत्यन्त आवश्यकता अनुभव की जाती है बालक को विशेषज्ञों के हाथ में दिये बिना उसकी पर्याप्त की कल्पना करना उचित नहीं है । विद्यालय जाने से साधारण परिवार के बच्चों को अपने घर के सीमित वातावरण से दूर व्यवस्थित एवं परिष्कृत वातावरण में रहने का अवसर प्राप्त हो जाता है । इस समय विद्यालय शिक्षा में एक मात्र सर्वमान्य औपचारिक अभिकरण के रूप में स्थापित हुआ है ।

कोई कोई माता-पिता दिन भर नौकरी या अन्यकार्य में लगे रहते हैं उन्हें बच्चों की देखभाल का समय तक नहीं मिलता ऐसे बालक विद्यालय के परिष्कृत वातावरण में ही पलकर सही मार्ग में लग सकते हैं यही विद्यालय की व्यवहारिक उपयोगिता है । वस्तुतः समाज की आवश्यकताओंकी पूर्ति तथा राष्ट्रीय उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विद्यालय की स्थापना की जाती है । विद्यालय समाज का लघु रूप होता है ।

> "विद्यालय बड़े समाज के अन्तर्गत एक छोटा समाज होता है उसमें समाज की विशेषताएं सीमित आकार में प्रतिबिंबित होती है ।"

कुछ विद्वान विद्यालय को समाज का निर्माता मानते हैं । जबकि समाज विद्यालय की स्थापना करता है उसे जन्म देता है । लेकिन विद्यालय पढ़े लिखे लोग उत्पन्न करता है जो समाज का नेतृत्व करते हैं तथा उन्नतिशील एवं समृद्धिशाली बनाते हैं । अतः विद्यालयों के दायित्व बढ़ रहे हैं उसके कार्यों का विशिष्टीकरण हो रहा है । सरकारी एवं गैर सरकारी संस्थानों में सेवारत महिलाएं अपने नन्हें शिशुओं को शिशु सदनों में दिन भर के लिए छोड़ आती है । आज परिवार एवं अनौपचारिक संस्थाओं के कार्यों को भी विद्यालय ने स्वीकार कर लिया है । इस सन्दर्भ में कोठारी कमीशन ने लिखा भी है कि -

---

1. शिक्षा के सिद्धान्त
   शिक्षा के अभिकरण 'विद्यालय' पृष्ठ - 48
   डा. सुबोध अदावाल, कन्हैयालाल अग्रवाल

"भारत के भाग्य का निर्माण इस समय उसकी कक्षाओं में हो रहा है ।"[1]

हमारे स्कूलों और कालेजों से निकलने वाले विद्यार्थियों की योग्यता और संख्या पर ही राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की सफलता निर्भर है ।

विद्यालय में पढ़ने वाले विद्यार्थी भावी राष्ट्र के निर्माता है और विद्यालय में वे भावी सामाजिक जीवन की तैयारी में लगे रहते हैं इसलिए विद्यालय समाज के अनुरूप ही होना चाहिए यदि विद्यालय किसी भी प्रकार से समाज के वातावरण से भिन्न है तो उस विद्यालय से निकला हुआ विद्यार्थी समाज के वातावरण से समायोजन नहीं बैठा पाता । हमारे देश के बहुत से उच्चवर्ग के बालक जो पब्लिक स्कूलों में शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करते हैं भारतीय समाज में अपने आपको ठीक से समायोजित नहीं कर पाते ।

उपरोक्त अध्ययन से यह बात स्पष्ट है कि विद्यालय शिक्षा का ऐसा अभिकरण है जो गैर स्थानापन्न है । विद्यालय के द्वारा ही बालक का सर्वांगीण विकास सम्भव है ऐसा कोई दूसरा अभिकरण अभी शिक्षा के लिए नहीं खोजा जा सका जो बच्चे के स्वास्थ्य और शारीरिक विकास, बौद्धिक तथा मानसिक विकास, चारित्रिक विकास, आध्यात्मिक विकास, सौन्दर्यानुभूति के गुणों का विकास राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का विकास और व्यवसायिक गुणों का विकास एक साथ कर सकें । अतः बालक के सर्वांगीण विकास के साथ-साथ विद्यालय में होने वाली शिक्षणेत्तर क्रियाओं एवं परीक्षाओं के द्वारा समय-समय पर उसकी क्षमताओं का मापन भी होता रहता है । इन्हीं क्षमताओं के आधार पर ही उसको सरकारी एवं गैर सरकारी संस्थानों में सेवा करने का अवसर प्राप्त होता है जिससे वह अपने पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन का स्तर ऊंचा उठाता है और राष्ट्र की प्रगति में योगदान करता है । विद्यालय की अतुलनीय महत्ता को स्वीकार करते हुए दीनदयाल जी विद्यालय को निजी सम्पत्ति एवं सरकारी सम्पत्ति बनाये जाने के विरूद्ध है । उन्होंने शैक्षिक स्वायत्तता के पक्ष में लिखा है -

'शिक्षा का व्यय राज्य द्वारा होने के उपरान्त भी उसका सरकारीकरण नहीं होना चाहिए । प्रत्येक क्षेत्र में शिक्षा संस्थाओं का प्रबन्ध करने के लिए शिक्षकों तथा

---

1. शिक्षा के सिद्धान्त,
शिक्षा के अभिकरण 'विद्यालय'
पृष्ठ - 49
डा. सुबोध अदावाल, कन्हैया लाल अग्रवाल

शिक्षाविदों के स्वतन्त्र निकाय होने चाहिए । सरकार के विभाग के रूप में उनका चलना ठीक नहीं है । सरकारी और गैर सरकारी शिक्षा संस्थाओं का भेद समाप्त कर देना चाहिए । सभी क्षेत्रों में शिक्षकों के वेतनक्रम व अन्य सुविधाएं ऐसी हों जिससे योग्य व्यक्ति शिक्षा क्षेत्र में आने में संकोच न करे । शिक्षा संस्थाओं को मैनेजरों अथवा प्रबन्ध समिति की निजी सम्पत्ति बनने देना उचित नहीं है ।"[1]

डा. महेश चन्द्र शर्मा ने स्वतन्त्रता के दुरुपयोग से विद्यालयों को बचाने का सुझाव देते हुए कहा है -

"स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कर निजी सम्पत्ति बनाने की प्रवृत्ति की ओर से भी सावधान रहना आवश्यक है । अतः स्वायत्तता का तात्पर्य शिक्षा की दुकानदारी न होकर संविधानतः सुपरिभाषित स्वायत्त राष्ट्रीय निकाय के अधीन शिक्षा व्यवस्था का होना है ।"[2]

इसी प्रकार उपाध्याय जी शिक्षा के दोहरे ढ़ांचे के विरूद्ध है पब्लिक स्कूल व सरकारी तथा निजी विद्यालय व्यवस्था की वे निन्दा करते हैं तथा पब्लिक स्कूलों को उन्होंने "राष्ट्रीयता नाशक"[3] बताया है ।

"शिक्षा समाज में भेद निर्माण करने वाली न होकर एकात्म भाव निर्माण करने वाली हो भारत के पब्लिक स्कूल इस उद्देश्य के प्रतिकूल है आवश्यकता है सभी शिक्षण संस्थाओं का स्तर ऊंचा उठाया जाए ।"[4]

समाज व राज्य संस्था के द्वारा शिक्षा की योग्य व्यवस्था तो की जानी चाहिए साथ ही साथ बाहरी ताकतें शिक्षा के माध्यम से हमारे समाज को अस्वस्थ न कर सकें । इसका भी ध्यान रखा जाना चाहिए । पण्ड़ित दीनदयाल जी उपाध्याय ईसाई मिशनरियों के द्वारा संचालित शिक्षा संस्थाओं को राष्ट्र और समाज के लिए घातक माना है तथा उन्होंने अपने एक भाषण में कहा है -

---

1. भारतीय जनसंघ, सिद्धान्त और नीति
   भारतीय जनसंघ प्रकाशन दिल्ली - पृष्ठ - 20
2. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय कर्तत्व एवं विचार
   सामाजिक सक्रियता एवं विचार - 'शिक्षा' पृष्ठ - 309
   डा. महेश चन्द्र शर्मा
3. तथैव पृष्ठ - 21।

"भारत में बहुत सी शिक्षा संस्थाएं ईसाई मिशनों के द्वारा चलाई जा रही हैं .... बहुधा ईसाई धर्म प्रचारकों द्वारा चलाई गयी शिक्षा संस्थाओं एवं शिक्षा क्षेत्र में उनके द्वारा किये गये प्रयत्नों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की जाती है । इतना ही नहीं आज के अनेक पढ़े-लिखे व्यक्ति तथा देशभक्त कहे जाने वाले भारतीय संस्कृति के प्रेमी भी अपने बच्चों को शिक्षा के लिए ईसाई स्कूलों में भेजते हैं । .....किसी भी बाहरी शक्ति का हस्तक्षेप देश की आन्तरिक स्थिति एवं उसकी आधारभूत संस्थाओं में अनुचित माना जाता है । हम अपनी राजनीति पर किसी का हस्तक्षेप एवं प्रभाव सहन नहीं कर सकते । आर्थिक क्षेत्र में भी बाहरी सहायता व पूंजी .... भय का कारण बन जाती है .... शिक्षा क्षेत्र में विदेशियों को अधिकार देना कहां तक उचित है ? अपरिपक्व मस्तिष्क पर विदेशी शक्तियों को प्रभाव डालने की अनुमति देना जड़ को काटने की स्वतन्त्रता देना ही है ।"[1]

---

1. विचार वीथी
   मिशनरी और शिक्षा संस्थाएं
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
   पृष्ठ - 4
   पाञ्चजन्य 24 अक्टूबर 1955

समीक्षात्मक विचार

सामाजिक परिवर्तन भौतिक एवं आध्यात्मिक उन्नति तथा व्यष्टि और समष्टि को जोड़ने का मुख्य यन्त्र शिक्षा है वह चाहे जहां से और जैसे प्राप्त हो । जहां से और जैसे का अर्थ किसी भी राष्ट्रीय अभिकरण के द्वारा प्राप्त शिक्षा । जैसे दीनदयाल जी की मान्यता है कि -

"शिक्षा के व्यापक अर्थों में समाज का प्रत्येक घटक ही शिक्षण है ।"[1]

शिक्षा आयोग 1964-66 के शब्दों में -

"यदि बिना किसी हिंसात्मक क्रान्ति के बड़े पैमाने पर सामाजिक परिवर्तन करना है तो केवल एक ही साधन है जिसका प्रयोग किया जा सकता है वह है शिक्षा ।"

इसीलिए शिक्षा को व्यक्ति-व्यक्ति तक पंहुचाने के लिए श्रेष्ठतम माध्यमों को विकसित किया जाना चाहिए । पण्ड़ित दीनदयाल जी ने भी विभिन्न उपायों के द्वारा शिक्षा प्रसार की वकालत की है । घर परिवार से लेकर समाज और विद्यालय तथा राज्य को शिक्षा के अभिकरण के रूप में निरूपित करते हुए कहा है -

"एक के बाद एक मानव जब दूसरों को जो प्रायः उनके बाद जन्मे हों विभिन्न क्षेत्रों के अपने सम्पूर्ण अनुभव को अथवा उसमें सारभूत अंश को विभिन्न उपायों द्वारा प्रदान या संसर्गित करता है तो इस प्रक्रिया में एक निरन्तर गतिमान मानव समूह की सृष्टि होती है ।"[2]

उपरोक्त विचारों में कि "समाज का प्रत्येक घटक ही शिक्षक है," की समीक्षा करने पर इस निष्कर्ष पर पंहुचा जा सकता है कि घर परिवार समाज और विद्यालय तथा राज्य आदि शैक्षिक अभिकरणों को 'सामाजिक घटक' के रूप में माना है । अनुभव को 'विभिन्न उपायों' द्वारा प्रदान करने का अर्थ है अन्योन्य अभिकरणों द्वारा शिक्षा देना जैसे पत्र-पत्रिकाएं, चल चित्र, टेलीविजन, रेडियो, नाटक, क्लब, खेल का मैदान, समाज कल्याण केन्द्र, युवा केन्द्र, स्वैच्छिक संगठन आदि वर्तमान समय में शिक्षा के सशक्त अभिकरण हैं ।

डा. महेश चन्द्र शर्मा ने अपनी पुस्तक दीनदयाल उपाध्याय कर्तृत्व एवं विचार में

---

1. राष्ट्रचिन्तन, शिक्षा अध्याय - 14 पृष्ठ - 98
   दीनदयाल उपाध्याय

2. तथैव पृष्ठ - 94

लिखा है कि -

"उपाध्याय जी का यह मत है कि औपचारिक अध्यापन का कार्य-क्षेत्र भी अब शाला तक सीमित नहीं रह गया है इस औपचारिक शिक्षण में अब रेडियो, सिनेमा व समाचार पत्रों आदि की भी भूमिका है । प्राचीन काल में कथा और कीर्तन को भी समाज की औपचारिक शिक्षा का भाग माना जाता था । आज भी जब हम 'शिक्षा' पर विचार करते हैं तो इन सब माध्यमों के द्वारा शिक्षा को सर्वांगतः नियोजित करने का विचार करना चाहिए ।"[1]

---

1. पण्डित दीनदयाल उपाध्याय
   कर्त्तव्य एवं विचार — पृष्ठ - 312
   डा. महेश चन्द्र शर्मा

(ङ) **शैक्षिक प्रशासन एवं संगठन** -

पण्ड़ित दीनदयाल जी ने शिक्षा को समाज परिवर्तन का सबसे सशक्त माध्यम स्वीकार करते हुए उसे समाज की जननी के रूप में निरूपित किया है । समाज के समस्त पुरुषार्थों को प्राप्त करने का एकमेव माध्यम शिक्षा ही है ऐसा मानकर ही उन्होंने 'शिक्षा' विषय पर बहुत अधिक मात्रा में अपने विचार प्रस्तुत किए हैं । राजनीतिक एवं आर्थिक कारणों से शिक्षा की उपेक्षा को पण्ड़ित जी ने हेय करार किया है । उनका मानना था कि शिक्षा के द्वारा प्रदत्त 'सामर्थ्य' समाज का भली भांति मार्गदर्शन् करता है । अतः उन्होंने शिक्षा के निम्नलिखित प्रशासन एवं संगठन का समर्थन किया है ।

(क) **प्राथमिक शिक्षा** -

प्राथमिक शिक्षा के द्वारा बालक के अन्दर निहित देवी शक्तियों का प्रकटीकरण होना चाहिए । यह संस्कारों के द्वारा ही सम्भव है । संस्कार वे अच्छाइयां हैं जो बालक अपने सामाजिक परिवेश एवं वातावरण के प्रभाव से ग्रहण करता है । यही अच्छाइयां बालक के स्वभाव का अंग बन जाती है । इसीलिए पण्ड़ित जी का कहना है कि प्राथमिक शिक्षा मातृभाषा में ही होना चाहिए । वे पब्लिक स्कलों के विरोधी हैं उन्होंने पब्लिक स्कूलों को 'राष्ट्रीयता नाशक'[1] प्रभाव छोड़ने वाले स्कूलों के नाते वर्णित किया है । उनके अनुसार शिक्षा समाज में भेद निर्माण करने वाली न होकर एकात्म भाव निर्माण करने वाली हो । भारत के 'पब्लिक स्कूल' इस उद्देश्य के प्रतिकूल है ।

प्राथमिक शिक्षा में किसी भी बाहरी शक्ति का हस्तक्षेप पण्ड़ित जी को स्वीकार नहीं है । बच्चों के कोमल मस्तिष्क में विदेशी शक्तियों का बुरा प्रभाव पड़ेगा जो राष्ट्रीयता के लिए घातक सिद्ध होगा । ऐसा उनका मानना था । पण्ड़ित जी के अनुसार प्राथमिक शिक्षा का पाठ्यक्रम निम्नतः होना चाहिए ।

1. प्राथमिक शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही होना चाहिए न कि विदेशी भाषा जैसे अंग्रेजी ।

---

1. पॉलिटिकल डायरी

स्वभाष और सुभाषा — पृष्ठ - 92

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

शिशु के घर के पास पडोस व समाज में उसके चारो ओर जो भाषा बोली जाती है इसी को आधार बनाना उपयुक्त होगा ।

2. नैतिकता व सदाचार का भाव जाग्रत करने योग्य व्यवस्था हो ।
3. देववाणी संस्कृत के प्रति अभिरूचि जगाने की व्यवस्था हो ।
4. बच्चों में क्रियाशीलता, सृजनशीलता विकसित करने हेतु सशक्त क्रियाकलाप ।
5. गीत कहानी आदि का चयन ऐसा हो जिनके द्वारा मातृभक्ति, पितृभक्ति, ईशभक्ति, राष्ट्रभक्ति के संस्कार बच्चों को प्राप्त हो सकें ।
6. कथा साहित्य के माध्यम से इतिहास धर्मग्रन्थ जीवनादर्शों से जोड़ने की व्यवस्था होनी चाहिए ।

(ख) माध्यमिक शिक्षा -

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय माध्यमिक शिक्षा के सरकारीकरण के विरूद्ध हैं वे माध्यमिक शिक्षा को सरकार के विभाग के रूप में स्वीकार नहीं करना चाहते । वहीं दूसरी ओर पण्ड़ित जी माध्यमिक शिक्षा को मैनेजरों और प्रबन्ध समिति की निजी सम्पत्ति बनाये जाने के भी विरूद्ध हैं । उनके अनुसार माध्यमिक शिक्षा की प्रबन्ध व्यवस्था शिक्षा विद्‌ों के हाथों में होनी चाहिए ।

माध्यमिक शिक्षा के सम्बन्ध में पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय राष्ट्रीय एकता परिषद की सिफारिशों के समर्थक हैं । तृतीय आम चुनाव के पूर्व राष्ट्रीय एकता परिषद ने यह सिफारिश की थी कि अहिन्दी भाषी विद्यार्थी मातृभाषा के साथ हिन्दी अनिवार्यतः पढ़े । एक विदेशी भाषा के ज्ञान के लिए अंग्रेजी को भी अनिवार्य बनाया जाय ।

तत्कालीन शिक्षा मन्त्री त्रिगुण सेन ने अंग्रेजी हिन्दी या प्रादेशिक भाषा सभी की अनिवार्यता समाप्त कर यह प्रस्ताव किया कि हिन्दी या अंग्रेजी में कोई भी एक भाषा पढ़ाई का माध्यम रहे । लेकिन पण्ड़ित जी इस द्वि भाषा सूत्र से सहमत नहीं थे । इसकी आलोचना करते हुए उन्होंने कहा कि -

"हिन्दी या अंग्रेजी में से स्वेच्छा से कोई एक भाषा पढ़ने की बात धोखा है क्योंकि जब तक राजकार्य में अंग्रेजी है विद्यार्थी अंग्रेजी ही पढ़ना चाहेंगे । आज स्कूलों में शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में छूट है किन्तु अंग्रेजी माध्यम के स्कूल तेजी से बढ़ रहे हैं । जब तक राजकाज में अंग्रेजी रहेगी, लोगों का झुकाव अंग्रेजी की ओर रहेगा । भारत में अंग्रेजी शिक्षा अंग्रेजी शासन में भारतीय नवयुवकों की सहायता प्राप्त करने के लिए प्रचलित की गयी थी इसलिए "यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि अंग्रेजी हटेगी तो हमारी राष्ट्रीय स्वाभिमान की भावना को सन्तुष्ट करने के लिए । इसलिए अंग्रेजी के गुणों और लोगों की रट लगाने से कोई लाभ नहीं है । हम अंग्रेजी शासन को नहीं रख सकते चाहे उससे जो लाभ रहे हों ।"

पण्ड़ित जी का कहना है कि राष्ट्रीय स्वाभिमान एवं राष्ट्रीय जीवन को दूषित होने से बचाने के लिए माध्यमिक स्तर पर "प्रत्येक विद्यार्थी को देश की कम से कम दो भाषाओं का ज्ञान तो आवश्यक है ही । यदि इसे बोझ माना भी जाए तो एक बड़े देश के वासी होने के नाते हमें यह बोझ उठाना ही होगा । इन दो भाषाओं में एक हिन्दी है ।"

आधुनिक प्रगति को देखते हुए हमें विज्ञान और तकनीकी का अध्ययन तो निश्चित रूप से कराना ही चाहिए । लेकिन उसके साथ राष्ट्रभक्ति की भावना का एवं सम्पूर्ण समर्पण के भाव का समावेश भी विद्यार्थी के अन्दर होना चाहिए । इसलिए पण्ड़ित दीनदयाल जी के शैक्षिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ऐसी शिक्षा प्रणाली का विकास किया जाना चाहिए जिसके द्वारा ऐसी युवा पीढ़ी का निर्माण हो सके जो हिन्दुत्व निष्ट एंव राष्ट्रभक्ति से ओत प्रोत हो । शारीरिक, प्राणिक, मानसिक, बौद्धिक एवं अध्यात्मिक दृष्टि से

---

1. पॉलिटिकल डायरी
   स्वभाषा और सुभाषा — पृष्ठ - 90
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
   सुरूचि प्रकाशन, नई दिल्ली
2. दीनदयाल उपाध्याय 'कर्तत्व एवं विचार' 'केशव कुञ्ज' 'शिक्षा का माध्यम मातृभाषा'
   डा. महेश चन्द्र शर्मा — पृष्ठ - 159

पूर्ण विकसित हो तथा जो जीवन की समस्त चुनौतियों का सामना कर सके । ऐसी शिक्षा जन साधारण के लिए सरल एवं सुलभ होनी चाहिए ।

पण्ड़ित जी के अनुसार,

"माध्यमिक शिक्षा के अध्यापकों का सार्वजनिक सम्मान हो तथा विधान परिषदों में अध्यापक प्रतिनिधियों को चयनित किया जाए ग्राम पंचायतों एवं जिला परिषदों में उनका प्रतिनिधित्व होना चाहिए ।"

(ग) विश्वविद्यालयीन शिक्षा -

हमारे देश में विश्वविद्यालयीन शिक्षा अंग्रेजों की ही देन है ऐसे कुप्रचार से उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद नवयुवक अपने आपको पाश्चात्य सभ्यता के ज्यादा निकट महसूस करता है और विशेषतः अंग्रेजियत का व्यवहार ज्यादा पसन्द करने लगता है ।

लेकिन ऐसा करते समय वह भूल जाता है कि हमारे यहां प्राचीन काल से उच्च शिक्षा की अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएं अस्तित्व में थी । नालन्दा विश्वविद्यालय, प्रयाग विश्वविद्यालय, तक्षशिला विश्वविद्यालय, विक्रम शिला विश्वविद्यालय आदि अनेक ऐसे उच्च शिक्षा के केन्द्र थे जिनके कारण से भारत विश्व में 'जगद्गुरू' के नाम से जाना जाता है ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा ।

उपरोक्त मोहवरण को दूर करने के लिए ही राष्ट्रीयता के प्रेरक पण्ड़ित दीन दयाल जी का मत है कि -

उच्च शिक्षा का पाठ्यक्रम अन्ततः हिन्दी में ही होना चाहिए । "जब तक उच्च शिक्षित लोग अंग्रेजी माध्यम से पढ़कर आते रहेंगे वे हिन्दी को स्वीकार नहीं करेंगे ।"[1]

---

1. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
कर्तत्व एवं विचार
शिक्षा का माध्यम मातृभाषा — पृष्ठ - 158
डा. महेश चन्द्र शर्मा

शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में स्वभाषा पर जोर देते हुए उन्होंने कहा है कि -

"भाषा केवल अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं वह स्वयं भी एक अभिव्यक्ति है । भाषा के एक-एक शब्द वाक्य रचना मुहावरे आदि के पीछे समाज जीवन की अनुभूतियां राष्ट्र की घटनाओं का इतिहास छिपा हुआ है ।"[1]

अंग्रेजी भाषा के दुष्परिणामों की ओर इंगित करते हुए उपाध्याय जी ने कहा है कि -

"आज शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेजी के प्रभुत्व एवं एकाधिकार ने हमें इन भाषाओं (विश्व की रूसी, फ्रेंच, जर्मन आदि अन्य भाषाओं) से भी दूर कर दिया है । फलतः आज हम दुनियां को अंग्रेजी भाषा भावी जगत के चश्में से देख रहे हैं अंग्रेजी हमको दुनियां के साथ जोड़ने वाली कड़ी नहीं बल्कि बहुत बड़े भाग से तोड़ने वाली सिद्ध हो रही है ।'[2]

इन्हीं सब कारणों को देखते हुए उपाध्याय जी ने पुरजोर आग्रह किया है कि कम से कम "विदेशों से व्यवहार करते समय निश्चित् रूप से हमें हिन्दी का ही उपयोग करना चाहिए हमें तो अपने स्वाभाविक राष्ट्रीय स्वाभिमान के कारण अंग्रेजी को इस क्षेत्र से विदा करना चाहिए ।"[3]

किसी भी राष्ट्र की उन्नति के लिए उच्च शिक्षा प्राप्त नवयुवकों की महती आवश्यकता होती है । प्रशासनिक क्षेत्र, तकनीकी क्षेत्र, औद्योगिक क्षेत्र में, सामरिक क्षेत्र एवं सुरक्षा क्षेत्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के लिए उच्च शिक्षा के महत्व को नकारा नहीं जा सकता है इसलिए हमें अपने कार्य व्यवहारों में राष्ट्रीयता का समावेश करने के लिए उच्चशिक्षा का भारतीयकरण करना होगा ।

---

1. तथैव
   स्वभाषा की अपरिहार्यता — पृष्ठ - 314
2. तथैव
3. तथैव
   भाषा नीति (हिन्दी) — पृष्ठ - 155

"यदि हमारे राष्ट्रीय जीवन का आयोजन और मार्गदर्शन अंग्रेजी में निहत आदर्शों के अनुसार होता है तो यह हमारी मानसिक दासता का चिन्ह है जितने शीघ्र हम इससे मुक्ति पा लें उतना ही अच्छा । इन आदर्शों का पालन और उन्नयन कर हम राष्ट्राभिमान नहीं पैदा कर सकते । हम पाश्चात्यों के मार्गों और पद्धतियों का अनुसरण कर केवल उनका मर्कटानुकरण कर सकते हैं अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं प्रकट कर सकते । जब तक अंग्रेजा चलती रहती है तब तक हम अपने सांस्कृतिक पुनरूद्धार की जीवनदायिनी मुक्त वायु में सांस नहीं ले सकते । आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान सीधे प्राप्त न कर सकने का जोखिम उठाकर भी हमें विदेशी भाषा के चंगुल से अपने आपको मुक्त कर लेना चाहिए। अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिम की नकल करके हम विश्व को जो कुछ दे सकते हैं उससे कई गुना अधिक मूल्यवान योगदान हम अपनी भाषाओं के द्वारा दे सकते हैं ।"[1]

विश्वविद्यालय प्रशासन की दृष्टि से पण्ड़ित जी का मत है कि -
"कुलपति के पदों पर शिक्षाविदों को को ही नियुक्त किया जाए ।"[2]

उपाध्याय जी शिक्षक को शिक्षा की धुरी मानते हैं इसको स्वस्थ किये बिना कोई भी शिक्षा पद्धति समाज को अपेक्षित परिणाम नहीं देगी । अतः शिक्षा सुधार की प्रथम शर्त है शिक्षक सुधार, उसके लिए समाज सरकार व शिक्षक का सांझा उत्तरदायित्व है । इनमें से कोई भी अकेला यह कार्य नहीं कर सकता ।

---

1. पॉलिटिकल डायरी स्वभाषा और सुभाषा पृष्ठ - 91। पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
2. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय कर्तत्व एवं विचार 'शिक्षा' पृष्ठ - 312 डा. महेश चन्द्र शर्मा.

(घ) नौकरी तथा शिक्षा का माध्यम -

"1844 में लार्ड हार्डिग्ज ने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयों के लिए कमायी की नौकरियों के द्वार खोल दिये ।"[1]

फलस्वरूप अंग्रेजी के प्रति भारतीयों का आकर्षण बढ़ा और तब से लेकर आज तक लोगों के मस्तिष्क में एक ही बात घर किए हुए है कि अंग्रेजी पढ़ने से नौकरी, अनिवार्य रूप से प्राप्त हो जाती है या नौकरी प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी और अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्राप्त करना चाहिए । यही कारण है कि आजकल अंग्रेजी माध्यम के 'कान्वेन्ट स्कूलों" की भरमार हो गयी है ।

"लोग नई असुविधाओं के नाम पर स्वभाव में आ गई पुरानी असुविधा जो उनके अंग्रेजियत के संस्कार की हीनग्रन्थि को भी तुष्ट करनी है, से ही चिपटे रहना चाहते हैं ।"[2]

हम यह स्वीकार करते हैं अंग्रेजी विश्व की महत्वपूर्ण भाषा है अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के लिए उपयोगी भाषा है लेकिन शिक्षा में अंग्रेजी की अनिवार्यता को स्वीकार करने के लिए हम तैयार नहीं है । हमारे देश में सम्भवतः "यह धारणा है कि अंग्रेजी का अध्ययन न करने से भारत औद्योगिक या अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पीछे रह जाएगा । पर यह धारणा निराधार है । रूस, जर्मनी और जापान के उदाहरण हमारे सामने हैं जहां अंग्रेजी का गौण स्थान है फिर भी ये देश किसी दृष्टि से संसार के किसी भी देश से पीछे नहीं हैं ।"

महात्मा गांधी ने तो यहां तक कहा है कि -

"आज अंग्रेजी निःसन्देह रूप से विश्व की भाषा है । अतः मैं इसे विद्यालय के पाठ्यक्रम में नहीं वरन् विश्व विद्यालयों के पाठ्यक्रम में द्वितीय वैकल्पिक भाषा

---

1. भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएं
   माध्यमिक शिक्षा, पी.डी. पाठक — पृष्ठ - 379
2. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
   कर्तत्व एवं विचार, शिक्षा का माध्यम मातृभाषा — पृष्ठ - 160
   डा. महेश चन्द्र शर्मा
3. भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएं, माध्यमिक शिक्षा — पृष्ठ - 405
   पी.डी. पाठक

का स्थान दूंगा ।"[1]

स्वतन्त्रता के बाद राजकीय सेवाओं, शासन, प्रशासन, तकनीकी विज्ञान और उद्योग के क्षेत्र में प्रादेशिक भाषाओं तथा हिन्दी की अनिवार्यता पर बल दिया जाना चाहिए था लेकिन ऐसा नहीं हुआ । अंग्रेजी का उपयोग भारत की अटल नियति सा ही बन गया है । यह स्थिति पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय के लिए असह्य थी इसलिए उन्होंने प्रस्ताव रखा कि -

"न हिन्दी न अंग्रेजी केवल मातृभाषा में ही सम्पूर्ण शिक्षण हो ।"[2]

नौकरी तथा शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में उनका स्पष्ट मत है कि -

"राजसेवा की भर्ती की परीक्षा के लिए न तो अंग्रेजी, न हिन्दी को अनिवार्य किया जाए । जब सब पढ़ाई मातृभाषा के माध्यम से होने वाली है तो हिन्दी या अंग्रेजी में अलग प्रश्नपत्र की भी आवश्यकता नहीं । भर्ती के उपरान्त स्थाई होने के पूर्व इन भाषाओं में से किसी एक की परीक्षा पास करना आवश्यक होना चाहिए ।"[3]

पण्ड़ित जी का कहना है कि जब तक अंग्रेजी अस्तित्व में है तब तक कोई भी प्रादेशिक भाषाओं को जानने वाला व्यक्ति सरलतापूर्वक नौकरी नहीं प्राप्त कर पाएगा । विधान मण्डल या प्रशासन का काम जब तक अंग्रेजी में चलता रहेगा तब तक क्षेत्रीय भाषाओं के जानकार व्यक्तियों को नौकरी क्यों दी जाएगी । उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा है कि -

"मलयालम तब तक नहीं आ सकती जब तक कि अंग्रेजी हट नहीं जाती ।"[4]

अर्थात जब तक अंग्रेजी कायम रहती है तब तक कोई भी क्षेत्रीय भाषाएं पल्लवित नहीं हो सकती ।

इस बात को हम अच्छी तरह जानते हैं कि पण्ड़ित जी दूरगामी विचारक थे

---

1. भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएं
   माध्यमिक शिक्षा — पृष्ठ - 405
   पी.डी. पाठक
2. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
   कर्तत्व एवं विचार
   शिक्षा का माध्यम मातृभाषा — पृष्ठ - 160
   डा. महेश चन्द्र शर्मा
3. तथैव
4. पॉलिटिकल डायरी
   स्वभाषा और सुभाषा — पृष्ठ - 89
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

उनके जीवनकाल में तो उनकी उपरोक्त विचार धारा को सफलता नहीं मिल सकी लेकिन वर्तमान में उनका यह स्वप्न साकार हो रहा है । भारतीय लोक सेवा आयोग की स्पर्धी परीक्षाओं के लिए क्षेत्रीय भाषाओं को माध्यम के रूप में स्वीकार कर लिया गया है ।

(ड) **अर्थकारी शिक्षा की अवधारणा -**

सामान्यतः अर्थनीति के क्षेत्र में पण्ड़ित जी नकल को बुरा मानते थे उनका कहना था कि पश्चिमी अर्थशास्त्र विज्ञान का अधिकाधिक विचार कर मानव की केवल भौतिक समृद्धि बढ़ाने की दिशा में ही सोचता है । इसलिए वे पश्चिमी अर्थशास्त्र की आलोचना करते हुए कहते थे कि जिस अर्थशास्त्र को मानव के समग्र जीवन और उसके आर्थिक घटकों की भांति आर्थिकेत्तर घटकों के सम्बन्धों का मान न हो वह मानव को शाश्वत कल्याण की योग्य दिशा कदापि नहीं दे सकता । आज सम्पूर्ण विश्व भौतिक समृद्धि के साथ-साथ मानसिक सन्तोष भी प्राप्त करने के लिए लालायित है -

> "हमारी परम्परा और संस्कृति हमें बनाती है कि मनुष्य केवल भौतिक आवश्यकताओं और इच्छाओं का पिण्ड नहीं अपितु वह एक आध्यात्मिक तत्व है जिसने भौतिक शरीर धारण कर रखा है । अतः मन्दिर की सब प्रकार से चिन्ता करते हुए भी उसका मन्दिरत्व उसमें प्रतिष्ठित मूर्ति के कारण है तथा मूर्ति का श्रंगार धूप दीप नैवेद्य अर्चन आदि उसमें आरोपित मूर्ति के कारण है इस तथ्य का विस्मरण नहीं होना चाहिए ।"[1]

इसलिए पण्ड़ित जी को पश्चिमी अर्थव्यवस्था कदापि स्वीकार नहीं थी । वे पूंजीवादी एवं साम्यवादी दोनों अर्थव्यवस्थाओं के विरोधी थे । वे कहते थे कि -

"पिछली शताब्दियों के आर्थिक चिन्तन और उस पर आधारित अर्थव्यवस्था का

---

1. भारतीय अर्थनीति विकास की एक दिशा
अर्थ चिन्तन पृष्ठ - 11
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

यह परिणाम हुआ है कि हाड़ मांस का मानव हमारी द्रृष्टि से ओझल हो गया है हम उसके व्यक्तित्व का तनिक भी विचार नहीं करते हैं ।"

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के दुर्गुणों का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है कि -
"पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मनुष्य को एक अर्थलोलुप प्राणी मानकर चलता है उसके सभी निर्णय आर्थिक द्रृष्टिकोण से होते हैं ।"[2]

उन्होंने इसके कुपरिणामों को व्यक्त करते हुए कहा कि
"व्यक्ति को ही सब कुछ मानने वाली अर्थव्यवस्था ने व्यक्तित्व को बिल्कुल ही समाप्त कर दिया है स्पष्टतः पूंजीवादी अर्थव्यवस्था 'मानव' का विकास करने में असमर्थ सिद्ध हुई है ।"[2]

समाजवादी अर्थव्यवस्था के दुष्परिणामों को बताते हुए उन्होंने कहा कि "पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के विरोध में समाजवादी अर्थव्यवस्था आयी किन्तु वह मानव को उसकी प्रतिष्ठा नहीं दे पायी । उसने पूंजी का स्वामित्व राज्य के हाथ में दे कर सन्तोष कर लिया 3"

जिसका परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति व्यवस्थाओं और परिस्थितियों का दास अकिंचन एवं आनास्थामय और अनमयस्क हो गया ।

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय का कहना था कि हमें ऐसा आर्थिक चिन्तन चाहिए ।

"जो हमारे मानवत्व को विकसित कर सके । हमारे मानवत्व को समाप्त न करे उसके ऊपर प्रतिकूल प्रभाव न डाले और जिसके द्वारा हम मानव से उँचे उठकर देवत्व को प्राप्त कर सकें ।[1]

उपरोक्त लक्ष्य की प्राप्ति हेतु उन्होंने अर्थव्यवस्था के मौलिक विचारों की आवश्यकता बताते हुए सुझाव दिया कि

---

1. राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल अर्थ रचना अर्थ रचना में व्यक्ति पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय — पृष्ठ - 68
2. तथैव — पृष्ठ - 68
3. तथैव — पृष्ठ - 70
4. तथैव — पृष्ठ - 58

"हम अपने जीवन दर्शन का विचार कर भारतीय अर्थव्यवस्था का मौलिक निरूपण करें तथा आज की समस्याओं को यथार्थ की कण्टकाकीर्ण ऊबड़-खाबड़ किन्तु ठोस भूमि पर खड़े होकर सुलझाएं । भारत के स्व का साक्षात्कार किए बिना हम अपनी समस्याओं को सुलझा नहीं पाएंगे ।"[2]

पण्ड़ित जी का मानना था कि जिस प्रकार प्रजातन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति को वोट देने का अधिकार प्राप्त है उसी प्रकार उसे काम का भी अधिकार प्राप्त होना चाहिए साथ ही साथ उसे काम के चुनाव करने का भी अधिकार होना चाहिए । ऐसा न हो कि पढ़े लिखे व्यक्ति को फावड़ा चलाने का काम एवं गैर पढ़े लिखे को 'कुर्सी' संभालने की व्यवस्था हो । अतः पण्ड़ित जी का विश्वास था कि शिक्षा के द्वारा 'मानव' कल्याण का मार्ग प्रशस्त होगा । आर्थिक राजनैतिक एवं सामाजिक शक्ति के केन्द्रीकरण का विरोध होगा विकेन्द्रीकरण की भावना का विकास होगा । अर्थात शिक्षा के माध्यम से स्वदेशी एवं विकेन्द्रीकरण की भावना को विकसित करके मानव व्यवहार की आत्मीय आधार शिला रखनी होगी ।

पण्ड़ित जी द्वारा प्रणीत एकात्म मानव दर्शन ऐसा जीवन दर्शन है जो मनुष्य को केवल 'आर्थिक मानव' न मानकर उसके समग्र पहलुओं का विचार करता है । अतः 'सम्पूर्ण मानव' इस दर्शन का केन्द्र बिन्दु है ।

---

1. भारतीय अर्थनीति, अर्थ चिन्तन, मौलिक विचार की आवश्यकता पृष्ठ - 14
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

(च) सह शिक्षा -

भारतीय संस्कृति सबको एक साथ लेकर चलने वाली संस्कृति है । सम्पूर्ण जीवन का सम्पूर्ण सृष्टि का संकलित विचार करती है हमारे यहां कामना भी की गई है कि "संगच्छध्वं सवदध्वं संवो मनांसि जानताम्" हम सब लोग साथ साथ चले स्वर से स्वर मिलाकर बात करें एक दूसरे के मन की बात जानें ।

अतः भारतीय संस्कृति स्त्री पुरुष, बाल वृद्ध और युवा को ही नहीं सिथिल और अपंग को भी एक साथ लेकर चलने वाली संस्कृति है फिर शिक्षा जैसे पवित्र संस्कार को एक साथ समान रूप से प्राप्त करना तो और ही अधिक श्रेयस्कर है । इसीलिए भारतीय संस्कृति के पुरोधा पण्ड़ित दीनदयाल जी उपाध्याय समाज के किसी भी अंग की उपेक्षा सहन नहीं करते थे । उनका विचार था कि शिक्षा जैसे रचनात्मक कार्यक्रमों में महिलाओं को साथ-साथ लेकर चलना अति आवश्यक है इतना ही नहीं उनका कहना था कि -

> "परिवार के लिए परिवार प्रमुख कन्धा से कन्धा लगाकर कष्ट उठाने की भारतीय महिलाओं की परम्परा रही है । राजनीतिक क्षेत्र में काम करने वालों ने महिलाओं उनकी समस्याओं उनकी शक्ति का विचार नहीं किया तो वह समाज के आधे भाग की उपेक्षा करने जैसा होगा । नवभारत की रचना में ऐसी उपेक्षा कदापि नहीं की जा सकती ।"[1]

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय की विचार धारा को आगे बढ़ाने वाले हजारों सरस्वती शिशु मन्दिरों एवं सरस्वती विद्या मन्दिरों में पढ़ने वाले लाखों छात्र-छात्राएं सह शिक्षा का उत्कृष्ट उदाहरण हैं । जहां सामूहिक रूप से एकत्र होकर सरस्वती माँ के सामने

'लव कुश ध्रुव प्रहलाद बने हम
मानवता का मास हरें हमें
सीता सावित्री दुर्गा माँ
फिर घर घर भर दे, अम्ब विमल मति दे"

प्रार्थना के साथ अपनी विद्यालयीन दिनचर्या प्रारम्भ करते हैं ।

---

1. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन खण्ड-3
   राजनीतिक चिन्तक 'भालचन्द्र कृष्णा जी केलकर' पृष्ठ - 73

(छ) <u>आधुनिक शिक्षा और बेरोजगारी</u> -

कोठारी कमीशन ने अपने प्रतिवेदन में कहा है कि "इस समय भारत के भाग्य का निर्माण उसके अध्ययन कक्षों में हो रहा है । विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी पर आधारित आज के विश्व में शिक्षा ही व्यक्तियों की सम्पन्नता समृद्धि एवं सुरक्षा के स्तर को निश्चित करती है ।"[1]

लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि अंग्रेज शासकों द्वारा अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए निर्धारित की गयी शिक्षा आज भी प्रचलित है । स्वतन्त्रता प्राप्ति के लगभग अर्द्ध शताब्दी बाद भी भारत शैक्षिक गुलामी में जकड़ा हुआ है । विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर आधारित शिक्षा के द्वारा ही छात्रों को उत्पादकता एवं व्यवसाय से जोड़कर उन्हें उपयोगी नागरिक बनाया जा सकता है । परन्तु आज हमारे देश के विद्यालय पिटे-पिटाए ढर्रे पर शिक्षा देने का काम कर रहे हैं जिसके अन्त में एक औपचारिक परीक्षा ले ली जाती है । यह शिक्षा न तो विद्यार्थियों के जीवन को समृद्ध बनाती है न सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति में सहायता प्रदान करती है ।

भारत में अंग्रेजों द्वारा शिक्षा के उद्देश्यों को निर्धारित किया गया था जिसका लक्ष्य था भारत के नवयुवकों को ऐसी शिक्षा प्रदान करना जो उनके शासन के लिए सहयोगी सिद्ध हो सके । अतः निश्चित रूप से ऐसी शिक्षा के द्वारा देश का भला नहीं हो सकता । शिक्षा प्राप्त करने के बाद नवयुवक बेरोजगारों की संख्या में ही वृद्धि कर रहे हैं क्योंकि आधुनिक शिक्षा छात्रों को स्वतन्त्र व्यवसाय या रोजगार के लिए तैयार नहीं कर पाती ।

गन्नार मिरडल ने आधुनिक शिक्षा की आलोचना करते हुए परतन्त्र भारत में इसके उद्देश्यों का वर्णन किया है परतन्त्र भारत में

> "विश्वविद्यालय की उपाधियां सरकारी नौकरी के लिए पासपोर्ट थी । शिक्षा विद्यार्थियों की नौकरी के लिए न कि जीवन के लिए तैयार करने के सीमित उद्देश्य से प्रदान की जाती थी ।"[2]

---

1. भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएं माध्यमिक शिक्षा — पी.डी. पाठक — पृष्ठ - 91-92
2. तथैव — पृष्ठ - 421

हुमायूं कबीर ने भी कहा है कि -

"विश्व विद्यालयों में जो शिक्षा दी जाती है वह व्यक्ति को व्यवहारिक जीवन के लिए तैयार नहीं करती है ।"[1]

उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि आधुनिक शिक्षा का केवल एक ही उद्देश्य है - शिक्षा प्राप्त करने के बाद सरकारी या गैर सरकारी नौकरी प्राप्त करना । अतः कुछ थोडे छात्र तो नौकरी पा जाते हैं शेष बेरोजगारों के समूह में सम्मिलित हो जाते हैं । वर्तमान आधुनिक शिक्षा नवयुवकों के जीवन को बर्बाद करने में लगी है । किसी भी देश का वैभव उस देश की शिक्षा पर निर्भर रहता है । अतः दूषित शिक्षा प्रणाली सम्पूर्ण राष्ट्र को दूषित कर देती है । हमारे देश की यही विडम्बना है । हमारी शिक्षा का यह महान् दोष है कि यह उद्देश्यहीन है ।

पण्ड़ित दीनदयाल जी उपाध्याय ने आधुनिक शिक्षा के सम्बन्ध में कहा है कि

"आज भारत के शिक्षित वर्ग के जीवन मूल्यों पर पशिचम का यह प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है । हमें निर्णय करना पड़ेगा कि यह प्रभाव अच्छा है या बुरा ।"[2]

पण्ड़ित जी का मानना है कि आधुनिक शिक्षा परिस्थिति विशेष तथा प्रवृत्ति विशेष की उपज है यह सार्व लौकिक नहीं है इसमें वाञ्च्छित परिवर्तन करके ही इसे उपयोगी बनाया जा सकता है ।

अंग्रेजों के शासनकाल में जो डिग्री नौकरी के लिए पासपोर्ट थी अब वह केवल बेरोजगारों की संख्या में वृद्धि करने का कार्य कर रही है । इस सम्बन्ध में पण्ड़ित जी ने सुझाव रखा है कि नौकरी को डिग्री से अलग किया जाना चाहिए । सरकार द्वारा भी नौकरी को डिग्री से अलग करने के कदम उठाए जा रहे हैं ।

---

1. तथैव — पृष्ठ - 42।
2. एकात्म मानव दर्शन — राष्ट्रवाद की सही कल्पना — पृष्ठ - 7 — पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

(ज) **वर्तमान शिक्षा प्रणाली एक निकृष्ट नकट मात्र -**

वर्तमान शिक्षा प्रणाली एक निकृष्टतम् तत्व समझी जाने लगी है । क्योंकि इसमें अनेकानेक त्रुटियां हैं । यह शिक्षा परीक्षा प्रधान बनकर रह गयी है । सम्पूर्ण शिक्षा परीक्षा के लिए ही बनकर रह गयी है जबकि परीक्षा शिक्षा प्रधान एवं परीक्षा शिक्षा के लिए होना चाहिए । प्रत्येक शिक्षक की कार्यक्षमता शिक्षण दक्षता प्रत्येक छात्र की बौद्धिक योग्यता का केवल एक ही मापदण्ड है - परीक्षा । विद्यार्थियों के लिए यह मापदण्ड अभिशाप सिद्ध हो गया है । वे परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए किसी भी अनुचित कार्य को दुस्साहसपूर्वक करने के लिए तैयार रहते हैं । इसी प्रवृत्ति और विचार धारा तथा शिक्षा प्रणाली ने नकल को जन्म दिया है और नकल आज सम्पूर्ण शैक्षिक समाज को दानव की तरह अपने गाल में समाए लिए जा रही है ।

माध्यमिक शिक्षा आयोग ने शिक्षा के इस दोष की ओर शिक्षा विदों का ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा है कि -

> "वाह्य एवं आन्तरिक दोनों परीक्षाओं का एकाकी उद्देश्य छात्रों की मानसिक एवं साहित्यिक उपलब्धियों की जॉंच करना है वे छात्रों के विकास के अन्य पक्षों की जॉंच नहीं करती है और यदि करती भी है तो अप्रत्यक्ष एवं अविश्वसनीय रूप में ।"[1]

वर्तमान शिक्षा का तात्पर्य है किसी प्रकार से परीक्षा पास करना । अतः परीक्षा मुख्य एवं कक्षा कार्य गौड़ हो गया । प्रचलित परीक्षा प्रणाली मुख्यतः निबन्धात्मक प्रकार की है । प्रश्न सम्पूर्ण पाठ्य विषय पर आधारित न होकर केवल एक अंश पर आधारित होते हैं । अतः वर्तमान परीक्षा में वैद्यता व्यापकता वस्तुनिष्ठता एवं विश्वसनीयता का अभाव है । इसके अतिरिक्त परीक्षा पद्धति में बाह्य परीक्षाओं का शीर्षस्थ स्थान है और कक्षा कार्य तथा आन्तरिक परीक्षाओं को तनिक भी महत्व नहीं दिया जाता है । सम्पूर्ण पाठ्यक्रम का

---

1. भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएं
   माध्यमिक शिक्षा पृष्ठ - 400
   पी.डी. पाठक

भली-भांति अध्ययन करने वाला छात्र केवल पाँच या सात प्रश्नों के उत्तर तैयार करने वाले छात्र की अपेक्षा कम अंक प्राप्त करता है । परिणाम स्वरूप परिश्रमी छात्र कुण्ठाग्रस्त हो जाता है और उसके अन्दर भी ऐनकेन प्रकारेण परीक्षा पास या अधिक अंक लाने की ललक उत्पन्न हो जाती है जो नकल का भयावह स्वरूप धारण कर लेती है ।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली को अंग्रेजों की देन माना जाता है जबकि वहां के किसी भी विचार में शाश्वत सत्य या पूर्णता और स्थिरता का अभाव है । सर्वत्र खण्ड-खण्ड विचार करने की प्रणाली वहां प्रचलित है फिर पश्चिम से नकल की हुई शिक्षा प्रणाली में 'पूर्णता' कैसे हो सकती है ?

> "हमें सोचना चाहिए कि पश्चिम का अन्धानुकरण करके क्या हम गुजारा कर सकेंगे ? स्वामी विवेकानन्द से पश्चिम में कुछ विचारकों ने कहा था कि आपकी 'आध्यात्म' चर्चा को हम मान लेंगे । आप हमारी नवीन विचारधारा समाजवाद को मान लीजिए ...... स्वामी जी ने प्रत्युत्तर में कहा भाई ठीक है आपकी नवीन विचारधारा प्रयोगावस्था में जबकि हमारा प्राचीनतम् राष्ट्र है हजारों वर्ष इसकी आयु है । हम कोई कट्टरवादी नहीं हैं पर आपकी विचारधारा को मानने से पूर्व हमें यह तो देख लेने दीजिए कि उसमें स्थायित्व आ गया है । .... लेकिन जो विचारधारा प्रयोगावस्था में उसे हम नहीं ले सकते ।"[1]

पण्डित जी का मानना था कि अपने देश की अपनी परिस्थितियां होती हैं दूसरों के द्वारा थोपे गये या उनसे नकल किए गए सिद्धान्त पूर्णतः क़ारगर नहीं सिद्ध हो सकते ।

> "जो औषधि इंग्लैण्ड में कारगर होती है वह भारत में भी उपयोगी सिद्ध होगी, यह निर्विवाद नहीं कहा जा सकता...... आयुर्वेद में सिद्धान्त बताया गया है 'यतद्देशस्य यो जन्तुः तद्देशस्य तस्यौषधम्' इसलिए बाहर की जितनी भी बातें

---

1. एकात्म मानववाद
एक अध्ययन अन्धानुकरण न करें पृष्ठ - 102
दन्तोपन्त ठेंगडी

हैं उनको हम उसी प्रकार लेकर अपने देश में चले यह तो समीचीन नहीं होगा उसके द्वारा हम कभी प्रगति नहीं कर सकेंगे ।..... उसमें से सत्य को हमें स्वीकार करना पड़ेगा और असत्य हो छोड़ना पड़ेगा । सार का भी अपनी परिस्थिति के अनुसार परिष्कार करना होगा ।[1]

...... उपरोक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि जो शिक्षा व्यवस्था पश्चिम से नकल की गयी है वह यदि नकल का शिकार बन जाए तो कैसा आश्चर्य? इसलिए हम पश्चिम का अन्धानुकरण बन्द करके अपनी संस्कृति का विचार करें । पण्ड़ित जी ने कहा भी है -

"स्वराज तभी साकार और सार्थक होगा जब वह अपनी संस्कृति की अभिव्यक्ति का साधन बन सकेगा । इस अभिव्यक्ति में हमारा विकास भी होगा और हमें आनन्द की अनुभूति भी होगी ।"[2]

---

1. एकात्म मानववाद,
अपना देश अपनी परिस्थितियां — पृष्ठ - 15-16
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

1. तथैव — पृष्ठ - 17

(झ) **शिक्षा और पुनर्निमाण -**

किसी की देश की उन्नति वहां के व्यक्ति में राष्ट्रीय बोध संगठन और अनुशासन के प्रखर भाव पर निर्भर करती है ।

1942 में जापान के हिरोशिमा एवं नागासाकी नगरों को बमों के द्वारा ध्वस्त कर दिया गया था । युद्ध की उस विभीषिका के परिणामस्वरूप आज भी वहां विकलांग सन्तानें पैदा होती है लेकिन स्वतन्त्र होते ही उन्होंने अपने 'स्व' को पहचाना अपनी राष्ट्रीय शिक्षा को आदर्श के रूप में स्वीकार किया । जिससे वहां की नौजवान पीढ़ी के अन्दर प्रखर राष्ट्रभक्ति की भावना का समावेश हो सका और इस समय जापान दुनियां के सभी देशों से अग्रणी बनकर खड़ा हो गया है ।

हमें भी यदि अपने राष्ट्र को उन्नति के पथ पर अग्रसर करना है उसे समृद्धि और शक्तिशाली बनाना है तो अपने राष्ट्रीय आदर्शों एवं 'स्व' पर आधारित शिक्षा को स्वीकार करना होगा जिस शिक्षा के माध्यम से बच्चों में अपने देश अपनी भाषा और अपनी संस्कृति के प्रति अगाध प्रेम एवं श्रद्धा अटूट निष्ठा तथा निश्छल गर्व की भावना भरनी होगी ।

किसी भी राष्ट्र के समुचित विकास के लिए तथा सांस्कृतिक आदर्शों के अनुकूल आगे बढ़ने के लिए शिक्षा की महती आवश्यकता होती है । शिक्षा द्वारा ही समाज में वाञ्छित परिवर्तन लाया जा सकता है । इजरायल जैसे छोटे से देश ने इतनी आश्चर्यजनक उन्नति कैसे की ? छोटा सा देश आज स्वाभिमानपूर्वक बड़े-बड़े देशों से टक्कर ले रहा है । यह सब कैसे हुआ ? उसने अपनी पुरानी हिब्रू भाषा को पुर्नजीवित किया उसी को राष्ट्रभाषा के रूप में मान्यता प्रदान की ।

हमारे देश में आज भी अंग्रेजी का प्रभुत्व स्थापित है । हम अंग्रेजी से इतना प्रभावित हैं कि बच्चे के जन्मदिन तथा विवाह जैसे धार्मिक कृत्यों में भी अंग्रेजी में निमन्त्रण पत्र छपवाकर आधुनिक होने का प्रदर्शन करते हैं, अंग्रेजी माध्यम के विद्यालयों में बच्चों को पढ़ाकर गर्व का अनुभव करते हैं -

"अतः अंग्रेजी का उपयोग भारतीय राष्ट्र जीवन की अटल नियति सा बन गया है । पण्ड़ित दीनदयाल जी को यह स्थिति असह्य थी । इसीलिए उन्होंने प्रस्ताव रखा था कि न हिन्दी न अंग्रेजी केवल मात्र भाषा में ही सम्पूर्ण शिक्षा हो ।"

हमें ऐसी आदर्श शिक्षा को स्वीकार करना होगा जो मानव का निर्माण करे, चरित्रवान एवं राष्ट्रभक्त नौजवान तैयार करे जो अपने पैरों पर खड़े होकर राष्ट्र के पुर्ननिर्माण में योगदान कर सकें । वर्तमान शिक्षा में अपने 'स्वत्व' का समावेश करना होगा ।

"शिक्षा को केवल पेट पालने की विद्या का जो स्वरूप प्राप्त हो गया है उसके कारण हमारे सामाजिक जीवन में कई समस्यायें उत्पन्न हो रही हैं । चरित्रवान तेजस्वी धर्मज्ञ और जीवन में आत्मविश्वास के साथ पदार्पण करने वाला युवा वर्ग इन दिनों कहीं दिखाई नहीं देता । ...... इस नई परिस्थिति में शिक्षा का स्वरूप निश्चित करना वास्तव में विचारकों और शासकों के लिए सबसे बड़ी चुनौती है । इस दृष्टि से पुरानी भारतीय शिक्षा प्रणाली की ग्राह्य बातें खोजकर आज की निर्जीव शिक्षा में प्राण फूंकने का प्रयास अपेक्षित है ।"

तभी शिक्षा राष्ट्र के पुनर्निर्माण का पवित्र कार्य सम्पन्न करने में सक्षम हो सकेगी ।

---

1. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय, कृतित्व एवं विचार, शिक्षा का माध्यम मातृभाषा — पृष्ठ - 160
   डा. महेश चन्द्र शर्मा
2. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय, विचार दर्शन खण्ड - 2 एकात्म मानव दर्शन — पृष्ठ - 83
   विनायक वासुदेव नेने

(ञ) उपाध्याय एवं स्त्री शिक्षा -

"समाज के मूलतः दो ही अंग होते हैं । नर व नारी तथा दोनों एक दूसरे के पूरक होते हैं । एक का अस्तित्व दूसरे के बिना अधूरा है । समाज में परिवर्तन विकास या समृद्धता दोनों के सम्मिलित प्रयास पर ही निर्भर है । यही नहीं तो नारी सृष्टि की जननी है । अतः उसके विकास की उपेक्षा किसी भी समाज को बहुत मंहगी पड़ सकती है ।"

राधाकृष्णन आयोग 1948 ने कहा है कि -

"शिक्षित स्त्री के बिना शिक्षित पुरुष हो ही नहीं सकता । यदि पुरुषों और स्त्रियों में से किसी एक के लिए सामान्य शिक्षा का प्रावधान करना हो तो यह अवसर स्त्रियों को दिया जाना चाहिए क्योंकि तब वह शिक्षा स्वमेव अगली पीढ़ी को प्राप्त हो जायेगी ।"

पण्ड़ित जवाहरलाल नेहरू ने भी स्त्री शिक्षा पर जोर देते हुए कहा है कि -

"लड़के की शिक्षा एक व्यक्ति की शिक्षा है परन्तु लड़की की शिक्षा पूरे परिवार की शिक्षा है ।"

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय जी की मान्यता है कि -

"शिक्षा के व्यापक अर्थों में समाज का प्रत्येक घटक ही शिक्षक है ।..... व्यक्ति सबसे पहले जिस सामाजिक घटक के सम्पर्क में आता है वह 'माता' है ।"

---

1. राष्ट्रधर्म फरवरी 1996 गणतन्त्र विशेषांक पृष्ठ - 35
   सम्पादक रामदत्त मिश्र
2. स्त्री शिक्षा, भारतीय शिक्षा की वर्तमान समस्याएं पृष्ठ - 261
   डा. रवीन्द्र अग्निहोत्री
3. तथैव
4. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय, कृतत्व एवं विचार 'शिक्षा' पृष्ठ - 311
   डा. महेश चन्द्र शर्मा

हमारी वैदिक संस्कृति में माता प्रथमो गुरू: या मातृदेव भव: कहकर स्त्री या माता को परमपूज्यनीय स्थान प्रदान किया गया है ।

"वैदिक कालीन भारत में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही शिक्षा दी जाती थी ।"[1]

हमारी संस्कृति में यह प्रमाण है कि -

"प्राचीन ऋषि जहां लड़कों को विद्वान बनाने के लिए यत्न करते थे वहां लड़कियों को विदुषी बनाते थे ।...... जैसे महर्षि कण्व ने अपनी पुत्री शकुन्तला को । वैदिक काल में घोषा, गार्गी, मैत्रेयी, आत्रेयी, शकुन्तला आदि के समान अनेक विदुषी महिलायें थीं ।"[2]

मनुस्मृति का तो यह उद्घोष है कि -

"यत्रनार्याऽस्तु पुज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:
यत्रै तास्तु न पूज्यन्ते सर्वत्राऽफला क्रिया : ।"
जहां नारियों की पूजा होती है वहां देवता निवास करते हैं और जहां उनकी उपेक्षा होती है वहां सभी कार्य असफल हो जाते हैं ।"[3]

मुगलकाल में भी हमारे यहां अनेकों विदुषी महिलायें रहीं हैं -

"यथा रजिया सुल्ताना, चांद सुल्ताना, गुलबदन बेगम, जेबुन्निसा बेगम.... रानी रूपमति, रानी दुर्गावती, इन्दौर की शासिका अहिल्या बाई और शिवाजी की माता जीजा बाई ।"[4]

अंग्रेज भारत में स्त्रियों की शिक्षा की गिरती हुई दशा को ठीक करने के लिए कई सुझाव दिये गये तथा स्वतन्त्रता के बाद भारतीय संविधान में घोषित किया गया । कि -

"राज्य किसी नागरिक के विरूद्ध केवल धर्म, प्रजाति, जाति, लिंग, जन्मस्थान, या इनमें से किसी के आधार पर विभेद नहीं करेगा ।

---

1. स्त्री शिक्षा भारतीय शिक्षा की वर्तमान समस्याएं — डा. रवीन्द्र अग्निहोत्री — पृष्ठ - 263
2. स्त्री शिक्षा, भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएं — पी.डी. पाठक — पृष्ठ - 584
3. मनुस्मृति
4. स्त्री शिक्षा, भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएं — मुस्लिम भारत में स्त्री शिक्षा — पी.डी. पाठक — पृष्ठ - 585

भारतीय संस्कृति के प्रबल अनुयायी पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय पुरुषों के समान ही स्त्रियों की शिक्षा और सम्मान के हामी थे । स्त्रियों के शिक्षा और सम्मान की उपेक्षा को देखकर वे विचलित हो उठते थे । मण्डन मिश्र की पत्नी भारती के श्री मुख से पण्ड़ित जी ने महिलाओं की उपेक्षा को इस प्रकार ललकारा है ।

" स्त्री हूँ तो क्या हुआ आचार्य ? स्त्री के क्या विचार नहीं होते ? उसके मन में क्या शंकाय कुशंकायों की आंधी नहीं उठ सकती ? उसके पास भी मस्तिष्क है, हृदय है और वह भी तो राष्ट्र का अंग है । उसका भी राष्ट्र के प्रति दायित्व है और उस दायित्व को निभाने का उसको भी अधिकार है ।"

पण्ड़ित जी ने वैदिक कालीन शिक्षित महिलाओं का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए मण्डन मिश्र की ही पत्नी से कहलाया है -

"आचार्य स्त्रियों के साथ क्या शास्त्रार्थ नहीं हुए ? गार्गी व याज्ञवल्क्य का संवाद आपको ज्ञात नहीं है ? गार्गी क्या पुरुष थी ? और उसका शास्त्रार्थ भी किसी साधारण विषय पर नहीं किन्तु आत्मा के सम्बन्ध में हुआ था । जनक और सुलभा का शास्त्रार्थ तो प्रसिद्ध ही है । सुलभा भी कोई पुरुष नहीं थी । जनक और याज्ञवल्क्य भी कोई साधारण पुरुष नही थे किन्तु अत्यन्त प्रसिद्ध महात्मा थे । जब ये महात्मागण स्त्रियों से विवाद कर सकते हैं तो आप मुझसे क्यों नहीं कर सकते ?"

अतः पण्ड़ित जी स्त्री को भी राष्ट्र का अंग मानकर पुरुष के समान ही उनकी शिक्षा समानता और सम्मान के समर्थक थे ।

---

1. तथैव स्वतन्त्र भारत में स्त्री शिक्षा — पृष्ठ - 587
2. जगद्गुरू शंकराचार्य, पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय, भारती का समाधान — पृष्ठ - 85, 86
3. तथैव भारती का समाधान — पृष्ठ - 86

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

(ट) उपाध्याय जी की शिक्षा व्यवस्था का व्यवहारिक स्वरूप -

लाखों नन्हें मुन्ने किशोरों और तरूणों को शिक्षित और संस्कारित करते हुए अपने देश की माटी और पुरखों से जोड़ने का पुनीत कार्य करने वाले हजारों सरस्वती शिशु मन्दिर एवं सरस्वती विद्या मन्दिर पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय की शिक्षा व्यवस्था के व्यवहारिक स्वरूप है ।

शिक्षा के अखिल भारतीय संगठन 'विद्या भारती' द्वारा संचालित लगभग 7 हजार से अधिक विद्यालय देश के समस्त प्रान्तों में चल रहे हैं । जिनमें पूर्व प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा तक की व्यवस्था है । जिसकी बागडोर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के हाथ में हैं । अनेक ग्रामीण विद्यालय पर्वतीय विद्यालय जनजाति विद्यालयों के अतिरिक्त 2 शिक्षा महाविद्यालय, 2 शोध केन्द्र, 35 आवासीय विद्यालय और अनेक प्रकार के शिक्षण केन्द्र हैं । कानपुर का दीनदयाल विद्यालय उत्तम शिक्षा व्यवस्था के लिए सारे देश में विख्यात है ।

छिजारसी (गाजियाबाद का ग्रामीण आचार्यों का प्रशिक्षण केन्द्र, गुमला (रांची) में वनवासी क्षेत्र के आचार्यों का प्रशिक्षण केन्द्र, लखनऊ और भोपाल में आचार्य प्रशिक्षण संस्थान अपने प्रकार के प्रशिक्षण केन्द्र हैं । जहां उन आचार्यों का निर्माण होता है । जिनके माध्यम से सरस्वती शिशु मन्दिर एवं विद्या मन्दिर योजना यशस्वी बन रही है । अनेक प्रकार के अल्पकालीन एवं विषयवार प्रशिक्षण देशभर में पूरे सत्र ही चलते रहते हैं ।

महानगर, शहर, ग्राम, वन प्रान्तर और उपत्यकाओं में बसे शहरों ग्रामीण वनवासी, गिरिवासी, उपेक्षित और पिछड़े वर्ग तक ज्ञान का प्रकाश ले जाने की अदम्य चाह के कारण 'विद्या भारती' का कार्य अब नित्य बढ़ता जा रहा है । उसके मुकाबले का विश्व में कोई भी बिना सरकारी सहायता के चलने वाला शैक्षणिक संगठन नहीं है । अपने देश में 'सबके लिए शिक्षा' की पुण्य भावना से कार्य करने वाले इस संगठन के पास हजारों समर्पित कार्यकर्ताओं की टीम है जिससे सभी योजनाओं की पूर्ति में उसे सफलता मिल रही है ।

अपने-अपने प्रान्तों के पाठ्य क्रमानुसार विभिन्न विषयों के अध्ययन के साथ 'विद्या भारती' से सम्बद्ध देश भर के सभी विद्यालय 5 ऐसे विषयों का अध्ययन कराते हैं जिन्हें केन्द्रीय विषय माना गया है । नैतिक शिक्षा, शारीरिक शिक्षा, योग शिक्षा, संस्कृत शिक्षा और संगीत शिक्षा ।

(ठ) समीक्षात्मक विचार -

पण्ड़ित जी प्राथमिक शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा एवं उच्च शिक्षा को सरकारी नियन्त्रण से दूर रखना चाहते थे लेकिन वह शिक्षालयों को निजी सम्पत्ति बनाए जाने के विरूद्ध थे । शिक्षा की व्यवस्था को शिक्षा विद्‌ों के हाथ में रखने के समर्थक थे । शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में वह मातृभाषा को स्वीकार करते थे । सभी स्तर पर वे सहशिक्षा के समर्थक थे ।

वर्तमान दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली को वह दासता का प्रतीक मानते थे । अतः पण्ड़ित जी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली विकसित किए जाने के पक्षधर थे जिसके द्वारा बालकों के अन्दर राष्ट्रीय चरित्र, राष्ट्रीय स्वाभिमान जाग्रत किया जा सके । साथ ही साथ अर्थकारी एवं व्यवसायिक शिक्षा के द्वारा वे बेरोजगारी के कलंक को भी मिटाकर राष्ट्र को परम वैभव तक ले जाने की कामना करते थे । सम्पूर्ण परिवार की शिक्षा एवं राष्ट्र के विकास के लिए महिलाओं को शिक्षित किया जाना आवश्यक समझते थे । अपनी विचारधारा के अनुकूल राष्ट्रीय शिक्षा विकसित करने के लिए उन्होंने सरस्वती शिशु मन्दिर जैसी शिक्षा संस्थाओं को स्थापित किया । जो आज देश भर में शिक्षा की अग्रणी शिक्षा संस्थाएं मानी जाती हैं । अखिल भारतीय शिक्षा संगठन 'विद्या भारती' द्वारा देश के लाखों नौनिहालों से लेकर युवाओं तक को राष्ट्रीय दिशा निर्देशन प्राप्त हो रहा है और वे सफल एवं उन्नतशील जीवन की ओर अग्रसर हो रहे हैं ।

(च) उपाध्याय जी की शिक्षा के उद्देश्य -

जॉन डीवी ने कहा है कि -

"शिक्षा के अपने कोई उद्देश्य नहीं होते हैं फिर भी व्यक्ति या समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर उनका निर्माण किया जाता है । वे या तो लोगों की उन्नति के लिए या समाज के आदर्शों की प्राप्ति के लिए या इन दोनों के लिए निश्चित किए जाते हैं ।"[1]

इस प्रकार शिक्षा के उद्देश्यों के विभिन्न प्रयोजन होते हैं और इन्हीं प्रयोजनों के आधार पर उनका निर्माण किया जाता है । इसीलिए उनके स्वरूप में भी भिन्नता रहती है । प्रमुख विद्वानों द्वारा मुख्यतः शिक्षा के चार उद्देश्य निरूपित किए गए हैं ।

1. सार्वभौमिक उद्देश्य
2. विशिष्ट उद्देश्य
3. वैयक्तिक उद्देश्य और
4. सामाजिक उद्देश्य

प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री रस्क का मत है कि शिक्षा के उद्देश्यों का सम्बन्ध जीवन के साध्यों के साथ है । दर्शन इस बात का निर्णय करता है कि जीवन का क्या उद्देश्य होना चाहिए ? जब जीवन के उद्देश्यों का निर्धारण दर्शन द्वारा किया जाता है तब शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण भी उसी के द्वारा किया जाना स्वाभाविक है क्योंकि शिक्षा स्वयं जीवन है और जीवन शिक्षा है ।[2]

टी.पी. नन ने लिखा है -

"शिक्षा की प्रत्येक योजना अन्तोगत्वा व्यवहारिक दर्शन है और जीवन के प्रत्येक बिन्दु को आवश्यक रूप से स्पर्श करती है । अतः शिक्षा के कोई भी उद्देश्य

---

1. "शिक्षा के उद्देश्यों का निर्माण और वर्गीकरण"
   शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त — पृष्ठ - 37
   पाठक एवं त्यागी
   विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा

2. "दर्शन और शिक्षा" — पृष्ठ - 115

जो निश्चित रूप से पथ प्रदर्शन करने के लिए पर्याप्त रूप से स्थूल है, जीवन के आदर्शों से सम्बन्ध रखते हैं और चूंकि जीवन के आदर्श सर्वथा भिन्न हुआ करते हैं इसलिए उनकी भिन्नता शैक्षिक सिद्धान्तों में अवश्य प्रतिबिम्बित होगी।

हम देख चुके हैं कि जीवन के प्रति दृष्टिकोण का नाम दर्शन है । व्यक्ति इसी दृष्टिकोण के अनुसार अपना जीवन यापन करता है । अतः जीवन और दर्शन अभिन्न हैं । जीवन के दृष्टिकोण के अनुसार ही शिक्षा के उद्देश्यों का निर्माण किया जाता है । अतः जिसका जिस प्रकार का जीवन के प्रति दृष्टिकोण होगा उसके द्वारा निर्धारित किए गए शैक्षिक उद्देश्य भी उसी प्रकार के होंगे । यदि कोई विद्वान भौतिकवादी विचारों वाला है तो वह शिक्षा के ऐसे उद्देश्य निर्धारित करेगा जिससे कि भौतिक सामग्री एकत्र करने की कला का ज्ञान हो सके और यदि आध्यात्मिक दृष्टिकोण रखने वाले व्यक्ति को शिक्षा के उद्देश्यों का निर्धारण करना पड़े तो वह 'आत्मानुभूति' को शिक्षा का उद्देश्य निर्धारित करेगा । जिससे 'परमसत्ता' से एकाकार करने को सामर्थ्य हो सके । पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने शिक्षा के जो उद्देश्य निर्धारित किए हैं उनमें उनके दर्शन की स्पष्ट झलक मिलती है । पण्ड़ित जी राष्ट्र की सेवा के लिए आजीवन व्रत करने वाले अप्रतिम कर्मयोगी थे । उनके जैसा व्यक्ति अपने राष्ट्र को परतन्त्र कैसे देख सकता है ? अतः उन्होंने शिक्षा के जो उद्देश्य निर्धारित किए हैं उनमें 'स्वराज्य प्राप्ति' उनका प्रथम उद्देश्य है ।

(क) स्वराज्य प्राप्ति का उद्देश्य -

परतन्त्र भारत में (सन् 1916 में) जन्म लेने वाले पण्ड़ित जी अपनी शिक्षा दीक्षा के उपरान्त राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के कार्यों में जुट गए तथा 1942 में अपना पूरा जीवन संघ के लिए समर्पित करते हुए लखीमपुर जिले के जिला प्रचारक के नाते राष्ट्र की सेवा करने लगे । संयोगवश उसी समय स्वतन्त्रता आन्दोलन अपनी चरम सीमा पर था । पण्ड़ित दीनदयाल जी महान क्रान्तिकारी बाल गंगाधर तिलक से काफी प्रभावित थे । अतः स्वाभाविक

---

1. उपरोक्त पृष्ठ - 115

है वह भी मातृभूमि की दासता को नहीं देख सकते थे । लेकिन देश पराधीन क्यों हुआ ? इसके बारे में उनका स्पष्ट सोच था कि भारत के निवासी आपस में असंगठित हैं जिससे उन्हें परतन्त्रता की यातनाएं सहन करनी पड़ी । यह पीड़ा उन्हें निरन्तर कचोटती रहती थी । पण्ड़ित जी मातृभूमि को दासता के बन्धनों से मुक्त कराना चाहते थे । उन्होंने अपने मामा को जो पत्र लिखा (21.07.1942) उसमें स्वराज्य प्राप्ति हेतु उनकी लालसा स्पष्ट दिखाई पड़ती है ।

> "हमारा समाज संगठित नहीं दुर्बल है । इसीलिए हमारी आरती और बाजों पर लड़ाइयां होती हैं इसीलिए हमारी माँ बहनों को मुसलमान भगा कर ले जाते हैं । अंग्रेज सिपाही उनपर निःशंक होकर अत्याचार करते हैं और हम अपनी बड़ी भारी इज्जत का दम भरने वाले समाज में उँची नाक रखने वाले, फूंटी आंखों से देखते रहते हैं । हम उसका प्रतिकार नहीं कर सकते ...... क्यों ? क्या हिन्दुओं में ऐसे ताकतवर आदमियों की कमी है जो इन दुष्टों का मुकाबला कर सके ?..... हमारे पतन का कारण हममें संगठन की कमी है । बाकी बुराइयां अशिक्षा आदि तो पतित अवस्था के लक्षण मात्र हैं ..... रही बात नाम और यश की सो तो आप जानते ही हैं कि गुलामों का कैसा नाम और कैसा यश ?"

पण्ड़ित दीनदयाल जी चाहते थे कि समाज को ऐसी शिक्षा दी जाए जिससे उनके अन्दर संगठन और त्याग की भावना जाग्रत हो सके और राष्ट्र को परतन्त्रता के बन्धनों से मुक्त कराया जा सके -

> "जिस समाज और धर्म की रक्षा के लिए राम ने वनवास सहा । कृष्ण ने अनेकों कष्ट उठाये राणा प्रताप जंगल जंगल मारे फिरे, शिवाजी ने सर्वस्व अर्पण कर दिया, गुरू गोविन्द सिंह के छोटे-छोटे बच्चे जीते जी किले की दीवारों में

---

1. उपाध्याय जी का एक पत्र
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय व्यक्ति दर्शन
   पृष्ठ - 154-155

चुन गए क्या उसकी खातिर हम अपनी जीवन की आकांक्षाओं का झूठी आकांक्षाओं का त्याग भी नहीं कर सकते ?

पिछले बारह सौ वर्षों के गुलामी के इतिहास से पण्ड़ित जी पूरी तरह परिचित थे । वे जानते थे कि "समाज में जब तक अपने 'स्वत्व' का अभिमान जाग्रत रहा उसके कारण भूमि धर्म संस्कृति तथा राष्ट्र की एकात्मता की भावना विद्यमान रही । तब तक इस समाज की ओर आंख उठाकर देखने का भी साहस किसी को नहीं हुआ । परन्तु एकात्म जीवन का विस्मरण होते ही छोटे-बड़े अनेक स्वार्थ घुस आए । सत्ता लोभ में राज्य आपस में टकराने लगे । इससे निर्बलता आयी और गुलामी सहित अनेक प्रकार की दुर्दशा इस समाज को भोगनी पड़ी । यदि सब प्रकार की दुर्दशा को दूर हटाना है तो संगठित और उत्तम समाज जीवन खड़ा करना पड़ेगा । .... समाज के साथ एकात्म भाव स्थापित करके स्वत्व बोध का जागरण किया तो सामर्थ्ययुक्त समाज अपने ही बल बूते पर सब वैभव और यश प्राप्त कर लेगा ।

उपरोक्त ऐतिहासिक तथ्य से पूर्णतया भिज्ञ पण्ड़ित दीनदयाल जी समाज को ऐसी शिक्षा देना चाहते थे कि सम्पूर्ण समाज एकता के सूत्र में वेध जाए और स्वराज्य प्राप्ति हेतु संघर्ष के लिए तैयार हो सके । पण्ड़ित जी 'आचार्य चाणक्य' से अत्यन्त प्रभावित थे इसका एक कारण था कि उस समय ठीक 2400 वर्ष पूर्व जैसी स्थिति थी । जब

> "चन्द्रगुप्त और चाणक्य के सम्मिलित प्रयत्नों ने समाज की उस रचनात्मक शक्ति का सृजन किया जिससे न केवल अलिक् सुन्दर को ही भारत से निकाल बाहर किया अपितु एक विशाल साम्राज्य का भी निर्माण किया ।"

स्वतन्त्रता के कुछ ही दिनों पूर्व लिखे गए 'चन्द्रगुप्त' (1946) नामक

---

1. तथैव — पृष्ठ - 156
2. इतिहास बोध - राष्ट्र
   मा.स. गोलवरकर
   सम्पादक भानुप्रताप शुक्ल, पृष्ठ - 234
   जानकी प्रकाशन, नई दिल्ली
3. विषय प्रवेश 'चन्द्रगुप्त' — पृष्ठ - 8
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

उपन्यास में पण्ड़ित जी ने अपने उद्देश्यों को पूर्णतया स्पष्ट करने का प्रयास किया है ।

> "आज देश में वीरता है, शूरता है, अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिए सब कुछ अर्पण करने की शक्ति है परन्तु यदि कमी है तो एक सूत्र की जो सबको एक साथ बांध सके । अखिल भारतीय एक छत्र सम्राट की आवश्यकता है । यदि यह नहीं हुआ तो भारत वर्ष में यवनों का अधिपत्य सदा के लिए हो जाएगा और यदि अलिक सुन्दर इस बार लौट भी गया तो फिर कोई और आक्रमण कर देगा ।"[1]

स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रति तटस्थता बनाए रखने वाले लोगों को फटकारते हुए उन्होंने सबको स्वातन्त्र्यसमर में सहभागी होने के लिए प्रेरित किया

> "सम्पत्ति में देश का साथ न देने वाला क्षमा किया जा सकता है परन्तु विपत्ति में शत्रु के साथ मिलकर देशद्रोह करने वाला तो दूर रहा देश का साथ न देकर चुप बैठने वाला भी क्षमा नहीं किया जा सकता ।"

अपने उपन्यास 'चन्द्रगुप्त' में पण्ड़ित जी ने उल्लेख किया है कि चाणवय द्वारा एकता के सूत्र में बांधी गयी संगठित शक्ति से सिकन्दर की पराजय होती है चन्द्रगुप्त भारत का एक छत्र सम्राट बनता है राष्ट्र समस्त वैभव से परिपूर्ण होता है ।

> "आज सम्पूर्ण भारत एक आवाज से बोलता है और एक इशारे पर काम करता है इस एकता में कितनी शक्ति है ।" पण्ड़ित की भी ऐसी ही आकांक्षा थी ऐसा ही था उनका भी उद्देश्य ।"

---

1. चन्द्रगुप्त संघर्ष का संकल्प — पृष्ठ - 40
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
2. तथैव
   सशक्त भारत — पृष्ठ - 62
3. चन्द्रगुप्त सशक्त भारत — पृष्ठ - 63
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

(ख) चारित्रिक विकास -

"वृतं यत्नेत् संरक्षेत् वित्तमायाति याति च
अक्षीर्णो वित्ततः क्षीर्णो, वृतस्तस्तु हतो हतः" ।।

भारतीय संस्कृति के अनुसार चरित्र की रक्षा यत्नपूर्वक की जानी चाहिए । धन तो आता है और चला जाता है जिसका धन नष्ट हो जाता है उसका कुछ भी नष्ट नहीं होता लेकिन जिसका चरित्र नष्ट हो जाता है वह मरे हुए के समान हो जाता है ।

पाश्चात्य संस्कृति में भी सच्चरित्रता का समर्थन करते हुए कहा गया है कि शिक्षा के द्वारा मनुष्यों का चरित्र निर्माण किया जाना चाहिए । प्लेटो ने कहा है कि -

"शिक्षा से मेरा अभिप्राय उस प्रशिक्षण से है जो अच्छी आदतों के द्वारा बच्चों में अच्छी नैतिकता का विकास करती है ।"

स्वामी विवेकानन्द ने चारित्रिक विकास को ही शिक्षा का मुख्य कार्य स्वीकार किया है । उन्होंने कहा है -

"हमें उस शिक्षा की आवश्यकता है जिससे चरित्र का निर्माण होता है, मस्तिष्क की शक्ति बढ़ती है, बुद्धि का विकास होता है और मनुष्य अपने पैरों पर खड़ा हो सकता है ।

× × × × × ×

"जो शिक्षा साधारण व्यक्ति को जीवनसंग्राम में समर्थ नहीं बना सकती, जो मनुष्य में चरित्र बल, परहित भावना तथा सिंह के समान साहस नहीं ला सकती वह भी कोई शिक्षा है ? जिस शिक्षा के द्वारा जीवन में अपने पैरों पर खड़ा हुआ जाता है वही शिक्षा है ।"[2]

गांधी जी ने अपने एक भाषण में कहा था -

---

1. शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त, पाठक एवं त्यागी पृष्ठ - 3
2. शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त पाठक एवं त्यागी पृष्ठ संख्या - 3

"मैं अनुभव करता हूँ और सारे जीवन में अनुभव किया है कि संसार के सभी देशों को केवल चरित्र की आवश्यकता है और चरित्र से कम किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं ।"

चारित्रिक विकास पर जोर देते हुए भूतपूर्व राष्ट्रपति डा. राधाकृष्णन ने कहा है -

"चरित्र भाग्य है । चरित्र वह वस्तु है, जिसपर राष्ट्र के भाग्य का निर्माण होता है । तुच्छ चरित्र वाले मनुष्य श्रेष्ठ राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकते ।"

इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए हरबर्ट ने 'चरित्र निर्माण' को शिक्षा के ध्येय के रूप में स्वीकार किया उसने केन्द्रीय विषय में इतिहास का प्रतिपादन किया । इतिहास में महापुरुषों की कथाओं के द्वारा हरबर्ट विद्यार्थियों में चरित्र का निर्माण करना चाहता है ।

चरित्र है क्या ? इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक 'शापन हावर' ने कहा है कि

"जिस आचरण को समाज मान्यता प्रदान करें तथा जिस पर किसी का प्रतिबन्ध न हो उसे शुद्धाचरण या चरित्र कहा जाएगा ।"

× × × × × ×

"चरित्र के दो अंग हैं सदाचार और नैतिकता । सदाचार का सम्बन्ध सामाजिक आचार विचार से है । नैतिकता का सम्बन्ध आध्यात्मिकता से है । दोनों में से किसी एक की उपेक्षा करने से चरित्र एकागी हो जाता है ।

स्वामी विवेकानन्द ने चरित्र को परिभाषित करते हुए कहा है कि -

"मनुष्य का चरित्र उसकी विभिन्न प्रवृत्तियों का समूह है, उसके मन के समस्त झुकावों का योग है हमारा प्रत्येक कार्य हमारे शरीर की सभी गतिविधियां हमारा

---

1. शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार — पृष्ठ - 22, भाई योगेन्द्र जीत
2. शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त — पाठक एवं त्यागी, पृष्ठ - 27
3. शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार — पृष्ठ - 23

प्रत्येक विचार मन पर एक संस्कार छोड़ देता है, ये संस्कार ऊपरी दृष्टि से अस्पष्ट होते हुए भी अज्ञात रूप से भीतर ही भीतर कार्य करने में विशेष रूप से प्रबल होते हैं हमारी प्रत्येक क्रिया इन संस्कारों द्वारा नियमित होती है । मन के इन संस्कारों का समूह चरित्र है ।"

चरित्र के दो पक्ष बताए गए हैं व्यक्तिगत चरित्र एवं सामाजिक या राष्ट्रीय चरित्र,

व्यक्तिगत रूप से अपने अन्दर गुण सम्पादन करना व्यक्तिगत चरित्र की श्रेणी में आएगा । मेरे किसी कार्य से समाज या राष्ट्र को हानि न पहुंचे मेरे काम राष्ट्र की समृद्धि करने वाले हों - राष्ट्रीय चरित्र की श्रेणी में आएगा ।

मुझे सुख मिले समाज चाहे दुःखी हो मैं भोग भोंगू, अन्यों को चाहे प्राणों की आहूति देनी पड़े, मेरा घर भरे । दूसरे चाहे अन्नाभाव या वस्त्राभाव से तड़पते फिरें, यह राष्ट्रीय चरित्र का अभाव प्रदर्शित करता है । व्यक्तिगत चरित्र और राष्ट्रीय चरित्र दोनों एक दूसरे पर परस्पर आधारित होते हैं ।

चरित्र के सम्बन्ध में पश्चिम का और भारतवर्ष का जो दृष्टिकोण है दोनों में महान अन्तर है । पाश्चात्य दृष्टिकोण चरित्र के सामाजिक पक्षपर ही बल देता है । समाज के लोगों के साथ सम्पर्क में अर्थात वाह्याचरण में व्यक्ति का चरित्र अच्छा होना चाहिए । व्यक्तिगत रूप से चाहे वह कुछ भी करे अर्थात मनुष्य के सामाजिक जीवन और व्यक्तिगत जीवन में अन्तर हो सकता है ।

भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन दोनों शुद्ध और पवित्र होना चाहिए । हम यह मानते हैं कि "चरित्र व्यक्ति की वह सम्पूर्ण आन्तरिक शक्ति तथा तेज है जो उसके सारे व्यक्तित्व को प्रकाशित किये रहता है । इसमें व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही क्षेत्र आ जाते हैं । अतः हम कह सकते हैं कि भारतीय दृष्टिकोण अधिक व्यापक है जबकि पाश्चात्य दृष्टिकोण संकुचित है । भारतीय संस्कृति के उपासक पण्डित दीनदयाल भी इसी मत से सहमत हैं । उन्होंने कहा है -

---

1. स्वामी विवेकानन्द शिक्षा' पंचमाध्याय

"सामूहिक जीवन के इन संस्कारों को मजबूत करना ही प्रगति का मार्ग है । प्रत्येक व्यक्ति 'मैं' और 'मेरा' विचार त्याग कर 'हम' और 'हमारा' विचार करें । अन्यथा कई बार देखा जाता है कि व्यक्ति कहता है कि राष्ट्र के लिए जान हाजिर है और जीवन में सब कार्य व्यक्ति का विचार करना ही करता रहता है । इसमें न व्यक्ति का ही भला न समष्टि का । वास्तव में समष्टि के लिए कार्य करना याने धर्माचरण की भी शिक्षा होती है । उसमें भी संस्कार डालने होते हैं । इन संस्कारों को प्रदान करना ही राष्ट्र का संगठन करना है ।"[1]

पण्ड़ित दीनदयाल जी ने 'व्यक्ति निर्माण' को अति आवश्यक मानते हुए कहते थे कि व्यक्ति को निरोग दीर्घजीवी हृष्ट पुष्ट आनन्दित, प्रसन्न, कार्यक्षम, चरित्रवान, यशस्वी होना जरूरी है । क्योंकि वह जानते थे कि यदि एक एक व्यक्ति निकम्मा अस्वस्थ एवं चरित्रहीन होगा तो निश्चित ही समाज एवं राष्ट्र का पतन हो जाएगा । इसलिए व्यक्ति के गुण विकसित होने चाहिए । निकम्मा, आलसी, दुश्चरित्र व्यक्ति समाज की क्या सेवा करेगा? हमारे यहां कहा गया है कि व्यक्ति के अन्दर -

"धृति-स्क्षमा दमोस्तेयं, शौचमिन्द्रिय निग्रह:
धी: विद्या सत्यम क्रोधो दशकम् धर्म लक्षणम् "

विद्यमान होने चाहिए ऐसे व्यक्तियों से जो समाज बनेगा उसी से राष्ट्र परम वैभवशाली हो सकता है । शिक्षा के बारे में पण्ड़ित जी ने बताया कि -

"शिक्षा वह प्रणाली है वह प्रक्रिया है जिससे कोई समाज अपने सदस्यों को अपने अनुरूप ढ़ालता है । इसलिए शिक्षा व्यष्टि और समष्टि का सम्बन्ध जोड़ने वाला प्रमुख तत्व है । शिक्षा वह प्रक्रिया है जिससे समष्टि अपने आपको पुनरुत्पादित करती है, अपने लिए योग्य नागरिक बनाती है और नागरिक शिक्षित होकर अपने समाज के लिए उपयोगी बनने की चेष्टा करता है तथा आवश्यकतानुसार उत्तम समाज का निर्माण भी करता है ।[2]

---

1. राष्ट्र जीवन की दिशा, दीनदयाल उपाध्याय 'मैं' और 'हम' पृष्ठ - 30
2. उत्तर प्रदेश सन्देश पण्ड़ित दीनदयाल व्यक्ति और विचार डा. मुरलीमनोहर जोशी

अतः "बच्चे को शिक्षा देना समाज के अपने हित में है । जन्म से मानव पशुवत पैदा होता है । शिक्षा और संस्कार से वह समाज का अभिन्न घटक बनता है ।"[1]

पण्ड़ित जी का कहना है कि -

"शिक्षा और संस्कार से ही समाज के जीवन मूल्य बनते और सुदृढ़ होते हैं । इन मूल्यों को बांध रखने के बाद लोकेच्छा की नहीं कभी अपने तटों का अतिक्रमण कर संकट का कारण नहीं बनेगी ।"[2]

"आज भारत जिस रोग से बुरी तरह ग्रस्त है वह है 'चरित्र का संकट' हमारे युवक आदर्शों को छोड़ते जा रहे हैं । आध्यात्मिक दृष्टि से वे एक तरह से शून्य में जी रहे हैं यही कारण है कि वे अज्ञात मंजिल की ओर उद्देश्यहीन एवं हिंसात्मक होकर घिसटते चले जा रहे हैं ।"[3]

विभिन्न आयोगों एवं समितियों ने भी 'चरित्र की शिक्षा' की चर्चा की है । **माध्यमिक शिक्षा आयोग** (1952-53) ने धार्मिक नैतिक शिक्षा की अपेक्षा 'चरित्र की शिक्षा' पर बल दिया तथा सलाह दी कि -

"चरित्र का निर्माण का कार्य एक प्रकार की प्रायोजना है जिसमें विद्यालय के हर शिक्षक को तथा विद्यालय के हर कार्यक्रम को बुद्धिमत्तापूर्ण सहयोग देना चाहिए चरित्र की शिक्षा का कार्यक्रम तब पूरा हो सकेगा जब घर, समाज तथा विद्यालय तीनों का वातावरण उपयुक्त होगा । तीनों को परस्पर एक दूसरे का सहयोग प्राप्त होगा ।"[4]

श्री प्रकाश समिति (1959) ने सुझाव दिया कि -

"शिक्षा के पत्येक स्तर पर चरित्र निर्माण उदान्त संस्कार समाज सेवा की भावना

---

1. एकात्म मानव दर्शन, राष्ट्रजीवन के अनुकूल अर्थरचना,
   शिक्षा समाज का दायित्व — पृष्ठ - 63
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

2.

3. भारतीय शिक्षा की वर्तमान समस्याएं
   धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा — पृष्ठ - 319
   डा. रवीन्द्र अग्निहोत्री

4. माध्यमिक शिक्षा आयोग की रिपोर्ट 1952-53

तथा स्वदेश प्रेम उत्पन्न करने वाले कार्य तथा अध्ययन होते रहना चाहिए ।"[1]

भावात्मक एकता समिति 1962 में गठित हुई डा. सम्पूर्णानन्द इसके अध्यक्ष थे । इस समिति ने भावात्मक एकता के विकास के लिए विद्यार्थियों का चरित्र निर्माण आवश्यक माना और इसके लिए धार्मिक शिक्षा आवश्यक मानी भारतीय संस्कृति के मूल्यों का आंकलन भी आवश्यक माना ।

शिक्षा आयोग ने इस सन्दर्भ में लिखा है -

"आधुनिकीकरण का यह तात्पर्य नहीं है कि हमारे जीवन में नैतिक आध्यात्मिक एवं आत्मानुशासन में मूल्यों के निर्माण के महत्व को पहचानने से इंकार कर दिया जाए ।"[2]

शिक्षा के आधुनिकीकरण के कारण उसमें अनेकानेक दोष उत्पन्न हो गए हैं तथा 'चरित्र का संकट' तो एक महान दोष है इस शिक्षा को मात्र 'पुस्तकीय बोझ' की संज्ञा देते हुए स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है -

'शिक्षा का मतलब यह नहीं कि तुम्हारे दिमाग में ऐसी बहुत सी बातें ठूंस दी जाएं कि अन्तर्द्वन्द होने लगे और तुम्हारा दिमाग उन्हें जीवन भर पचा न सके जिस शिक्षा से हम अपना जीवन निर्माण कर सकें, मनुष्य बन सकें, चरित्र गठन कर सकें और विचारों का सामञ्जस्य कर सकें । वही वास्तव में शिक्षा कहलाने योग्य है । यदि तुम पाँच ही भावों को पचाकर तदनुसार जीवन और चरित्र गठित कर सके हो तो तुम्हारी शिक्षा उस आदमी की अपेक्षा बहुत अधिक जिसने एक पूरे पुस्तकालय को कंठस्थ कर रखा है । कहा भी है -

"यथा खरश्चन्दन भारवा ही भारस्यवेत्ता नतु चन्दनस्य ।" अर्थात वह गधा जिसके ऊपर लकड़ियों का बोझ लाद दिया गया हो, बोझ ही जान सकता है चन्दन के मूल्य को नहीं। यदि इस तरह की जानकारियों का संग्रह करना ही शिक्षा है तब तो ये पुस्तकालय संसार में सर्वश्रेष्ठ मुनि हैं और विश्वकोष ही ऋषि ।"

---

1. भारतीय शिक्षा की वर्तमान समस्याएं — डा. रवीन्द्र अग्निहोत्री
2. तथैव
3. भारत का भविष्य, स्वामी विवेकानन्द — पृष्ठ - 21 — रामकृष्ण मठ नागपुर

अतः तमाम ढ़ेर सारी पुस्तकों को पढ़कर परीक्षाएं पास करके कोई विद्वान तो हो सकता है लेकिन चरित्रवान, पवित्र, धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा की आवश्यकता है ।

"उस वेदों के विद्वान से जिसका जीवन पवित्र नहीं है वह व्यक्ति कहीं अच्छा है जो सच्चरित्र है परन्तु वेदों का ज्ञान कम रखता है ।"

प्राचीन काल की शिक्षा व्यवस्था का मुख्य लक्ष्य चरित्र निर्माण ही था चरित्रवान व्यक्ति विद्वान की अपेक्षाकृत अधिक सम्मान का पात्र था वर्तमान समय में भी शिक्षा व्यवस्था का ऐसा गठन होना चाहिए । 'इस प्रकार की राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का विकास किया जाना चाहिए ।' जिसके द्वारा ऐसी युवा पीढ़ी का निर्माण हो सके जो हिन्दुत्व निष्ठ एवं राष्ट्र भक्ति से ओत प्रोत हो । शारीरिक, प्राणिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से पूर्ण विकसित हो तथा जो जीवन की वर्तमान चुनौतियों का सामना सफलतापूर्वक कर सके और उसका जीवन ग्रामीण वनवासी, गिरिकन्दराओं और झुग्गी झोपड़ियों में निवास करने वाले दीन दुःखी अभाव ग्रस्त अपने वान्धवों को सामाजिक कुरीतियों शोषण एवं अन्याय से मुक्त कराकर राष्ट्र जीवन को समरस, सुसम्पन्न एवं सुसंस्कृत बनाने के लिए समर्पित हो ।"

"चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को कोई गड़ा खजाना खोदकर नहीं थमाया था वरन् ऐसा संकल्प बल उपलब्ध कराया था जिसके सहारे आक्रमणकारियों का मुंह तोड़कर चक्रवर्ती कहला सके थे ।....... गांधी जी ने अपने प्रिय पात्र विनोबा जी को महान प्रयोजनों के लिए मर मिटने की भाव संवेदना प्रदान की थी । उनके सम्पर्क में आने वाले अन्य लोगों ने भी जुझारू प्रतिभा पाई और अपने चरित्र तथा कर्तत्व से जनमानस में गहरी छाप छोड़ने में सफल हो सके ।"

भगवान रजनीश तो जीवन में श्रेष्ठतर मूल्यों के बोध को ही शिक्षा मानते हैं इस परिभाषा के अन्तर्गत वे गैर पढ़े लिखे लेकिन चरित्रवान् व्यक्ति को 'विद्यावान्' शिक्षित मानते हैं । उन्होंने कहा है -

---

1. मनुस्मृति
2. विद्यालोक "हमारा लक्ष्य" प्रकाशक
   भारतीय शिक्षा समिति अवध प्रान्त उ.प्र.
3. युग की मांग प्रतिभा परिष्कार
   श्री राम आचार्य पृष्ठ - 267

'जिसे जीवन में श्रेष्ठतर_ मूल्यों का बोध हो जो निम्न मूल्यों को श्रेष्ठ मूल्यों के लिए समर्पित कर सके वही विद्यावान है.... क्या हम आज के लोगों को शिक्षित कह सकते हैं जिनकी सारी शिक्षा श्रेष्ठतर मूल्यों की हत्या करती हो और निम्नतर मूल्यों को आगे रखती हो ? जो क्षुद्र के लिए विराट् को खो देने के लिए सदा तैयार हों ? जो शरीर के लिए आत्मा बेच सकते हों ? जिनके लिए धन के अतिरिक्त और कोई मूल्य नहीं है जिनके जीवन में पद के अतिरिक्त और कोई यात्रा नहीं है, जिनके जीवन में जिनके चित्त में व्यर्थ के अतिरिक्त सार्थक का कोई ध्यान नहीं उन सारे लोगों को विद्यावान कहा जा सकता है ?"

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने अपनी चन्द्रगुप्त पुस्तक में 'महापद्मानन्द' के लिए कहा है कि व्यसनी व्यक्ति राष्ट्र को भी बेच देता है उसके लिए उसका अपना सुख वैभव, पद, प्रतिष्ठा ही सब कुछ है राष्ट्र कुछ नहीं वह अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए विराट् (राष्ट्र) को भी खो देने के लिए तैयार रहता है । अतः दीनदयाल जी कहते थे कि भारत भूमि में जन्म लेने वाले बालक की उत्तम शिक्षा व्यवस्था वही है जो चरित्र का निर्माण कर सके । ज्ञान संस्कृति और चरित्र के संगम से ही शिक्षा तीर्थराज प्रयाग बनती है । हमारे यहां पुस्तकीय ज्ञान को वास्तविक ज्ञान नहीं माना गया है । शास्त्रों का ज्ञान होने के बाद भी उसे शिक्षित या ज्ञानी नहीं माना गया है । अनुभूत ज्ञान को ही ज्ञान माना गया है ।

"ज्ञान जब दैनंदिनी जीवन में आचरण का सहज स्वाभाविक ढंग से अभिन्न अंग बन जाता है उसी को चरित्र कहते हैं । कथनी व करनी का भेद उज्जवल चरित्र सम्पन्न व्यक्ति में लुप्त हो जाता है ।"

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने कहा था -

"शिक्षे तुम्हारा नाश हो जो नौकरी के हित बनी" । अतः शिक्षा का अर्थ केवल रोजी रोटी कमाना नही तो श्रेष्ठ चरित्रवान व्यक्तियों का निर्माण होना चाहिए ।

---

1. शिक्षा और विद्रोह, भगवान रजनीश — पृष्ठ - 53
   डायमण्ड पॉकेट बुक्स
2. शिक्षा में राष्ट्रीय बोध, सरस्वती शिशु मन्दिर के आधारभूत बिन्दु, विद्या भारती
   "ज्ञान एवं चरित्र" राणा प्रताप सिंह — पृष्ठ - 23

लेकिन वर्तमान समय में शिक्षा के विकास के साथ चरित्र का ह्रास हो रहा है इसका मतलब यह हुआ कि हमारी शिक्षा में कहीं न कहीं कोई कमी अवश्य है ।"

इस सम्बन्ध में ओशो रजनीश का कहना है

"विद्या पीठ बढ़ते हैं, पुस्तकें बढ़ती हैं, मैं सुनता हूँ कि कोई पाँच हजार ग्रन्थ प्रति सप्ताह छप जाते हैं । ..... पाँच हजार ग्रन्थ जिस दुनिया में प्रति सप्ताह छप जाते हों, रोज-रोज विद्यार्थियों की संख्या बढ़ती चली जाती हो लेकिन वह दुनियां तो नीचे गिरती चली जाती हो..... वहां युद्ध और घातक से घातक हुए चले जाते हों वहां घृणा तो और व्यापक हुई चली जाती हो, ईर्ष्या-जलन और तीव्र हुई चली जाती हो तो जरूर कहीं कोई बुनियाद में खराबी है और इस तरह खराबी का जिम्मा और किसी पर इतना ज्यादा नहीं है जितना उनपर जिनका शिक्षा से सम्बन्ध है - चाहे वे शिक्षक हो चाहे शिक्षार्थी हो ।"

वर्तमान समय में हमें कैसी शिक्षा व्यवस्था समाज को देनी चाहिए जिसके द्वारा चरित्र निर्माण का कार्य किया जा सके ? इस प्रश्न के उत्तर में महान विचारक श्री विनायक वासुदेवने ने कहा है -

"शिक्षा का व्यापक प्रसार स्वागत करने योग्य है, किन्तु शिक्षा को केवल पेट पालने की विद्या का जो स्वरूप प्राप्त हो गया है । उसके कारण हमारे सामाजिक जीवन में कई समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं । चरित्रवान, तेजस्वी, धर्मज्ञ और जीवन में आत्म विश्वास के साथ पदार्पण करने वाला युवा वर्ग इन दिनों कहीं नहीं दिखाई देता । ..... इस दृष्टि से पुरानी भारतीय शिक्षा प्रणाली की ग्राह्य बातें खोजकर आज की निर्जीव शिक्षा प्रणाली में प्राण फूंकने का प्रयास अपेक्षित है ।"

---

1. शिक्षा और विद्रोह — पृष्ठ - 9
   ओशो डायमण्ड पाकेट बुक्स
2. पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन खण्ड - 2 एकात्म मानव दर्शन
   एकात्म समाज व्यवस्था — पृष्ठ - 83
   विनायक वासुदेव नेने
   सुरूचि प्रकाशन केशव कुञ्ज, नई दिल्ली

(ग) **प्राचीन संस्कृति तथा भौतिकवाद का समन्वय -**

पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने 'धर्म' को मानव का प्राण माना है । वह कहते थे -

"महत्ता किसी वस्तु की है तो वह "धर्म" है । यदि हमारा प्राण कहीं है तो वह धर्म में है । धर्म गया कि प्राण गया । इसलिए जिसने धर्म छोड़ा वह राष्ट्र से च्युत हो गया । उसका सब कुछ चला गया ।"[1]

और महर्षि कणाद् ने 'धर्म' की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'यतोऽभ्युदय निश्रेयस् सिद्धर्स धर्मः' अर्थात जिससे अभ्युदय (भौतिक उन्नति) तथा निश्रेयस (आध्यात्मिक प्रगति) दोनों की सिद्धि हो वही धर्म है ।"[2]

इसलिए यह स्पष्ट है कि पण्ड़ित जी आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार की उन्नति के पक्षधर थे । वह कहते थे कि -

"राष्ट्रीय दृष्टि से हमें अपनी संस्कृति का विचार करना ही होगा क्योंकि वह हमारी अपनी प्रकृति है, स्वराज्य का स्वसंस्कृति से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है । संस्कृति का विचार न रहा तो स्वराज्य की लड़ाई स्वार्थी और पदलोलुप लोगों की राजनीतिक लड़ाई मात्र रह जाएगी । स्वराज्य तभी साकार और सार्थक होगा जब वह अपनी संस्कृति की अभिव्यक्ति का साधन बन सकेगा ।"[3]

पण्ड़ित जी ने मानव के संकलित जीवन का विचार किया है । प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं आध्यात्म के साथ-साथ भौतिकवाद का समन्वय करना चाहते थे । पण्ड़ित जी उन लोगों से कभी भी सहमत नहीं रहे जो जीवन के किसी एक ही पहलू को महत्वपूर्ण मानकर अन्य पहलुओं की उपेक्षा करते थे । इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है -

"भारतीय जनसंघ के पास एक स्पष्ट आर्थिक कार्यक्रम है परन्तु उसका स्थान

---

1. एकात्म मानव दर्शन — व्यष्टि समष्टि में समरसता — राज्य और धर्म — पृष्ठ - 43 — पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
2. महर्षि कणाद्
3. एकात्म मानववाद — संस्कृति का विचार करें — पृष्ठ - 17

हमारे सम्पूर्ण कार्यक्रम में उतना ही है जितना भारतीय संस्कृति में अर्थ का । पाश्चात्य संस्कृति भौतिकवादी होने के कारण अर्थप्रधान है । हम भौतिकवाद और आध्यात्मवाद दोनों का समन्वय करना चाहते हैं ।"

पण्ड़ित जी ने अपने आर्थिक चिन्तन को लेखबद्ध करते हुए 'भारतीय अर्थनीति : विकास की एक दिशा' नामक पुस्तक की रचना की । इस पुस्तक में उन्होंने 'अर्थायाम' की व्याख्या बहुत ही सटीक ढ़ंग से प्रस्तुत करते हुए बताया कि समाज के लिए अर्थ का अभाव और प्रभाव दोनों हानिकारक हैं । अतः अभाव और प्रभाव दोनों को मिटाकर समुचित व्यवस्था करना ही 'अर्थायाम' है । वे उदाहरण देते हुए कहा करते थे कि जिस प्रकार शरीर को स्वरूप रखने के लिए 'व्यायाम' आवश्यक है उसी प्रकार समाज को स्वस्थ रखने के लिए 'अर्थायाम' की आवश्यकता है । पण्ड़ित जी भारतीय संस्कृति और धर्म से अत्यन्त प्रभावित होते हुए भी भौतिकवाद के विरोधी नहीं थे क्योंकि वे जानते थे कि अर्थ के बिना धर्म नहीं टिक सकता तथा अर्थाभाव के कारण संस्कृति की रक्षा और विकास सम्भव ही नहीं है ।

हमारे देश के कुछ लोगों का यह कहना है कि भारत वर्ष. तो आध्यात्मिक संस्कृति का देश है यहां भौतिकवाद को कभी स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए । इस सन्दर्भ में ओशो रजनीश के कुछ विचार उल्लेखनीय है -

"भारत के इतिहास की बुनियादी भूल यह है कि हमने भौतिक को इन्कार किया है और हमने सोचा कि आध्यात्म कुछ भौतिक का विरोधी है । यह भूल ऐसी ही है जैसे कोई कहे जड़ें फूलों की विरोधी हैं - माना कि जड़ों के लिए आज तक किसी ने गीत नहीं गाया और यह भी माना कि जड़ों की आज तक किसी ने प्रशंसा नहीं की लेकिन ध्यान रहे, जड़ों के बिना इस जगत में एक भी फूल नहीं खिल सकता ।....... फूलों को प्रेम करना ही फूलों को बचाने के लिए पर्याप्त नही हैं जड़ों को भी प्रेम करना पड़ता है । .....मेरा कहना

---

1. दीनदयाल उपाध्याय राष्ट्रचिन्तन अध्याय 13 विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था पृष्ठ - 89 राष्ट्रधर्म पुस्तक प्रकाशन, लखनऊ

है भौतिकवाद जीवन का आधार बने आध्यात्म जीवन का शिखर न तो शिखर को इंकार करना उचित है न दुनिया को इंकार करना उचित है जीवन इकट्ठा है

पण्ड़ित दीनदयाल जी ने अपने अनेक भाषणों में कहा है कि जीवन के लिए आध्यात्म और भौतिकता दोनों आवश्यक है । भारतीय संस्कृति एकात्मवादी है वह सम्पूर्ण जीवन का सम्पूर्ण सृष्टि का संकलित विचार करती है । हमारे यहां कहा भी गया है कि

"जो लोग केवल भौतिकवाद का विचार लेकर चलते हैं वे अन्धकार को प्राप्त होते हैं जो केवल आध्यात्म को लेकर चलते हैं वे घोर अन्धकार को प्राप्त होते हैं । पहले अर्थात (भौतिकवाद) से मृत्यु को जीतना चाहिए और दूसरे (आध्यात्मवाद) से अमरता प्राप्त करनी चाहिए । शरीर के लिए भौतिक सुख तथा जीवन की सार्थकता के लिए आध्यात्मिक सुख चाहिए । वास्तव में भौतिक व आत्मिक सुख अलग अलग नहीं हैं । कपड़े के ताने-बाने के समान परिगुम्फित हैं ।

पण्ड़ित दीनदयाल जी ने भारतीय संस्कृति को भी उतना ही स्वीकार कियसा है जितना जीवन के विकास के लिए हितकर है रूढ़िवादिता या अन्धविश्वास को नकारा है तथा भौतिक वाद को भी जीवन में आवश्यकताओं की पूर्ति भर के लिए स्वीकार किया है । किसी को भी सर्वस्व नहीं माना जैसा कि उनके विचारों से पता चलता है -

"हमने अपनी प्राचीन संस्कृति का विचार किया है लेकिन हम कोई पुरातत्ववेत्ता नहीं है । हम किसी पुरातत्व संग्रहालय के संरक्षक बनकर नहीं बैठना चाहते । हमारा ध्येय संस्कृति का संरक्षण नहीं है अपितु उसको गति देकर सजीव व सक्षम बनाना है । हमें अनेक रूढ़ियां समाप्त करनी होंगी, बहुत

---

1. शिक्षा में क्रान्ति - भगवान रजनीश अंध विश्वासों से मुक्ति — पृष्ठ - 14, 15 — डायमण्ड पाकेट बुक्स
2. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय कर्तत्व एवं विचार दार्शनिक अभिधारणाएं, एकात्म सुख — पृष्ठ - 386 — डा. महेश चन्द्र शर्मा

से सुधार करने होंगे ।"

अतः प्राचीन भारतीय संस्कृति के नाम पर आँख बन्द करके चलते जाना पण्ड़ित जी के जीवन में नहीं था और भौतिकवाद के नाम पर विलासिता के पूर्ण रूपेण विरोधी थे । जैसे उनका कहना था कि -

"जितनी भौतिक आवश्यकताएं हैं उनकी पूर्ति का महत्व हमने स्वीकार किया है परन्तु उन्हें सर्वस्व नहीं माना ।"

भारतीय संस्कृति और हिन्दुत्व की पताका पूरे विश्व में फहराने के बाद शिकागो के सर्वधर्म सम्मेलन से वापस लौटकर स्वामी विवेकानन्द जी ने भारत में पुनर्जागरण का मंत्र फूंका । उन्होंने अपने लेखों और भाषणों में कहा कि भारत की उन्नति के लिए हमें भारतीय संस्कृति और पाश्यचात्य भौतिकवाद का समन्वय करना पड़ेगा ।

भारत भ्रमण करते हुए स्वामी जी ने भारत की सांस्कृतिक समृद्धिता आध्यात्मिक समृद्धिता के दर्शन किये थे और विश्व भ्रमण के दौरान पाश्चात्य देशों की भौतिक समृद्धिता का साक्षात्कार किया था । अतः उनकी इच्छा थी कि यदि भारतीय संस्कृति और भौतिकवाद का समन्वय भारत में हो जाए तो निश्चित ही यह कार्य सोने में सुगन्ध जैसा सिद्ध होगा उन्होंने अपनी पुस्तक, "मेरे देशवासियों के प्रति" में लिखा है -

"भारतीय धर्म के आधार पर क्या तुम यूरोप जैसा समाज बना सकते हो ? मुझे विश्वास है कि यह सम्भव है और यह होना भी चाहिए ।"

भारतीय संस्कृति और भौतिकवाद के समन्वय के लिए भारतीय जनता का आव्हान करते हुए उन्होंने कहा है -

"हमें निर्भीक होकर घर के सब दरवाजे खोल देने होंगे संसार के चारो ओर से प्रकाश की किरणें आएं, पाश्चात्यों का तीव्र प्रकाश भी आए जो दुर्बल है दोषयुक्त है, उसका नाश होगा ही यदि वह चला जाता है तो जाए, उसे रखकर

---

1. एकात्म मानव दर्शन, राष्ट्रीय जीवन के लिए अनुकूल अर्थरचना — पृष्ठ - 74
   पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
2. तथैव — एकात्म मानववाद — पृष्ठ - 26
3. मेरे देशवासियों के प्रति, अध्याय 6 — पृष्ठ - 45
   स्वामी विवेकानन्द

उन्होंने कहा -

"इस दृष्टि से हमें अनेक रूढ़िया समाप्त करनी होगी, बहुत से सुधार करने होंगे जो हमारे 'मानव' का विकास और राष्ट्र की एकात्मता की वृद्धि में पोषक हो वह हम करेंगे और जो बाधक होगा उसे हटाएंगे ।"

पण्ड़ित जी पाश्चात्य विचारों के प्रति भी छुआछूतवादी नही थे परन्तु वे उसमें डूबना नहीं चाहते थे । उनका कहना था कि -

"हम पश्चिम के चिन्तन का लाभ उठा सकते हैं किन्तु न तो हम उससे अभिभूत हो, न उसे ध्रुव सत्य मान कर चलें । यह देश और काल दोनों ही दृष्टियों से ठीक नहीं होगा ।"

पण्ड़ित जी भारतीय जनसंघ को एक स्वतन्त्र पहचान वाला राजनैतिक दल बनाना चाहते थे जो भारत पर पाश्चात्य विचारों के आरोपण का प्रतिकार कर सके तथा विश्व में भारत की स्वतन्त्र छवि उभार सके । अतः वे अपने भारतीय जीवन मूल्यों को आगे रखकर ही चिन्तन करते थे और कहते थे

"हमें ज्ञान का आदान प्रदान विश्व के प्रत्येक देश से करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए पर ऐसा करते समय हमें अपने जीवन मूल्यों को स्मरण रखना होगा ।"

बम्बई के अपने ऐतिहासिक भाषण में जब उपाध्याय जी ने 'एकात्म मानववाद' की व्याख्या प्रस्तुत की तब बहुत ही भावपूर्ण शब्दों में उन्होंने अपने व्याख्यान का समापन करते हुए कहा -

"विश्व का ज्ञान और आज तक की अपनी सम्पूर्ण परम्परा के आधार पर हम ऐसे भारत का निर्माण करेंगे जो हमारे पूर्वजों के भारत से भी अधिक गौरवशाली

---

1. वही — राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल अर्थरचना — पृष्ठ - 74
2. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय — कर्तत्व एवं विचार — एकात्ममानववाद — डा. महेश चन्द्र शर्मा — पृष्ठ - 413
3. पाञ्चजन्य — 21 फरवरी 1966 — पृष्ठ - 10

होगा, जिसमें जन्मा मानव अपने व्यक्तित्व का विकास करता हुआ सम्पूर्ण मानवता ही नहीं अपितु सृष्टि के साथ एकात्मता का साक्षात्कार कर नर से नारायण बनने में समर्थ हो सकेगा । यह हमारी संस्कृति का शाश्वत दैवी प्रवाहमान रूप है । चौराहे पर खड़े विश्व मानव के लिए यही हमारा दिग्दर्शन है । भगवान हमें शक्ति दे कि हम इस कार्य में सफल हों यही प्रार्थना है ।"

उपरोक्त अध्ययन के परिणाम स्वरूप यह कहा जा सकता है कि पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय ने अपने विचारों के द्वारा भारतीय संस्कृति और भौतिकवाद का समन्वय करते हुए 'एकात्म मानववाद' नामक नव रसायन का निर्माण किया है जो भारत के लिए ही नहीं अपितु विश्व मानव के लिए विकास का मार्ग प्रशस्त करता है । डा. महेश शर्मा ने पण्ड़ित जी 'एकात्म मानववाद' का विवेचन करते हुए लिखा है -

"राजाराम मोहन राय से लेकर दीनदयाल उपाध्याय तक लगभग अस्सी वर्ष का कालखण्ड है जिसमें पाश्चात्य एवं भारतीय जीवन दर्शन व्यवहार व तत्व ज्ञान में एक सतत् संघर्ष चल रहा है । इस मंथन का 'नव रसायन' 'एकात्म मानव वाद' ही होगा क्या, यह तो कहना कठिन है लेकिन यह विचार भारत की इस शताब्दी की प्रखर मनीषा का प्रतिनिधित्व करता है, जो भारत को भारत बनाए रखना चाहती है पर दुनियां से कहकर नहीं जो भारत को आधुनिक बनाना चाहती है पर पश्चिम की प्रतिकृति नहीं, जो जागतिक ज्ञान विज्ञान का उत्कर्ष चाहती है पर आध्यात्म को छोड़कर नहीं जो संसार के नवीनतम प्रयोगों में योगदान करना चाहती है पर स्वयं को भूलकर नहीं । विवाद केवल तत्वों के अनुपात व प्रक्रिया का है । कुछ भारत को ज्यादा भारत व कम दुनियां बनाना चाहते हैं, कुछ दुनियां बनाने के आग्रह में भारत तत्व पर कमजोर देना चाहते हैं । किसी का आधुनिकता पर ज्यादा जोर है तो किसी का मौलिकता पर

---

1. एकात्म मानवदर्शन, ,
राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल अर्थरचना
'हम विराट जाग्रत करें' पृष्ठ - 76
पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय

किसी का आध्यात्म पर ज्यादा जोर है तो किसी का पदार्थ पर किसी को नए प्रयोग का ज्यादा उत्साह है तो किसी को प्राचीन का ज्यादा आकर्षण । इस सारे विवाद को अपने में समेट कर चलने की आकांक्षा प्रत्येक भारतीय विचारक की रही है । सफल तो कोई भी नहीं हो पाया क्योंकि हर एक का अपना अपना आग्रह भी रहा है ।"

लेकिन पण्ड़ित जी के बारे में निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है उनकी कल्पना मानव जाति तक ही सीमित नहीं है । उनका समन्वयवाद इस बात का द्योतक है कि मानव चेतना विश्वव्यापी चेतना के रूप में विकसित हो सकती है । इसलिए वे संकुचित दायरे वाले न होकर मानववादी थे उन्होंने अपनी विचार प्रणाली के लिए उपयुक्त नाम 'समन्वय वाद' ही दिया । वे हंसते-हंसते कहा भी करते थे । भाई हम न समाजवादी न साम्यवादी है न पुरातनवादी हैं न भौतिकवादी हम तो 'समन्वय वादी' हैं ।

---

1. पण्ड़ित दीनदयाल उपाध्याय
   कर्तत्व एवं विचार
   "एकात्म मानववाद"
   डा. महेश चन्द्र शर्मा

घ - राष्ट्रीयता

भारतीय चिन्तन में "राष्ट्र" की परिकल्पना अति प्राचीन है । विश्व के प्राचीनतम् ग्रन्थ यजुर्वेद में कहा गया है "वयं राष्ट्रे जागृयातः"[1] अर्थात हमें राष्ट्र के प्रति जागरूक रहना चाहिए । श्री सूक्त में ईश्वर से प्रार्थना की गयी है "प्रादुर्भतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन कीर्ति वृद्धि ददातु मे"[2] मैं इस राष्ट्र में उत्पन्न हुआ हूँ । अतः मुझे कीर्ति तथा उत्कर्ष प्रदान करो । अतः निश्चित ही इस राष्ट्र की एकता और समरसता के बीज भी उसी प्राचीन काल में बो दिए गए होगें जो कि राष्ट्र जीवन की इस लम्बी अवधि में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहकर इसकी निरन्तरता को अक्षुण्ण बनाए रहे । राष्ट्रीयता एक आन्तरिक भावना है । नागरिक इसी भावना से एक दूसरे में पारस्परिक सहयोग करते हैं । वैदिक साहित्य में इस प्रकार की भावना व्यक्त करते हुए प्रार्थना की गयी है कि सभी व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न है । राष्ट्र में नागरिकों का एक समान आचरण समान बचन, समान मन होने की कामना की गयी है । "सं गच्दघ्यवं संवदहवं सं वो मनासि जानताम् ।" महर्षि वाल्मिकी ने भगवान राम के मुख से अपने राष्ट्र के प्रति मातृवत् स्नेह व्यक्त कराते हुये लिखा है -

" अपिस्वर्णमयी लंका नमें लक्ष्मण रोचते ।
जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादृपि गरीयसी ।"

रामायण काल हो या महाभारत काल, अनेक छोटे राज्यों के रहते हुए भी देश एक राष्ट्र था और राष्ट्रीय एकता के प्रवाह में जग भी कोई बाधा उपस्थित हुई तो श्रेष्ठ, न्यासी, विद्वान और चक्रवर्ती राजाओं ने एकता की धारा को आगे बढ़ाने का कार्य किया । राष्ट्र के सांस्कृतिक ऐक्य के लिए ही यज्ञ की व्यवस्था होती थी । पारस्परिक ईर्ष्या और द्वेष वैर तथा घृणा विदेशियों को देशपर पैर जमाने का अवसर देती है । विदेशियों द्वारा सत्ता हथियाने पर उनका प्रतिशोध राष्ट्रीयता की कोख से पैदा होता है । मातृभूमि को आक्रान्ताओं से मुक्त कराना जन जन का लक्ष्य बन जाता है । सिकन्दर महान् को भारत से खदेड़कर भारतीय इतिहास में गौरवशाली पृष्ठ जोड़ने का कार्य

---

1. यजुर्वेद की पंक्ति
   भारत में राष्ट्रवाद - ब्रहमदत्त अवस्थी — पृष्ठ-62
2. राष्ट्रीय एकता तथा समरसता
   वा.मो.आठले — पृष्ठ-3

राष्ट्रीय स्वाभिमान से ओतप्रोत नवजवानों, किसानों तथा सन्यासियों ने किया । भारत विजय का स्वप्न लेकर आने वाला सिकन्दर वापस जाकर इसी अघात से मर गया । छोटे-2 हिन्दू राज्यों ने सैकड़ो वर्षो तक अरबों के आक्रमणों को विफल किया । लेकिन ज्यों ज्यों राष्ट्रीय स्वाभिमान क्षीण हुआ । निम्न कोटि का तुर्क सेनापति मुहम्मद गोरी लाहोर से चलकर सीधा दिल्ली पहुँच गया । बारहवीं शताब्दी में भारत का सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक पतन गुलामी में परिवर्तित हुए बिना नही रूका आक्रान्ता पुर्तगाली, फ्रान्सीसी और अंग्रेज, व्यापारी बनकर भारत पर छा गए । भारत माँ को पराधीनता की बेड़ियों मे जकड़ दिया ।

राजाराम मोहन राय, स्वामी विवेकानन्द व दयानन्द जैसे लोगो ने भारत को पुनः सशक्त बनाकर स्वतन्त्र कराने के लिए जनजागरण प्रारम्भ किया । इस धारा को लोकमान्य तिलक महर्षि अरविन्द गोखले, रानाडे, महात्मा गाँधी, जवाहर लाल नेहरू तथा विनायक दामोदर सावरकर ने आगे बढ़ाने का काम किया । इसी समय पं.दीनदयाल उपाध्याय राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के प्रचारक के नाते सार्वजनिक क्षेत्र में कार्य कर रहे थे ।

1945 से 1951 तक उन्होनें उत्तर प्रदेश के सह प्रान्त प्रचारक के रूप में कार्य किया । उन्होनें संगठनात्क कार्य के साथ-2 संघ विचार के प्रसार व लोक शिक्षण के लिए सप्ताहिक व मासिक पत्र पत्रिकाएं प्रकाशित करना प्रारम्भ किया । संघ में सामान्यतः नौजवान विद्यार्थी ही आते थे । ऐतिहासिक पात्रों के ललित साहित्य के माध्यम से उन्होनें संघ विचार अर्थात् राष्ट्रीय प्रेम को नव जवानों में भरने के लिए चन्दगुप्त एवं जगदगुरू शंकराचार्य नामक दो पुस्तकों की रचना की । पं0 जी ने इन दोनो पुस्तकों को क्रमशः 1946-47 में लिखा । इस समय भारत परतन्त्रता की पीड़ा से कराह रहा था । अतः पं0 जी जैसे प्रखर राष्ट्र चिन्तक का चिन्तित होना स्वाभाविक था । परतन्त्रता के कारणों और निदान के लिए उन्होनें इतिहास की गहराई से अध्ययन किया तथा "चन्द्रगुप्त" और "चाणक्य" से बहुत अधिक प्रभावित हुए । चाणक्य ने छिन्न विछिन्न भारत को एकसूत्र में बांध कर सिकन्दर जैसे योद्धा को खदेड़ दिया तथा चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य को चक्रवर्ती सम्राट बनवाया । ठीक इसी तरह पं0 जी ने फूटे-बिखरे आपसी राग-द्वेष में

लिप्त राजाओं एवं हिन्दुओ को संगठित करके चन्द्र गुप्त जैसे कुशल नवयुवकों का देशव्यापी अमेद्य संगठन को खडा करके भारत भूमि को स्वतंत्र कराना चाहते थे । युवकों के अन्दर शौर्य एवं उत्साह का संचार करने के लिए उन्होने चन्द्रगुप्त व चाणक्य को सशक्त माध्यम माना । चन्द्रगुप्त नामक अपनी मृति में पं0 जी ने चन्द्रगुप्त व ' चाणक्य ' के माध्यम से स्वातन्त्र व प्रयत्नों की ओर किशोर हृदयों को प्रवृन्त करने का सफल प्रयास किया है । हमारे देश की आपसी फूट की ओर इंगित करते हुये उन्होने ' चन्द्रगुप्त ' में लिखा है ' यहां के राजा लोग यह कहाँ समझते है कि पडोसी के राज्य पर हमला है तो हम भी वहां जाकर शत्रु का सामना करें। जो दुष्ट प्रकृति के है वे तो पडोसी पर आपत्ति आई देखकर प्रसन्न होगें और जो जरा सज्जन है वे अपने राज्य को बचाने की चिन्ता करेगें । परन्तु दूसरे की जाकर सहायता नहीं करेगें .....[1]

चन्द्रगुप्त व चाणक्य की प्रथम भैंट कें समय चाणक्य ने चन्द्रगुप्त से कहा " सैनिक आज अतिमसुन्दर मगध जीतने की लालसा से उस पर आक्रमण कर रहा है । और तुम मगध छोडकर यहां विचरण कर रहे हो ।क्या तुमको अपने कर्तव्य का ज्ञान नहीं है ? क्या तुम यह नहीं समझते कि मगध के हारने से समस्त भारत परतन्त्र हो जायेगा '[2]

चाणक्य का उपरोक्त कथन किसी भी किशोर हृदय को स्वतंत्रता की बलवेदी पर चढ जाने के लिये पर्याप्त है ।

पं0 दीनदयाल जी ने दूसरी कृति जगतगुरू शंकराचार्य के माध्यम से स्वतंत्रता आन्दोलन के लिये जवानों को प्रेरित करके उनमें देश प्रेम की उत्कृत भावना का समावेश करके राष्ट्र के लिए जीवन समर्पण करने की आंकांक्षा उत्पन्न करना चाहते थे ।

शंकराचार्य ने जिस प्रकार बौद्ध धर्म की विकृति से हिन्दू समाज की रक्षा की थी उसी प्रकार पं0 दीन दयाल जी भी तत्कालीन विदेशी दासता से देश को मुक्त कराना चाहते थे । तत्कालीन समाज में व्यक्तिगत स्वार्थो में लिप्तता एवं समाज की ओर दुलक्ष्य दीनदयाल जी को पीडा पहुचा रहा था अतःउन्होने लिखा " जो अपने समाज के लोगों को अपना नहीं समझता जिसके

1- सम्राट चन्द्रगुप्त पं0 दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ 20

2- तदैव गुरू व शिष्य की प्रथम भैंट पृष्ठ 30

हृदय में अपने लोगों के लिए प्रेम नहीं है ममता नहीं , उसका अन्न खाकर क्या धर्मवृन्ति उत्पन्न होगी ?[1]

पं.दीनदयाल जी अपनी इस कृति के माध्यम से सोये हुये समाज को जगा कर राष्ट्र के प्रति समपर्ण के लिये तैयार करना चाहते थे । स्वार्थ से ग्रस्त समाज का हृदय झकझोरते हुये उन्होने कहा " हम अपनी इन आंखों से शक और हूणों के अत्याचार नहीं देखते ? इन पाशविक कृत्यों को देखकर हमारा हृदय क्यौ नहीं रोता ? सूनी आंखों में क्या अपने इन बिन्दुओं के लिये दो आंसू भी शेष नहीं रह रहे ' ...[2]

अपनी राष्ट्रीय एवं प्राचीन परम्परा की रक्षा का आवाहन करते हुये पं0 जी ने लिखा है " उसका तो एक ही धर्म है अपने शासन की जडें मजबूत करना और उसके लिये ही वह सब प्रकार के प्रपंच रचता है । उसी के निमित्त इन शासकों के प्रपंच थे । वे जानते है कि यदि भारत वर्ष की प्राचीन परम्परा बनी रही इसकी सामाजिक व्यवस्था बनी रही तो यह सदैव के लिये हमारे चंगुल मे नहीं रह सकेगा । " ...[3]

स्वतंत्रता के पश्चात देश में जिस तरह की एकता चरित्र निर्माण एवं धार्मिक सामाजिक तथा राजनैतिक उन्नति होनी चाहिये थी वह नहीं हो सकी । सभी क्षेत्रों में गिरावट आयी राष्ट्रीय पतन एक प्रश्न बन कर सामने उपस्थित होने लगा । देशभक्तों के माथे पर चिन्ता की रेखायें झलकने लगी । पं0 जी ने सइस विकराज समस्या का निदान प्रस्तुत किया उन्होने कहा कि " नि:सन्देह इसका एक ही उत्तर है कि हम अपने पैरों पर नहीं खड़े है जिन्होने अपना आधार खो दिया है उन्हें बहना ही पड़ेगा । एक वृक्ष जो जड़ से उखड़ गया तथा बाढ़ के प्रवाह में आ गया है, जल की प्रत्येक धारा के साथ इधर उधर फैका जाता है । हमारा सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन अपना जड़मूल खो बैठा है । इस पतन को रोकने का केवल एक ही उपाय है कि राष्ट्रीय जीवन का सच्चा साक्षात्कार किया जाये । बिना शुद्ध राष्ट्रभाव के कोई राष्ट्र प्रगति की कौन कहें अपनी स्वतंत्रता भी टिकाये नहीं रख सकता ।' ..[4]

---

1. जगतगुरू शंकराचार्य बाल्यकाल पं0 दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ सं0 9
2. तदैव राष्ट्रधर्म और सम्प्रदाय पृष्ठ 87
3. तदैव पृष्ठ 89
4. राष्ट्रजीवन की दिशा सारांश पं दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ 183

पं0 दीनदयाल उपाध्याय अपनी लेखनी के माध्यम से कार्य एवं व्यवहार के माध्यम से राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के बौद्धिक वर्गो के माध्यम से समाज में राष्ट्रीयता की भावना भरने का सफल प्रयास करते रहे । अपने सम्पूर्ण विवेचन में पं0 दीन दयाल उपाध्याय जी ने अपने सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की कल्पना को साकार करने का प्रयास किया है पं0 ' सनातन धर्मी ' होने के नाते प्राचीन से कटकर आधुनिक बनने की प्रवृत्ति को राष्ट्रीय जीवन के लिए अहितकर मानते थे । अतः भारतीय राष्ट्रजीवन के पुन निर्माण की बेला में पाश्चात्य सम्पर्क प्रभाव के कारण कटी हुयी नयी पीढी को अपनी प्राचीन अवधारणाओं से सुसम्बद्ध करना चाहते थे । उनका कहना था " इतने लम्बे काल खण्ड में हमारी प्रकृति और परम्परा अक्षुण्ण रही हमें इसका ठीक विचार कर अपनी प्रतिमा के भरोसे आधुनिक प्रगति की दिशा निर्धारित करनी होगी । हमारी जीवन पद्धति हमारा मार्गदर्शन करने के लिये विद्यमान है । यह सही है कि हम हजारों वर्षो के इतिहास को जैसा का वैसा लेकर नहीं चल सकते तथापि हमारी जीवन पद्धति के जो मूल तत्व है उन्हें भुलाकर हम नहीं चल सकते । हमें उन्हें युगानुकूल बनाकर ग्रहण करना होगा । नूतन सूझ बूझ और पुरातन गुण गरिमा का मणिकांचन संयोग उपस्थित करने चलना होगा । आधुनिक कार्य योजना और पुरातन संदर्भ शिक्षा लेकर नव निर्माण के चरण बढ़ाने होगें ...[1]

---

1. राष्ट्र जीवन की दिशा आधुनिक प्रगति की दिशा सारांश पं0 जी0 पृष्ठ 191

च- मात्रभाषा का विकास

पं0 दीनदयाल उपाध्याय अपने जीवन काल चल रहे भाषा विवाद में सक्रियता पूर्वक शामिल कर हमेशा अपने तर्क पूर्ण मन प्रस्तुत करते रहे । उनका कहना था मुस्लिम आक्रमणों के सम्पर्क से उत्पन्न एवं अंग्रेजों के कारण आरोपित अंग्रेजी राष्ट्रीय स्वाभिमान को आहत करने वाली भाषायें है पं0 जी भाषा को राजनीति का मुद्दा नहीं बनने देना चाहते थे । उनका मानना था कि भाषा को राजनीति का मुद्दा बना देने से हिन्दी के विकास में बाधा उत्पन्न हुई है । उपाध्याय जी ने कहा भी है कि राजनीतिज्ञ भाषा के नाम पर लड़ सकते है पर भाषा का सृजन नहीं कर सकते ..[1]

पं. दीनदयाल उपाध्याय का कहना था कि यदि हिन्दी अंग्रेजी की अपेक्षाकृत ज्यादा अच्छी है तब भी हिन्दी हमारे स्वाभिमान का विषय है न कि अंग्रेजी, अंग्रेजी के हटने से ही हमारे राष्ट्रीय स्वाभिमान को संतुष्टि होगी । इसलिए अंग्रेजी के गुणों और लोगों की रट लगाने से कोई लाभ नहीं हम अंग्रेजी शासन को नहीं रख सकते थे चाहे उससे जो लाभ रहे हो हमारे स्वतंत्रता संग्राम के प्रारम्भिक दिनों में ब्रिटिश समर्थक तथ्वों को हमारा सामान्य उत्तर होता था कि ' स्वराज्य ' की प्यास को ' सुराज्य ' से नहीं बुझाया जा सकता । आज भी 'स्वभाषा ' की आवश्यकता की पूर्ति ' सुभाषा ' से नहीं हो सकती । [2]

पं0 जी अंग्रेजी की मानसिक दासता का चिन्ह मानते हुये कहते है कि यदि हमारे राष्ट्रीय जीवन का आयोजन और मार्गदर्शन अंग्रेजी में निहित आदर्शो के अनुसार होता है तो यह हमारी मानसिक दासता का चिन्ह है ? जितने शीघ्र हमसे मुक्ति पालें उतना ही अच्छा । इन आदर्शो का पालन और उन्नमन कर हम राष्ट्राभिमान नहीं पैदा कर सकते । हम पाश्चात्यों के मार्गो और पद्धतियों का अनुसरण कर केवल उनका मर्करानुकरण कर सकते है । अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं प्रकट कर सकते है । जब तक अंग्रेजी चलती रहती है तब तक हम अपने

---

1. राष्ट्रभाषा की समस्या पं0 दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ 3।
2. पोलिटकल डायरी " स्वभाषा और ' सुभाषा ' पृष्ठ 90-91।

सांस्कृतिक पुनुरूद्धार की जीवन दायिनी मुक्त वायु में सांस नहीं ले सकते । आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान सीधे प्राप्त न कर सकने का जोखिम उठा कर भी हमें विदेशी भाषा के चंगुल से अपने को मुक्त कर लेना चाहिये । अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिम की नकल करके हम विश्व को जो कुछ दे सकते है उससे कई गुना अधिक मूल्यवान योगदान हम अपनी भाषाओ के द्वारा दे सकते है "---[1]

स्वतंत्र भारत में अंग्रेजी राज भाषा बनी रहे ऐसा दीन दयाल जी को कदापि स्वीकार्य नहीं था उनका मानना था कि जिस प्रकार अंग्रेजी राज्य का स्थान स्वराज्य ले लिया है उसी प्रकार अंग्रेजी का यह स्थान स्वाभाविक रूप से हिन्दी को मिलना चाहिये । पं0 जी हिन्दी को स्वाभाविक राजभाषा निरूपित करते हुये कहते है " संस्कृत यदि विद्वानों और भद्रपुरूषों की संपर्क भाषा थी तो सामान्य लोगों की सम्पर्क भाषा हिन्दी थी । मध्य काल के साधुओं ने इसका खुलकर और बारम्बार प्रयोग किया । उन लोगों द्वारा रचित अनेक हिन्दी कवितायें हमें मिलती है यद्यपि उनकी मात्र भाषा हिन्दी नहीं था हमारे सुदीर्घ स्वरूप संघर्ष काल में हिन्दी अन्तर - सम्पर्क का स्वाभाविक माध्यम थी। भूषण ने छत्रपति शिवाजी पर हिन्दी में काव्य रचना की गुरू गोविन्द सिंह ने अपने अनुयायियों को हिन्दी में उपदेश दिये 1857 में अंग्रेजी को भगा देनी की योजना हिन्दी के माध्यम से बनी । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने हिन्दी के माध्यम से ही राष्ट्र का तेजन्स्वितापूर्ण आहृवान किया । गांधी ने अंग्रेजी के विरूद्ध शांतिपूर्ण विद्रोह के निमित्त सनन्द्ध करने की दृष्टि से जनता को उत्साहित करने के लिये हिन्दी को ही उचित माध्यम माना । " .. 2

आजादी के बाद भारत की ' राजभाषा ' कोई स्वदेशी भाषा होनी चाहिये यह लगभग निर्विवाद रूप से राष्ट्रीय सहमति का मुद्दा रहा है । वह भाषा कौन सी हो, इस विषय में थोडी हिचक तथा विवरणात्मक विवाद के बाद सब सहमत हो जाते है कि वह भाषा हिन्दी ही हो सकती है इसको व्यवहारिक रूप कैसे दिया जाये, यह बडा कठिन कार्य है । संविधान निर्माताओं ने इसके लिये 15 वर्ष का संक्रांतिकाल तय किया था । इसके पीछे मानस यह था कि क्रमशः हिन्दी राजभाषा का स्थान ग्रहण करेगी । तथा अंग्रेजी हटेगी केन्द्र का यही क्रम प्रान्तों में चलेगा, अंग्रेजी हटेगी तथा प्रान्तीय भाषायें स्थान ग्रहण करेगीं ।

---

1. पालोटिकल डायरी पं. दीनदयाल उपाध्याय स्वभाषा और सुभाषा पृष्ठ 91
2. तदैव पृष्ठ 89-90

दीनदयाल उपाध्याय मानते हैं कि "26 जनवरी 1965 के बाद अँग्रेजी का जारी रहना राष्ट्रीय लज्जा का विषय है ।"[1] इसके लिये वे सरकार की दुर्बल इच्छाशक्ति को कारणीभूत मानते हैं। अंग्रेजी समथकों की आड़ में हिन्दी के लिये जो करना था उस अनकिये को वह छुपाना चाहती है । वे कहते हैं, "हिन्दी के प्रश्न पर जब बहुतांश एकमत है, शासन की नीति के कारण ही विवाद खड़ा हो गया है । आज तक शासन ने पारिभाषिक शब्द क्यो 'नही' बनाये । क्या राजाजी ने उसको रोका था ? उन्होंनें टंकण के मापकपटल क्यों नही सुधारे ? उसमें किस हिन्दी विरोधी ने बाधा डाली थी ? बाधा हिन्दी विरोधियों की नही, शासन की उपेक्षा टाल मटोल एवं उदासीनता की नीति की ही है।[2]

अँग्रेजों के समय से चला आया भृत्यवर्ग एवं दक्षिण के अहिन्दी भाषी राजनेता किसी न किसी बहाने अँग्रेजी को बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं । इसी संदर्भ में मई 1959 में भारतीय संसद के आंग्ल भारतीय सदस्य फ्रेंक ऐंथोनी ने संसद में प्रस्ताव रखा कि " संविधान में संशोधन करके भारतीय भाषाओं की अष्टम अनुसूची में अँग्रेजी को सम्मिलित किया जाये । दीनदयाल उपाध्याय ने इसका विरोध किया तथा कहा कि " अँग्रेजी आंग्ल भारतीयो की मातृभाषा नही है । यह तो अँग्रेजी माध्यम के मिशनरी स्कूलों के राष्ट्रीयता विनाशक प्रभाव की भाषा है ।"[3] इसी प्रकार दक्षिण भारत में 1965 मे भड़के हिन्दी विरोधी दंगों को उन्होने " लज्जाजनक" बताया ।

1965 के बाद भी अँग्रेजी सहयोगी राजभाषा के रूप में चलती रहेगी, इस सरकारी विधान की आलोचना करते हुए उपाध्याय लिखते हैं " संविधान में सहयोगी राजभाषा के रूप में अंग्रेजी अथवा किसी अन्य भाषा की कल्पना नही की गई है । संविधान निर्माताओं को न यह शब्द सूझा न उन्होने इसकी आवश्यकता समझी ।" उन्होने कहा ' सहयोगी राजभाषा ' केवल नीतिपूर्ण, शब्दावली है। वास्तव में सरकार अँग्रेजी का प्रमुख भाषा के नाते ही व्यवहार कर रही है ।" उपाध्याय ने पुरजोर आग्रह किया कि कम से कम " विदेशों से व्यवहार करते समय निश्चित रूप से हमें हिन्दी का ही उपयोग करना चाहिये । हमें तो अपने स्वाभाविक राष्ट्रीय स्वाभिमान के कारण अँग्रेजी को इस क्षेत्र से विदा करना चाहिये ।"

---

1. पाञ्चजन्य — 9 नवम्बर 1964
2. दीनदयाल उपाध्याय - कर्तृत्व एवं विचार
   डा. महेश चन्द्र शर्मा, — पृष्ठ - 154
3. पाञ्चजन्य - 11 मई 1959 — पृष्ठ - 15

सातवां दशक जिसमें उपाध्याय ने मुखरतापूर्वक अपना राजनीतिक जीवन जिया, उन दिनों मे डा0 रघुवीर, डा0 राम मनोहर लोहिया, व सेठ गोविन्द दास जैसे और भी लोग थे जिन्होनें हिन्दी की आवाज को बुलन्द किया, लेकिन लगता हे कि आठवें दशक के प्रारम्भ होने के बाद लोगों ने अॅग्रेजी की यथास्थिति को स्वीकार कर लिया । दीनदयाल उपाध्याय के निधन को भी अब दो दशक पूर्ण होने वाले है । हिन्दी को लाने और अॅग्रेजी से छुटकारा पाने का स्वर अब लगभग मौन है । भारत की अनेक प्रान्तीय भाषाओं और अॅग्रेजी भाषा के मुकाबले हिन्दी अपना कद अभी तक बड़ा नही कर सकी है । इसके लिये कौन जिम्मेदार है । हिन्दी खुद, हिन्दी वाले, सरकार या हिन्दी विरोधी ? इसका तो निर्णय करना कठिन है किन्तु यह सच है कि आज भारत उन नेताओं के अभाव को झेल रहा है जिनकी श्रद्धा थी "जब तक अंग्रेजी जारी रहती है तब तक हम अपने सांस्कृतिक पुरूद्धार की जीवनदायिनी मुक्त हवा में सांस नही ले सकते । आधुनिक वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त न कर सकने का खतरा उउठाकर भी हमें विदेशी भाषा के चंगुल से अपने को मुक्त कर लेना चाहिये।"[1]

अॅग्रेजी जानी चाहिये, इसके बारे में हमारे देश में ज्यादा विवाद नही है । लेकिन अंग्रेजी एकदम नही छोड़ी जा सकती है उसे संक्राति काल में जारी रखना जरूरी है । यह संक्राति काल द्रौपदी की चीर की तरह सदैव बढ़ता ही चला जाता है । उपाध्याय सरीखे पक्के हिन्दी वादी भी अपने दल को लेकर जब दक्षिण में गये तब उन्होनें भी स्वीकारा कि संक्रान्ति काल में अॅग्रेजी के उपयोग की छूट देनी होगी । कालीकट अधिवेशन के बाद अपने एक लेख में वे लिखते हैं :

" 26 जनवरी 1965 के बाद उसका (अॅग्रेजी का) प्रयोग अनिवार्य रूप से नही होना चाहिये किन्तु अभी यह स्थिति नही है ।...... तैयारी के लिये हिन्दी का प्रयोग करना पडेगा जो हिन्दी नही जानते उनके लिये अॅग्रेजी के प्रयोग की सुविधा देनी होगी । निश्चित ही यह स्थिति हिन्दी की अनिवार्यता नही होगी । अनिवार्यता न रहने से यह हो सकता है कि अॅग्रेजी को विदा होने में कुछ समय अधिक लगे किन्तु उसके साथ ही प्रशासन व संक्रमण की कठिनाइयॉ भी कम

---

1. पं.दीनदयाल उपाध्याय - कर्तृत्व एवं विचार
डा. महेशचन्द्र शर्मा, पृष्ठ-155

हो जायेगी तथा हिन्दी के पारिभाषिक शब्दों को निखरने व प्रौढ़ होने का अवसर मिल जायेगा किन्तु यह तभी सम्भव होगा जबकि हिन्दी के प्रयोग की छूट हो तथा अंग्रेजी की अनिवार्यता न रहे ।"[1]

सातवें दशक के प्रारम्भ में हिन्दी सम्बन्धी आग्रह एवं सातवें दशक के अन्तिम चरण के हिन्दी सम्बन्धी आग्रह की व्यवहारिकता में अन्तर दिखायी देता है और भी अधिक व्यवहारिक हो गये हैं । यह संक्रान्ति काल समाप्त होना चाहिये इसके लिये देश का आव्हान करने की जरूरत अब किसी की प्राथमिकता का विषय नही रह गया हैं ।

दीन दयाल उपाध्याय उर्दू को पृथकवाद व सम्प्रदायवाद की भाषा मानते हैं । उर्दू को क्षेत्रीय भाषा स्वीकारते हुये प्रधानमंत्री पं. नेहरू जी ने जो वक्तव्य दिया है उसके विश्लेषण की आवश्यकता हैं । पण्डित जी ने कहा हैं कि उर्दू की उत्पत्ति संस्कृत से हुयी और वह केवल मुसलमानों की भाषा नही जहाँ तक पण्डित जी के कथन के उत्तरार्ध का सम्बन्ध ही उसे स्वीकार किया जा सकता हैं क्योकि कोई भाषा किसी धर्म विशेष की भाषा नही होती ---------- स्वयं को अलग राष्ट्र के अन्तर्गत संगठित करने के लिये मुस्लिम लोग की छत्रछाया में मुसलमानों ने उर्दू को केवल मुसलमानों की भाषा बनाने का आन्दोलनात्मक प्रयास किया यही कारण है कि हैदराबाद की राजभाषा उर्दू थी तथा उस्मानिया विश्वविद्यालय की शिक्षा का माध्यम भी उर्दू, उसके समर्थकों व पक्षपतियों की धारणा के विरूद्व, हिन्दू मुसलमानों के बीच विद्वेष और फूट उत्पन्न करने का कारण बनी ---------जब तक इस देश में उर्दू वास करती हैं, मुसलमानों की साम्प्रदायिक और विभाजनात्मक मनोवृत्ति समाप्त नही हो सकती ।

आज उर्दू का अभिप्राय एक ऐसी भाषा हैं जिसमें अरवी फारसी के शब्दों तथा विचारों का अधिक्य है इसीलिये वह देशवासियों पर राष्ट्र विधात्मक प्रभाव डालती हैं एक उर्दू कवि ने कहा हैं -

---

1. पांञ्चजन्य 12 फरवरी 1968

होती कोशिश जरा भी फारस के शाह की,

सिज्दह न करता हिन्द की नापाक जमी पर ।

" जिस क्षण उर्दू विदेशी प्रभाव से मुक्त हो जाती है उसी क्षण वह हिन्दी के अतिरिक्त कुछ भी नही रहेगी । यही कारण है कि अमीर खुशरो एवं मुंशी प्रेम चन्द्र जैसे लेखक हिन्दी तथा उर्दू साहित्य में समान रूप से स्थान पाते हैं अतः नेहरू जी उर्दू को सुरक्षित रखने की अपेक्षा उसे राष्ट्रीय बनने दें ।"[1]

उपयुक्त तीनों कथनों में सभवतः प्रथम दो मुस्लिम सम्प्रदायवादियों ने जिस प्रकार उर्दू को अपनी भारत विभाजन राजनीति का मोहरा बनाया सकी प्रतिक्रिया की आवेशपुर्ण अभिव्यक्तियाँ ही हैं तृतीय कथन का सम्भवतः यह अर्थ हैं कि उर्दू को हिन्दी की शैली के नाते जीवित रहने में उन्हें आपत्ति नही हैं पृथक् भाषा के नाते उसकी सुरक्षा की माँग को ये अनुचित समझते हैं।

इसी प्रकार उर्दू मिश्रित हिन्दी जिसे हिन्दुस्तानी कहा गया दीनदयाल उपाध्याय उसे अव्यवहारिक अवांछनीय व कृत्रिम भाषा मानते है उनके अनुसार संस्कृत निष्ट हिन्दी को कठिन मानना तथा तथा उर्दू मिश्रित हिन्दी को सरल मानना एक भ्रान्ति हैं ।

"-------सरलता का मानदण्ड क्या हैं से सर्वाधिक जनता को समझ में आना चाहिये अगर यही हमारा उद्देश्य हो तो नयी हिन्दी संस्कृत निष्ठ होनी चाहिये वह गाँधी जी द्वार बतायी हिन्दुस्तानी नही हो सकती । वस्तुत : गाँधी जी ने हिन्दुस्तानी की वकालत इसीलिये नही की थी कि वह सरल हैं वल्कि हिन्दी और उर्दू को मिला कर एक कृत्रिम भाषा के निमार्ण द्वारा केवल मुसलमानों को खुश करने के लिये की थी किन्तु हिन्दुस्तानी न कही बोली जाती है और न कही समझी जाती हैं पण्डित नेहरू की हिन्दी विन्ध्याचल पर्वत के दक्षिण में कही नही समझी जाती और मौलाना आजाद की हिन्दुस्तानी तो उत्तर प्रदेश में भी नही समझी जाती थी किन्तु पढ़ाई उर्दू में हुयी है

वे संस्कृत पर आधारित हिन्दी को सदा कठिन बताते हैं, किन्तु देश के बाकी सब लोगों के लिये वह सरल होगी ।"[1]

दीनदयाल उपाध्याय की भाषा नीति में उर्दू अथवा मिश्रित हिन्दी के लिये कोई सहानुभूति का स्थान नही हैं उपाध्याय जिस प्रकार की राष्ट्रवाद धारणा को मानने वाले थे उसमें वह कोई भी बात जो मूल धारा से अलग चलती हैं स्थान नही पाती । पृथक पहचान व अल्प संख्यक अवधारणा के आधार पर सुरक्षा की माँग उन्हें अप्रिय नहीं अवाँछनीय भी लगती थी

राज भाषा के साथ ही सम्बद्ध विषय हैं शिक्षा के माध्यम का । यह एक दुष्चक्र है कि जब तक राजकाज में अंग्रेजी चलेगी तब तक शिक्षा भी अंग्रेजी में ही होगी तथा जब तक उच्च शिक्षित लोग अंग्रेजी माध्यम से पढकर आते रहेगे वे हिन्दी को स्वीकार नही करेगे अतः शिक्षा का माध्यम किस भाषा को कितना बनाया जायें यह हमारे देश में निरन्तर बहस का विषय रहा हैं ।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिये इसमें अधिक विवाद नही इतने बड़े देश की कोई सार्वदेशिक मातृभाषा होना शायद समान शास्त्रीय एवं भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भी सम्भव नही हैं । यदि प्रयत्न पूर्वक ऊपर से काल विशष में किसी एक भाषा को स्थापित भी कर दिया जाये तो भौगोलिक व सामाजिक परिवेश उसी भाषा को अपने अपने आकार में डालकर विविध भाषाओं का निर्माण कर देगा । अतः भारत जैसे देश की राष्ट्र या राजभाषा सायास अध्ययन द्वारा अर्जित भाषा ही हो सकती है। इसीलिये हमारे यहाँ शिक्षा के माध्यम के सन्दर्भ में त्रिभाषा फार्मूला अस्तित्व में आया । मातृभाषा राष्ट्र भाषा एवं संक्रमण की भाषा, अर्थात् प्रादेशिक हिन्दी व अंग्रेजी भाषाओं का ज्ञान विद्यार्थी को दिया जाये । यह आशा की गयी कि प्राथमिक शिक्षा मातृभाषा में हो । उच्च शिक्षा फिलहाल अंग्रेजी में तथा अन्ततः हिन्दी में हो । कौन सी भाषा किस सीमा तक अनिवार्य या वैकल्पिक हो इस पर विवाद चलता ही रहता हैं अन्तिम निर्णय पर आजादी के चालीस साल पूरे हो जाने पर भी हम नही पहुँच सके ।

राज्य व्यवहार की भाषा बदलने के बाद शिक्षा का माध्यम बदलेगा या शिक्षा का माध्यम बदलने के बाद राजभाषा बदलेगी यह " पहले वृक्ष या पहले बीज " की समस्या जैसा विषय बन गया है । त्रिभाषा फार्मूले में तृतीय आम चुनाव के पूर्व राष्ट्रीय एकता परिषद ने यह सिफारिश नही थी कि अहिन्दी भाषी विधार्थी हिन्दी के साथ कोई एक प्रादेशिक भाषा अनिवार्य पढ़े । एक विदेशी भाषा के ज्ञान के लिये अंग्रेजी को भी अनिवार्य बनाया गया ।

इस फार्मूले की असफलता के बारे में उपाध्याय कहते हैं " सर्वसम्मत होने के बाबाजूद इस सूत्र को व्यवहार में नही लाया गया मद्रास पश्चिम बंगाल तथा हिन्दी प्रदेश इसके लिये विशेष रूप से दोषी हैं मद्रास तथा पश्चिमी बंगाल है अपने यहाँ हिन्दी पढाई की अनिवार्य व्यवस्था नही की वही हिन्दी प्रदेशो में भी किसी एक अन्य प्रादेशिक भारतीय भाषा की शिक्षा की ओर कोई ध्यान नही दिया गया ।"[1]

किसी भाषा की अनिवार्यता में से आरोपण का भाव आता है अतः अहिन्दी भाषी अपने ऊपर हिन्दी का नया आरोपण नही चाहते हैं तथा हिन्दी भाषा अपने ऊपर किसी प्रादेशिक भाषा का आरोपण नही चाहते है अतः अंग्रेजी का पुराना आरोपण जारी है । तत्कालीन शिक्षा मंत्री त्रिगुण सेन ने प्रस्तावित किया कि अंग्रेजी हिन्दी या प्रादेशिक भाषा सभी की अनिवार्यता समाप्त कर मातृभाषा तथा हिन्दी या अंग्रेजी में कोई भी एक भाषा पढाई का एक माध्यम रहे । इस द्विभाशा सूत्र की भी दीनदयाल उपाध्याय ने आलोचना करते हुये कहा " हिन्दी या अंग्रेजी में 'से' स्वेच्छा से कोई एक भाषा पढ़ने की बात धोखा हैं क्योंकि जब तक राज्य कार्य में अंग्रेजी हैं विधार्थी अंग्रेजी ही पढ़ना चाहेगे ।

आज स्कूलो में शिक्षा के माध्यम के सम्बन्ध में छूट हैं किन्तु अंग्रेजी माध्यम के स्कूल तेजी से बढ़ रहे है मद्रास मे तमिल के कालेजों में छात्रवृत्ति देने के बाद भी विद्यार्थी नही जाते । संस्कृत पाठशालायें क्यो समाप्त हो गयी स्नातकोत्तर कक्षाओ में आज भी हिन्दी औ संस्कृत की अपेक्षा अंग्रेजी की पढ़ाई क्यों अधिक हैं सबका उत्तर एक ही है कि शिक्षा ज्ञानार्जन के लिये ही नही,

जीविकोपार्जन के लिये भी है । जब तक राजकाज में अंग्रेजी रहेगी लोगों का झुकाव अंग्रेजी की ओर रहेगा । यदि हम भारतीय भाषाओं को राज व्यवहार की भाषा बनाना चाहते हैं तो हमें विद्यार्थियों को उनमें शिक्षा देनी होगी और यह अनिवार्य बनाकर ही हो सकती है । उपाध्याय कहते है" भारत जैसे बहुभावी देश के लिये प्रत्येक विद्यार्थी को देश की कम से कम दो भाषाओं का ज्ञान तो आवश्यक हैं ही । यदि इसे बोझ माना भी जाये तो एक बड़े देश के वासी होने के नाते हमें यह बोझ उठाना ही होगा इन दो भाषाओं एक हिन्दी है। " [1] लेकिन देश में सर्वसम्मति न हो सकी हिन्दी भाषा की अनिवार्यता में दक्षिण वालों को " हिन्दी का साम्राज्य वाद " दिखता हैं । एक अन्य प्रादेशिक भाषा का अध्ययन जिसके द्वारा में हिन्दी भाषियों के साथ हिन्दी वालों पर भी कुछ अतिरिक्त भार डालकर असुविधा की स्थापना का विचार या इनको हिन्दी प्रदेशो में व्यवहार नही दिया गया । यह अनावश्यक बोझ कोई भी स्वेच्छा से उठाने को तैयार नही है संक्रान्ति काल के नाम पर अंग्रेजी को अवेध स्थान प्राप्त है लोग नई असुविधाओं के स्थान पर स्वभाव में आ गई पुरानी असुविधा को उनकी अंग्रेजियत के संस्कार की हीनग्रन्थि को भी पुष्ट करती है से ही चिपटे रहना चाहते है । अंग्रेजीदा नेतृत्व का इसी में निहित स्वार्थ भी हैं

उच्च प्रशासकीय तकनीकि वैज्ञानिक, तथा बैदिक शिक्षा के लिये प्रादेशिक भाषाओं और हिन्दी में जिस साधना और तपस्या की जरूरत है वह भी कोई करने की मन स्थिति में नही है अतः अंग्रेजी का उपयोग भारतीय राष्ट्र जीवन की अटल नियति सा ही बन गया है उपाध्याय के लिये यह स्थिति असह्य थी इसलिये उन्होने अन्ततः प्रस्ताव रखा न हिन्दी न अंग्रेजी केवल मातृभाषा में ही सम्पूर्ण शिक्षा है दोनो भाषाओं की अनिवार्यता समाप्त कर सहज स्पर्धा के लिये उन्हे खुला छोड़ दिया जाय ।

वास्वविकता यह है कि संक्रमण काल में अंग्रेजी रहगी, अंग्रेजी की अनिवार्यता नही । अंग्रेजी की अनिवार्यता हटाओ है यदि अंग्रेजी में सच में कोई शक्ति हैं तो अपने बलबूते पर टिक जायेगी उसे राज्य केबल की आवश्यकता नही होनी चाहिये ।

"अतः आवश्यक है कि राज सेवा की भर्ती की परीक्षा के लिए न तो अंग्रेजी न हिन्दी को अनिवार्य के किया जाये ।जब सब पढ़ाई मातृभाषा के माध्यम से होने वाली है तो हिन्दी या अँग्रेजी के अलग प्रश्नपत्र की भी आवश्यकता नही । भर्ती के उपरान्त स्थायी होने से पूर्व इन भाषाओ मे से किसी एक की परीक्षा पास करना आवश्यक होना चाहिये ।"[1]

उपाध्याय के जीवन काल में तो यह नही हो सकता पर अब कुछ मात्रा में यह हो रहा है । भारतीय लोक सेवा आयोग की स्पर्धी परीक्षाओं के लिये क्षेत्रीय भाषाओं का माध्यम स्वीकार कर लिया गया है । अनेक प्रदेशो में हिन्दी व अँग्रेजी की वैधानिक अनिवार्यता भी समाप्त हुयी है । यह कहना कठिन है कि उपाध्याय हिन्दी या अँग्रेजी में जिस खुली स्पर्धा की परिकल्पना कर रहे थे वह यही है या नही. क्योंकि राज्य व्यवस्था में अँग्रेजी का वर्चस्व यथापूर्व है तथा स्वेच्छा से हिन्दी या अँग्रेजी के विकल्प में अँग्रेजी बहुत आगे एवं हिन्दी पीछे है । लेकिन हिन्दी भी अब दौड में है । उपाध्याय को विश्वास था कि हिन्दी को स्पर्धा की छूट मिलेगी तो वह जीतेगी । इसका उत्तर तो भविष्य देगा । एक बात अवश्य लगती है । हिन्दी रहे या अँग्रेजी उनका सह अस्तित्व रहे या प्रादेशिक भाषाओं का वर्चस्व रहे लेकिन यह ध्यान रखने लायक मुद्दा है कि भाषा हमारे राष्ट्रीय अखण्डता के विघटन को मुद्दा नही बनना चाहिये । शायद इसीलिये दीनदयाल उपाध्याय ने कालीकट में अँग्रेजी के साथ यह भी स्वीकार कर लिया कि हिन्दी की अनिवार्यता का आग्रह छोड दिया जाये । इसीलिये अँग्रेजी के संक्रमण काल का उन्होने विस्तार भी स्वीकार कर लिया था । राष्ट्रीय भाषा राष्ट्रीय विवेक मे से उत्पन्न होगी । भाषा विशेष के जुनून में से नही । यह वह मूलमंत्र है जो दीनदयाल उपाध्याय के सम्पूर्ण चिन्तन की राष्ट्रीय एकता के सन्दर्भ में धरोहर कहा जा सकता है ।

दीनदयाल उपाध्याय चाहते थे कि प्रादेशिक भाषायें व हिन्दी मिलकर अँग्रेजी के साथ लड़ाई लड़े पर यह सम्भव नही हुआ । कहीं भाषिक उपराष्ट्रवाद/हिन्दी साम्राज्य वाद के खिलाफ हिन्दी से लड़ पडता है कहीं प्रादेशिक भाषायें सन्नद्ध कर दी जाती है । परिणामतः अहिन्दी भाषी प्रदेशों ने हिन्दी का वैसा स्वागत नही किया जैसा कि हिन्दी को राष्ट्र भाषा की भावना के आधार पर मिलना चाहिये था । पंजाबी व हिन्दी की लड़ाई उत्तर भारत में सर्वाधिक दुःखद रही । दक्षिण में हिन्दी विरोध आज भी प्रादेशिक

राजनीति का बडा मुद्दा है । 1967 में द्रविड मुन्नेत्र कषगम की सरकार मद्रास में अस्तित्व मे आई । उन्होनें तामिल के बाद केन्द्रीय भाषा की दृष्टि से अँग्रेजी को तरजीह दी । काल्पनिक हिन्दी साम्राज्यवाद के खिलाफ यह अजीब लड़ाई है । उपाध्याय ने कहा था, " अँग्रेजी हिन्दी किसी की भी अनिवार्यता न रहे दोनो मे खुली स्पर्धा हो ।....... क्या अँग्रेजी वाले इस चुनौती को स्वीकार करेगें ? श्री अन्ना दुरै इसके लिये तैयार नही दिखते क्योकि उन्होनें अँगेजी को अनिवार्य किया है तथा हिन्दी की पढ़ाई को अनिवार्यता बन्द किया है । उन्होने यह सिद्ध कर दिया है कि तामिलनाडु में भी हिन्दी को बिना कानून के सहारे नही रोक सकते ।"[1]

उपाध्याय ने आव्हान किया; ......" अँग्रेजी के खिलाफ लडाई हिन्दी वालो की लडाई नही है । यह वस्तुतः सभी भारतीय क्षेत्रीय भाषाओं का एक सम्मिलित मामला है । अगर अँग्रेजो ने अपने साम्राज्यवाद को सुदृढ़ बनाने के लिये फूट डालो और राज्य करो की नीति का अवलम्बन किया तो आज अँग्रेजी के समर्थक उस अँग्रेजी भाषा को चिर स्थायी बनाये रखने के लिये उसी नीति का अवलम्बन कर रहे है । यदि अँग्रेजी चली जाती है तो उसका स्थान अकेली हिन्दी ही नही ग्रहण करेगी । बल्कि हिन्दी और क्षेत्रीय भाषाये संयुक्त रूप ये करेगी । अगर अँग्रेजी कायम रहती है तो भारत की कोई भी भाषा पल्लवित नही हो सकती है । क्या वह हिन्दी थी जिसने तामिल या बँगला को या अन्य भाषाओं को उनके सम्बन्धित क्षेत्रों से अपदस्थ किया ? कोई ऐसा नही सोचता कि केरल में विधान मण्डल और प्रशासन का कार्य मलयालम के बदले हिन्दी में होगा किन्तु मलयालम तब तक नही आ सकती जब तक कि अँग्रेजी हट नही जाती ।"[2]

पं. दीनदयाल उपाध्याय मनसा वाचा कर्मणा मातृभाषा के पक्षधर थे । विदेशी भाषा उन्हें स्वीकार्य नही थी । वे हिन्दी के ही आग्रही थे ।

---

1. पं. दीनदयाल उपाध्याय कर्तृत्व एवं विचार - डा0 महेश चन्द्र शर्मा पृष्ठ-160
2. स्वभाषा और सुभाषा
   पं0 दीन दयाल उपाध्याय - पोलिटिकल डायरी पृष्ठ-89

छ- लोक कल्याण

आदि काल से भारतीय संस्कृति का दृष्टिकोण अत्यन्त उदार रहा है । सम्पूर्ण पृथ्वी के लोगों को "कुटुम्ब" अर्थात् "परिवार" मानने की भावना का उद्घोष भारतीय संस्कृति ने ही किया है -

" अयं निजः परोवेतिगणना लघु चेतसाम् ।
उदार चरितानां तु वसधैव कुटुम्बकम् ।"

सम्पूर्ण पृथ्वी के लोगों को सुखी एवं समृद्धिशाली बनने के लिए हमारे ऋषियों ने ईश्वर से प्रार्थना की है -

" सर्वे भवन्तुसुखिनः सर्वेसन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित दुःख भागवभवेत् ।"

अर्थात सम्पूर्ण पृथ्वी के लोग सुखी हो, सभी रोग से रहित स्वस्थ हों, सभी कल्याण का दर्शन करे (सभी का कल्याण हो) किसी को भी किसी प्रकार का दुःख न हो ।"

हमारे देश मे ही लोकापकारी ऋषि ने अपने निजी स्वार्थ, सुखों को तिलांजलि देतु हुए ईश्वर से कामना की है कि हे ईश्वर -

" नतु अहं कामये राज्यें नमोक्षंन पुर्नभवम्
केवलं दुःख तत्पतानां प्राणि नामार्तिताशनम् ।"

मैं तो तो राज्य की कामना करता हूँ न मोक्ष प्राप्त करना चाहता हूँ न पुनः जन्म लेना चाहता हूँ । मैं केवल एक बात चाहता हूँ कि दुःख से पीडित सभी व्यक्तियों का दुःख दूर हो जावे।

भारतीय संस्कृति मे अद्वैत भावना पर विशेष बल दिया गया है । गीता में भगवना कृष्ण ने इस अद्वैत भावना को और अधिक बलवती बनाया है "आत्माहं सर्वभूतेषु " अद्वैत हमें प्रत्यक्ष व्यवहार की शिक्षा देता है । जिन बातों से हमें दुःख होता है उन्हें हम दूसरो के प्रति न करे ।

" आत्मानं प्रतिकूलानि
परेसां न समाचरेत् ।"

जिन बातों या कार्यो, से हमें आनन्द प्राप्त होता वही व्यवहार हम दूसरों से भी करे ताकि उन्हे भी आनन्द प्राप्त हो । रूप सूक्त लिखनेवाला ऋषि जब कहता है -

घृतं चमे मधुचमें गोधूमाश्चमें
सुखचमें शयनं चमें - आदि आदि

(मुझे घी चाहिये, मधु चाहिये, गेहूँ चाहिये, सुख चाहिये, ओढ़ना-विछाना चाहिये) तब ऋषि ये सब चीजे केवल अपने लिए नही मांगता वह सारे मानवों का विचार करता है सबका हित ही उसका हित है ।

अतः निर्विवाद रूप से भारतीय संस्कृति अत्यन्त उदार व्यापक एवं लोक कल्याणकारिणी है । मानव मात्र के प्रति आत्मीय दृष्टिकोण रखने वाली है । प्राचीन ऋषियों की तरह हमारे आधुनिक विद्वानों साहित्यकारों, कवियों, ने भी लोक-कल्याण की भावना को व्यक्त किया है । कवि कुल गुरू विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है -

" हेथाय आर्य हेथाय अनार्य हेथाय द्रविड़
चीन, शक, हूण, दल पठांन, मोगल एक देह होलो लीन ।" । [1]

इस तरह कवि रविन्द्र नाथ लोक कल्याण के उपासक थे ।

---

1. उत्तर प्रदेश सन्देश - पं. दीनदयाल उपाध्याय विशेषांक
उपाध्याय जी की राष्ट्र धारण - रामेश्वर दयाल दुबे पृष्ठ-50

आधुनिक विश्व के प्रतिनिधि स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय संस्कृति के लोक कल्याणकारी व्यापक एवं उदारवादी दृष्टिकोण औरर अधिक मुखरित करते हुए कहा है -

"यदि कभी कोई सार्वभौमिक धर्म हो सकता है तो वह ऐसा ही होगा जो देश या काल से मर्यादित न हो; जो उस अनन्त भगवान के समान ही अनन्त हो, जिस भगवान के सम्बन्ध में वह उपदेश देता है; जिसकी ज्योति श्री कृष्णा के भक्तों पर और ईसा के प्रमियों पर सन्तो पर और पापियों पर समान रूप से प्रकाशित होती हो; जो न तो ब्राह्मणों का हो न बौद्धो का, न ईसाइयों का, न मुसलमानों का वरन् इन सभी धर्मो, का समष्टि स्वरूप होते हुए भी जिसमें उन्नति का अनन्त पथ खुला रहे; जो इतना व्यापक हो कि अपनी असंख्य प्रसारित बाहुओं द्वारा सृष्टि में प्रत्येक मनुष्य का आलिंगन करे और उसे अपने हृदय में स्थान दे ।"[1]

भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता उदारमना पं. दीनदयाल उपाध्याय भी मानवता के पुजारी उच्चकोटि के विद्वान, कलोक कल्याण के उपासक एवं मानवीय गुणों से सम्पन्न स्वामी विवेकानन्द जैसे महामानवों के पदचिन्हों पर चलने वाले भारत भक्त थे । उनका मानना था कि "कृषवन्तो विश्विमार्यम्" का जयघोष करने वाला जगद्गुरू भारतवर्ष, विश्व कल्याण के मार्ग, को प्रशस्त कर सकता है । हालांकि वह यह भी मानते थे कि विश्व में भी ऐसी अच्छी विचार धाराएं हैं जिनके द्वारा लोक कल्याण या विश्व शान्ति स्थापित की जा सकती है लेकिन उनमें आपस में तालमेल का अभाव है -

> " ये सब ऐसे आदर्श हैं जो अच्छे हैं । मानव की दैवी प्रवृत्तियों में से इनका जन्म हुआ है किन्तु इनमें से कोई विचार पूर्ण, नहीं । इतना ही नही, इनमें से प्रत्येक आदर्श, व्यवहार में एक दूसरे का घातक बन जाता है । राष्ट्रवाद विश्वशान्ति के लिए खतरा पैदा करता है । प्रजातन्त्र पूंजीवदा के मेल से शोषण का कारण बन गया । पूंजीवाद को समाप्तकर समाजवाद आया तो उसने प्रजातन्त्र तथा उसके साथ ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता की ही बलि ले ली।"[2]

---

1. शिकागो में स्वामी विवेकानन्द, हिन्दू धर्म
   स्वामी व्योमरूपानन्द, रामकृष्णमठ, धन्तोली, नागरपुर — पृष्ठ-20-21
2. राष्ट्रवाद् की सही कल्पना
   एकात्ममानववाद - पं0 जी — पृष्ठ-11

पं. जी सम्पूर्ण विश्व की समस्याओं को सुलझाकर मानव कल्याण की स्थापना में भारत वर्ष के सक्रिय सहयोग के आकांक्षी थे । " विश्व की प्रगति का अध्ययन कर लेने के बाद क्या हम भी उन्हे कुछ दे सकते हैं ? यह विचार हमें विश्व का अंग बनकर करना चाहिए। हम केवल स्वार्थी न रहकर विश्व की प्रगति में सहयोगी बने। यदि हमारे पास कोई ऐसी वस्तु है जिससे कि विश्व को लाभ होगा तो वह देने में हमें कोई आपत्ति नही होनी चाहिये।.......... हमे विश्व पर बोझ बनकर नही उसकी समस्याओं के छुटकारे में सहायक बनकर रहना चाहिये। हमारी परम्परा और संस्कृति विश्व को बचा सकती है, यह हमें विचार करना है ।"[1]

पं. दीन दयाल उपाध्याय प्रखर राष्ट्र भक्त होते हुये भी भारतीय संस्कृति के पुरोधा के नाते विश्व कल्याण की चिन्ता को मानसपटल से ओझल नही होने दिया । साथ ही साथ विश्व के लोगों को यह आश्वस्त करने का प्रयास भी किया है कि चौराहे पर खडे विश्वमानव की भारतीय संस्कृति रास्ता दिखा सकती है । " आज विश्व की किंकर्तव्य विमूढ़ है । उसे मार्ग नही दीख रहा है कि वह कहां जाए ।...... इस परिस्थिति में हमारी दृष्टि भारतीय संस्कृति की ओर जाती है ।"[2]

पं. जी की राष्ट्र भावना संकीर्ण नही थी । उनकी राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की बाधक नही वरन पोषक थी । "हमने राष्ट्रीय हित के लिये दूसरे राष्ट्रो का शोषण करना नही सोचा । "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" हम आर्य हैं तो सम्पूर्ण विश्व को आर्य बनाएगें - हम संस्कृत हैं तो सबको संस्कारित करेगें । उनके स्तर को ऊँचा उठाएगे । यह हमारा प्राथमिक भावत्मक राष्ट्रवाद है । जो एक ऐतिहासिक तथ्य है और जिसमें राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता में विरोध न होकर वह अन्तर्राष्ट्रीय का आधार बन जाता है । कोई व्यक्ति राष्ट्रीय है इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय न हो और अन्तर्राष्ट्रीय है तो राष्ट्रीय न हो ऐसा हमारे यहां नही दिखता ।"[3]

पं. जी तो मानवता से आगे बढ़कर मानवेतर् सृष्टि के भी कल्याण की

---

1. राष्ट्रवाद की सही कल्पना - एकात्ममानववाद
   पं. जी — पृष्ठ - 12
2. तथैव — पृष्ठ - 17
3. एकात्ममानववाद - एक अध्ययन, एकात्ममानवदर्शन
   दत्तोपंत ठेंगडी — पृष्ठ - 106

भावना से ओतप्रोत थे । यही हमारी भारतीय संस्कृति भी है । " अपने यहाॅ मानवता से भी ऊपर विचार किया गया है । मानवेतर सृष्टि की मान्यता अपने ही देश में है । मछलियों, गायों, चीटियों आदि का भरण-पोषण औरर उनको अपने ही समान मानने वाले लोग यहाॅ है तो......... इसको यदि अच्दी तरह बताना है "सर्व खल्विदं ब्रह्म" कहा जा सकता है ।"[1]

अनेकता में दैवीय एकता का साक्षात्कार करने वाले पं. दीनदयाल जी शंकर के अद्वैतवाद से अत्यन्त प्रभावित थे और कहते थे कि शंकराचार्य का अद्वैतवाद मानवमात्र के कल्याण का एकमेव सिद्वान्त है । " अनेक में एक के अपने प्राचीन सिद्धान्त को आचार्य शंकर ही आत्मिक, भौतिक, नैतिक, धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में अपने अद्वैत के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके व्यवहारिक जगत में लाए । यही सिद्धान्त मानव-मात्र की शान्ति और कल्याण का कारण होगा ।"[2] अतः पं. जी की कामना थी कि हम सभी को उनके इस अद्वैतवादी सिद्धान्त से प्रेरणा प्राप्त करके लोक कल्याण के मार्ग को प्रशस्त करना चाहिए -

"बत्तीस वर्ष की आयु में इतना महान कार्य करने वाले आचार्य शंकर के अखण्ड कर्ममय जीवन से हमारे जीवन को भी कर्म की स्फूर्ति प्राप्त हो तथा अपने पुरूषार्थ निश्चय निष्ठा और त्याग के बल पर अद्वैत के सत्य सिद्धान्तों के द्वारा सम्पूर्ण संसार को सच्ची शान्ति का सुख देकर उन्हे जगद्गुरू के पद पर आसीन करावे ।"[3]

इस प्रकार पं. दीन दयाल उपाध्याय ने अपने लेखों, भाषणों साहित्यिक रचनाओं एवं कार्य व्यवहार के द्वारा लोक कल्याण की भावना को विकसित करने का आजीवन प्रयास किया । यही उनके जीवन का उनकी शिक्षा का उद्देश्य था । उनका सपना था कि -

" हम ऐसे भारत का निर्माण करेगें जो हमारे पुर्वजों ने भारत से अधिक गौरवशाली होगा, जिसमें जन्मा मानव अपने व्यक्तित्व का विकास करता हुआ सम्पूर्ण मानवाता ही नहीं अपितु सृष्टि के साथएकात्मता का साक्षात्कार कर "नर से नारायण" बनने में समर्थ हो सकेगा । यह हमारी

---

1. एकात्ममानववाद, एक अध्ययन
   एकात्म मानव दर्शन, दत्तोपंत ठेंगडी — पृष्ठ - 107
2. जगद्गुरू श्री शंकराचार्य
   पं. दीन दयाल उपाध्याय — पृष्ठ - 102
3. तथैव — पृष्ठ - 102

संस्कृति का शाश्वत दैवी और प्रवाह मान रूप है । चौराहे पर खड़े " विश्व मानव " के लिए यही हमारा दिग्दर्शन है । ईश्वर हमे शक्ति दे ।"[1]

---

1. राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल अर्थरचना,
हम विराट को जागृत करे
एकात्ममावन दर्शन - पं. दीन दयाल उपाध्याय पृष्ठ-76

ज-　　समीक्षात्मक विचार

अशिक्षित अपरिष्कृत एवं असंस्कारित लोकमत ही सामाजिक बुराइयो को जन्म देता हैं ऐसा पं0 दीनदयाल उपाध्याय का मानना था । अतः तमाम सामाजिक बुराइयों को दूर करने के लिए लोकमत को शिक्षित एवं संस्कारित करना ही हमारी प्रमुख आवश्यकता है। और लोक मत परिष्कार का कार्य राज्य के मोह लोभ एवं भय से ऊपर उठे हुये व्यक्ति ही कर सकते हैं पं0 दीनदयाल जी का मानना था कि शिक्षा के द्वारा ही लोकमत को परिष्कृत किया जा सकता है । चाहे वह विद्यालयी शिक्षा के द्वारा या अनौपचारिक शिक्षा के द्वारा तथा संघ में चलने वाले शारीरिक शैक्षिक एवं अन्य कार्यक्रमों के द्वारा । शिक्षकों के साथ 2 उदार एवं कुशल संगठक व्यक्ति इस कार्य को बहुत ही सफलता पूर्वक कर सकते हैं । इस दृष्टि से राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ऐसी ही उत्कृष्ट कार्य सारे देश में कर रहा हैं । इसीलिये उन्होने भी संघ के लिए अपना जीवन सर्वस्व अर्पित किया ।

इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन के लिए उपाध्याय जी शिक्षा को ही एक मात्र माध्यम बताया । शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य सभी पुरूषार्थ को प्राप्त करता हैं, इतना ही नहीं अपने कल्याण के साथ साथ अपने स्वार्थो की पूर्ति के साथ साथ दूसरों के हितों की भी चिन्ता करता हैं ।

पं0 दीनदयाल जी उपाध्याय ने शिक्षा के द्वारा जिन उद्देश्यों को प्राप्त करने की बात कही उनमें धर्म और अधर्म का स्पष्ट मान व्यष्टि और समष्टि के हितों की सीमाओं का ज्ञान परम्परा और परिवर्तन का समबन्ध लोकमत परिष्कार एवं सामाजिक सुधार प्रमुख है।

सामाजिक यथास्थिति वाद के विरोधी होते हुये भी पं0 दीन दयाल जी उग्र परिवर्तन के समर्थक नहीं थे अतः लोगों ने उनके तथा संघ के दर्शन को यथास्थिति वादी माना हैं लेकिन पं0 जी का विचार था कि " समाज सुधारक " परिवर्तन के लिए व्यग्र रहते हैं " क्रान्तिवादी " समूल उलट देने की बात कहते है । जो दोनों ही समाज के लिये धातक हैं । इसका विपरीत प्रभाव हानिकारक हो सकता हैं । इसलिये तत्काल चमत्कार की चिन्ता छोडकर समाज को संस्कारित करने का कार्य मंदगति एवं अथक परिश्रम से ही साध्य होता हैं ।विकास की इस प्रक्रिया को सही दिशा देने

का कार्य शिक्षा ही कर सकती हैं । सामाजिक विषयों में उन्होने " शिक्षा " पर अपेक्षाकृत अधिक क्रमबद्ध विचार प्रस्तुत किये हैं ।

अध्याय -५

उपाध्याय जी की शिक्षा के अंग

अध्याय - 5

उपाध्याय जी की शिक्षा के अंग

शिक्षाशास्त्री एडम्स के अनुसार

"शिक्षा द्विमुखी प्रक्रिया है"[1]

द्विमुखी प्रक्रिया का अर्थ है एक ध्रुव पर शिक्षक और दूसरे ध्रुव पर छात्र । एक शिक्षा देने का कार्य करे और दूसरा शिक्षा प्राप्त करे । दोनों का आपसी सम्बंध हो । इस प्रकार गुरू और शिष्य में कर्ता और कर्म का सम्बंध रहता है ।

लेकिन जान ड्यूबी ने शिक्षा को त्रिमुखी प्रक्रिया मानते हुए कहा है कि "शिक्षा में शिक्षक और शिष्य के अतिरिक्त एक तीसरा तत्व भी है वह तत्व है "सामाजिक शक्तियाँ"....समाज के द्वारा ही बच्चे में सामाजिक कुशलता और समाज स्वीकृत आचरण का विकास होता है । इसी के फलस्वरूप वे सामाजिक प्राणी बनते हैं । अतः सामाजिक तत्व शिक्षा की प्रक्रिया का एक बड़ा आवश्यक अंग है ।"

श्री जान ड्यूबी की तरह ही पं0 दीनदयाल उपाध्याय ने शिक्षा के तीन अंगों को स्वीकार किया है छात्र, गुरू तथा "सामाजिक तत्व" के रूप मे स्वतंत्रता और अनुशासन ।

"क" "छात्र"

छात्र शिक्षा प्रक्रिया का आवश्यक अंग है इसके बिना शिक्षा की प्रक्रिया चल ही नहीं सकती । प्राचीन संस्कृति के अनुसार छात्र आवश्यक पाँच गुणों से युक्त होना चाहिए -

"काक चेष्टा वकोध्यानं
स्वाननिद्रा तथैव च
अल्पहारी गृहत्यागी विद्यार्थी
पंचलक्षणम् ।"

कौवे की तरह चंचलता, बगुले की तरह लक्ष्य के प्रति एकाग्रता, कुत्ते की तरह सावधानीपूर्वक निद्रा लेने वाला और कम भोजन करने वाला तथा घर से मोह न रखने वाला अर्थात्

आश्रम या गुरूगृह में रहने वाला होना चाहिए ।

वैदिक काल में 'गुरू की अवधानता में जीवन ब्यतीत करना उनकी आज्ञाओं को सहर्ष स्वीकार करना ही विद्यार्थियों का आदर्श था । अपने गुरूकुल जीवन में विद्यार्थी जमीन या काठ के तख्ते पर सोते थे, साधारण भोजन करते थे और अपने गुरू की अवधानता में रहकर विद्योपार्जन करते थे । विद्याध्ययन ही ब्रहमचारी बालक का प्रमुख कर्तब्य था । मिथ्याभिमान एवं सांसारिक सुखों से दूर आचार्य के समीप बैठकर जिज्ञासु भाव से विद्योपार्जन में संलग्नशील बना रहता था । इससे बालकों के शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शक्तियों का विकास होता था और मनुष्य के समस्त गुणों से विभूषित होते थे ।[1]

वैदिक काल में ब्रहमचर्य आश्रम का प्रारम्भ शिक्षण ग्रहण का प्रारम्भ उपनयन संस्कार की धार्मिक विधि से प्रारम्भ होता था । उपनयन का अर्थ ही होता है गुरू के पास ले जाना गुरू के पास जाकर विद्यार्थी उनकी आज्ञा से अपने हाथ की समिधा का अग्नि में होमकर ब्रहमचर्य व्रत की दीक्षा लेता था । उपनयन संस्कार से शिक्षण कार्य प्रारम्भ होने के कारण संस्कारित शिक्षण ग्रहण करना धार्मिक कृत्य माना गया । ब्रह्मचर्य आश्रम अर्थात् विद्यार्थी जीवन में पूर्णतः पवित्र रहते हुए प्रत्यक्षतः गुरू की देख रेख में एकाग्रचित होकर विद्या ग्रहण करना पड़ता था ।

ब्रह्मचर्य आश्रम का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि " मानव जीवन से पशुत्व पूर्ण रूप से उन्मूलन कर विशुद्ध देव जीवन निर्माण करने का सामर्थ जिस काल में प्राप्त करना होता है वही काल ब्रहमचर्य का काल होता है ।'[2]

विद्यार्थी या ब्रह्मचारी जो प्रार्थना करता था उसके द्वारा उसके मन में अग्नि के समान तेजस्वी व बलवान बनने के संस्कार उत्पन्न होते थे। उसके मन में यह आत्म विश्वास भी जागृत होता था कि ब्रहमचर्य व्रत द्वारा अपने जीवन को राष्ट्र, समाज व धर्म के लिये उपयुक्त बनाने के इस पवित्र कार्य में ईश्वर मेरे साथ है ।

---

1. विश्वकोष के महान शिक्षाशास्त्री — पृष्ठ 829
   विनोबा भावे, गुरूकुल जीवन — पृष्ठ 830
2. वैदिक राष्ट्र दर्शन खण्ड 2 — पृष्ठ 72
   वैदिक राष्ट्र की शिक्षण पद्धति - ब्रहमचर्य आश्रम
   महामहोपाध्याय बालशास्त्री हरदास
   अनुवादक - कु0सी0 सुदर्शन
   सुरूचि साहित्य केशव कुंज झण्डेवाला, नई दिल्ली ।

गुरूकुलों में राजा और रंक सभी के लड़के समानता के वातावरण मे शिक्षा अध्ययन करते थे । उनके अन्तःकरणों में समानता के संस्कारों की अमिट छाप पड़ती थी । भौतिकता पर आधारित विषमता को कोई भी स्थान नही था । द्रोण व द्रुपद तथा गुरू संदीपन के शिष्य श्री कृष्ण और सुदामा इसके उदाहरण है । गुरूगृह अर्थात् आश्रम मे ही रहने का आग्रह होने के कारण वहाँ की पद्धति के अनुसार ही जीवन बिताना पड़ता था, इस कारण से किसी भी प्रकार के कुसंस्कारों की संभावना नहीं थी । गुरू आश्रम में रहकर शिक्षा ग्रहण करने की परम्परा चंद्रगुप्त मौर्य के काल तक प्रचलित रही । गुरू आश्रम जन समुदाय से दूर अरण्यों में हुआ करते थे । इस कारण से विद्यार्थियों के जीवन पर नागरी जीवन के विलासी वातावरण के कोई कुसंस्कार पड़ने की सम्भावना नहीं होती थी । हमारे यहाँ कण्व, बाल्मीकि और भरद्वाज आदि कुलपतियों के रम्य आश्रमों का वर्णन मिलता है । बाणभट्ट की कादम्बरी में जावालि मुनि के आश्रम का वर्णन है । आश्रम पद्धति से ही दीक्षित कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में कहा है, "राजा को ब्राहमणों के आश्रमों के लिए जगह सुरक्षित रखना चाहिए ।" आश्रम में रहकर शिक्षा प्राप्त करने के कारण विद्यार्थी के समक्ष चारित्र्य सम्पन्न गुरू का आदर्श सदैव उपस्थित रहता था तथा गुरू भी शिष्य के छोटे-छोटे दोषों को दूर करता हुआ उसकी उच्छृंखलता एवं स्वैराचरण पर प्रतिबंध लगाकर उसके जीवन को पूर्णतया अनुशासन में आबद्ध कर देता था ।

इस प्रकार से पूर्वजों के संचित अनुभव और ज्ञान लगातार नये समाज को प्राप्त होते रहते हैं और समाज में चैतन्य निर्माण होता रहता है । शिक्षा को व्यष्टि और समष्टि को जोड़ने वाला सूत्र बताते हुए एवं शिक्षा की गरिमा का बोध कराते हुए पंडित जी ने कहा है-

> "नये घटकों को पुराने घटकों से अपने सम्बन्ध का मान रहे तथा वे पुराने घटकों की जीवन अनुभूति को अपनी अनुभूति मानकर और समझकर आगे चले तो उस समूह को समाज का नाम प्राप्त होता है । अर्थात् एक के बाद एक मानव जब दूसरों को जो प्रायः उसके बाद जन्मे हों, विभिन्न क्षेत्रों में अपने सम्पूर्ण अनुभव को अथवा उसमें सारभूत अंश को विभिन्न उपायों द्वारा प्रदान या संक्रमित

करता है तो इस प्रक्रिया में एक निरंतर गतिमान मानव समूह की सृष्टि होती है जिसे समाज कहते हैं।[1]

पंडित जी वैदिक कालीन गुरूकुल के छात्रों की तरह ही आज के विद्यार्थी को देखना चाहते थे । वे छात्रों को नि:शुल्क शिक्षा प्रदान किये जाने के हिमायती थे । उनका कहना था कि "भारत में 1947 से पूर्व सभी देशी राज्यों में कहीं भी शिक्षा के लिए शुल्क नहीं लिया जाता था । उच्च श्रेणी तक शिक्षा नि:शुल्क थी ।"[2]

प्राचीन गुरूकुलों के छात्रों से शुल्क तो दूर उनके रहने और भोजन की व्यवस्था भी समाज के द्वारा की जाती थी । पंडित जी के अनुसार "गुरूकुलों में तो भोजन व रहने की व्यवस्था भी आश्रम में होती थी । केवल भिक्षा माँगने के लिए ब्रहमचारी समाज में जाता था । कोई भी गृहस्थ ब्रहमचारी को खाली नहीं लौटाता था अर्थात् समाज द्वारा शिक्षा की व्यवस्था भी की जाती थी ।"

छात्रों को शिक्षित करना समाज के हित में होता है क्योंकि शिक्षित छात्र समाज को उन्नतिशील बनाने में अपना योगदान करता है । अत: शिक्षा के बदले छात्रों से शुल्क लेना पंडित जी को स्वीकार नहीं था पंडित जी तो शिक्षा को विनियोजन मानते थे । वे कहते थे --

"बच्चे को शिक्षा देना समाज के हित में है ।........जो काम समाज के हित में हो उसके लिए शुल्क लिया जाय यह तो उल्टी बात है ।"[3]

पंडित जी ने आशंका व्यक्त की थी कि यदि अर्थाभाव या अन्य कारणों से छात्र शिक्षा प्राप्त करना बंद कर देंगे तो हमारा समाज पशु समाज जैसा होकर रह जाएगा । "कल्पना करें कि कल शिक्षा शुल्क का बहिष्कार करके अथवा उसे देने में असमर्थ होने के कारण बच्चे पढ़ना बंद कर दें ।"[4]

---

1. पं.दीनदयाल उपाध्याय, कर्तृत्व एवं विचार
   शिक्षा डा. महेश चन्द्र शर्मा — पृष्ठ - 307
2. एकात्ममानवदर्शन
   राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल अर्थरचना - शिक्षा समाज का दायित्व — पृष्ठ - 63
3. तथैव — पृष्ठ - 63
4. तथैव — पृष्ठ - 63

पंडित जी की यह आशंका कुछ हद तक सही सिद्ध हो चुकी है स्वतंत्रता के 48 वर्षों के बाद भी हम संविधान में वर्णित शिक्षा लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सके और वर्तमान समय में आज शुल्क मुक्ति, छात्रवृत्ति, भोजन वितरण, पुष्टाहार वितरण, ड्रेस व्यवस्था और पुस्तक व्यवस्था आदि के द्वारा छात्रों को आकर्षित करने के सरकार द्वारा प्रयास किये जा रहे हैं । हाल ही में प्रधानमंत्री श्री नरसिंहराव के द्वारा शिक्षा को और आकर्षक बनाने के लिए दोपहर के भोजन की व्यवस्था के साथ-साथ छात्र बीमा की योजना लागू की गयी है । विश्व बैंक द्वारा "सबके लिए शिक्षा" के कार्यक्रम चलाकर अधिक से अधिक छात्रों को शिक्षित करने के प्रयास जारी हैं ।

'ख' - गुरू

'शिक्षक' शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण एवं आवश्यक अंग है । विद्यालय भवन, पाठ्य सामग्री शिक्षण पद्धति बिना योग्य शिक्षक के सभी निरर्थक होते हैं । योग्य एवं चरित्रवान शिक्षक भौतिक साधनों के अभाव में भी छात्रों को उत्तम शिक्षा प्रदान कर सकता है । परतंत्र भारत में दूषित शिक्षा प्रणाली के होते हुए भी एक से बढ़कर एक प्रतिभाशाली विद्यार्थियों का निर्माण हुआ लेकिन स्वतंत्रता के बाद आज ह्रास हो रहा है । इस सबका कारण यदि खोजा जाए तो पता चलेगा शिक्षक इसका एकमात्र कारण है ।

वैदिककालीन भारतीय जीवन प्रणाली में शिक्षक को गुरू कहा जाता था- 'गु' अर्थात् तम 'रू' अर्थात् हटाने वाला । गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा भी है कि "गुरू बिनु होई न ज्ञान" गुरू के बिना ज्ञान असम्भव है । इसीलिए वैदिक काल में "छात्र भी गुरू को पिता और देवता समझते थे । "आचार्य देवो भव" की उन्हें शिक्षा दी जाती थी उस समय विश्वास ही यह था -

"पुस्तक प्रत्याधीनं नाधी तौ गुरू सन्निधौ ।
न शोभते सभामध्ये जार गर्भ इव स्त्रियः ।।[1]

जो लोग पुस्तक के सहारे पढ़ते हैं और जिन्होंने गुरू के पास बैठकर नहीं पढ़ा है वे सभा में ऐसे लज्जित होते हैं जैसे पर पुरूष के संसर्ग से गर्भ धारण करने वाली नारी । अनेक विचारकों ने तो गुरू को परमेश्वर से भी बड़ा माना है गुरू परमेश्वर प्राप्ति का मार्ग बताता है । तुलसीदास जी ने यहाँ तक कहा है कि -

"राखई गुरू जो रूठ विधाता ।
गुरू विरोध नहिं कोई जग त्राता ।।"
गुरू बिनु भवनिधि तरई न कोई ।
जो शंकर विरंचि सम होई ।।

---

1. शिक्षा प्रणालियाँ और उनके प्रर्वतक
'गुरूकुलाश्रम' आचार्य सीताराम चतुर्वेदी पृष्ठ - 48

इस प्रकार गुरू स्तुत्य एवं वंदनीय आध्यात्मिक व्यक्तित्व है जो अपने आत्मा के प्रकाश से अपने शिष्य के अन्तःकरण को आलोकित करता है । उसके गुणों का वर्णन करना असम्भव ही है । कहा भी गया है -

सब धरती कागद करूँ लेखनि सब बनराय
सात समद की मसि करूँ, गुरू गुन लिखा न जाए

भारतीय शिक्षा के इतिहास में शिक्षक के पद को गौरवान्वित करने वाले महान् आचार्य तपस्वियों,ऋषियों की परम्परा रही है जिनके सम्मान में सम्राट भी सिंहासन को छोड़कर खड़े हो जाते थे । आधुनिक युग के शिक्षकों में स्वामी दयानन्द, लोकमान्य तिलक, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मदनमोहन मालवीय, स्वामी विवेकानंद, महात्मा गाँधी, श्रद्धानन्द, महर्षि अरविन्द, राधाकृष्णन, संत विनोबा भावे की कीर्ति पताका भारत में नहीं सारे विश्व में फहरा रही है । वर्तमान काल में भारतीय संस्कृति एवं आदर्शों के अनुरूप शिक्षा के स्वरूप को विकसित करने के लिए शिक्षक के पद को हमें वहीं प्रतिष्ठा प्रदान करनी होगी और शिक्षकों को भी उसी तरह का सम्मान प्राप्त हो इसके लिए उन्हें भी अपने अंदर पहले जैसा आदर्श और गुरूता स्थापित करनी होगी । पंडित जी का कहना था कि " हमारी यह शिक्षा विशेषकर औपचारिक शिक्षा निर्जीव कर्मकाण्ड न बन जाय, अतः आवश्यक है कि शिक्षा के व्यापक अर्थों को समझने वाले व्यक्ति अध्यापक बनें तथा समाज शिक्षक को सर्वाधिक पद के नाते स्वीकार करे ।"[1]

आज हमारे देश में आदर्श शिक्षकों की कमी होती जा रही है तथा लोग इस कार्य को हेय समझने लगे हैं- यथा पंडित दीनदयाल जी ने एक बार मित्र से कहा कि मैं शिक्षक बनना चाहता हूँ तो उनके मित्र ने उत्तर में सुझाव दिया कि

"कृपा करो तुम और कुछ भी कर लो चाहो तुम मोची बन जाओ, चाहे सड़क के किनारे बैठकर जूते गाँठने का कार्य करो लेकिन इस गंदले मास्टरी के काम को

---

1. पं.दीनदयाल उपाध्याय - कर्तृत्व एवं विचार
शिक्षा ' आचार्य देवोभव ।'
डा. महेश चन्द्र शर्मा पृष्ठ - 311

मत अपनाओ ।................ अध्यापक बनने से तुम्हारी " इस लोक व परलोक " दोनो लोको में जीवन की समस्त संभावनाएं निश्चित रूप से समाप्त हो जाऐगी ।"[1]

पडित जी ने अपने मित्र के सुझावों को न मानकर शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालय में प्रवेश के ले लिया । उन्होनें स्वयं अध्यापक के विषय में जो अनुभव किया, लिखा है -

"यथा समय मैने प्रशिक्षण महाविद्यालय में प्रवेश लिया । मैनें वहां देखा कि शिक्षण का यह उदात्त कार्य आज आदर्शवादी व सेवाभावी लोगों को आकर्षित नही कर पा रहा है । केवल वे लोग जो अन्यत्र स्थान पाने में असमर्थ होते हैं, अध्यापक बन जाते हैं ।"[2]

पं. जी ने वर्तमान शिक्षा जगत् के पतन का कारण शिक्षकों व समाज द्वारा शिक्षकों की उपेक्षा स्वयं शिक्षकों में कार्य के प्रति निष्ठा की कमी को माना है । इस सम्बन्ध में अपने सुझाव देते हुए उन्होने कहा है -

"जिस शिक्षक को हमारी, प्राचीन समाज व्यवस्था ने आचार्य देवोभव कहा उसके आभा मण्डल का यह अपखण्डन बहुत ही चिन्ताजनक है । यदि हमें अपने समाज को सही अर्थो में सुशिक्षित करना है तो अध्यापक की गरिमा को पुनः स्थापित करना होगा ।"[3]

डा. महेश चन्द्र शर्मा के अनुसार "उपाध्यायजी मानते हैं कि समाज व शिक्षक की मानिसकता में परिवर्तन आवश्यक है । उपाध्याय 'शिक्षक' को शालेय शिक्षा की धुरी मानते हैं । इसको स्वस्थ किए बिना कोई भी शिक्षा पद्धति अपेक्षित परिणाम नही देगी । अतः 'शिक्षा सुधार' की

---

1. तथैव
2. तथैव
3. तथैव

पृष्ठ - 312

प्रथम शर्त है " शिक्षक सुधार " । इसके लिए भी समाज सरकार व शिक्षक का साझा उत्तरदायित्व है । इनमें से कोई भी अकेला यह कार्य नही कर सकता ।"[1]

प्राचीन भारत में " गुरू का धर्म केवल पढ़ाना भर नही था उसका यह भी धर्म था कि वह छात्रों के आचरण की रक्षा करे । उनमें सदाचार की भावना भरे । उनकी योग्यता के संवर्द्धन में योग दे । उनके कौशल और उनकी प्रतिभा की सराहना करके उनकी सर्वांगीण अभिवृद्धि में सहायता करे, वात्सल्य भाव से उनकी देखरेख करे उनके भोजन वस्त्र का प्रबन्ध करे । छात्रों के रोगी होने पर उनकी सेवा करे और जब वे विद्या प्राप्त करने या शंका मिटाने आवे उसी समय उनकी शंका का समाधान करे, उन्हें अपने घर का अपना बालक समझे अर्थात् उनमें शुद्ध भाव स्थापित करे और यदि वे बुद्धि कौशल में अपने से बढ़ जाए तो इसे अपना गौरव समझे -

सर्वत्र जयमन्विच्छेत्

पुत्रात् शिष्यात् पराजयः

अर्थात् सबसे विजय की कामना करे लेकिन पुत्र शिष्य से पराजय की इच्छा करे ।[2]

'ग'- गुरू शिष्य सम्बन्ध :

शोधकर्ता ने पं. दीनदयाल जी द्वारा निर्दिष्ट गुरू और शिष्य के गुणों की विवेचना की है इसके साथ ही साथ वह गुरू शिष्य सम्बन्धों की व्याख्या करना भी अपना कर्त्तव्य मानता है ।

प्राचीन काल में हमारे यहाँ गुरू को आध्यात्मिक पिता तथा शिष्य को आध्यात्मिक पुत्र माना जाता था । अतः गुरू और शिष्य का सम्बन्ध पिता और पुत्र की तरह ही होता था । आचार्य या गुरू अपनी विद्या कौशल, प्रेम और सहानुभूति के द्वारा विद्यार्थी के जीवन का निर्माण करता था । प्राचीन कालीन या वैदिक कालीन शिक्षण पद्धति पर टीका टिप्पणी करने वाले यह आरोप लगाते हैं कि

---

1. तथैव
2. शिक्षा प्रणालिया और उनके प्रवर्तक , गुरू और शिष्य

   आचार्य सीताराम चतुर्वेदी पृष्ठ-48

शिक्षण देने का कार्य करने वालो ने अपना विशिष्ट वर्ग तैयार कर उस व्यवसाय को केवल अपने ही अधिकार में ले लिया था । लकिन शोधकर्त्ता का कहना है कि इस प्रकार आलोचना करने वाले वैदिक कालीन गुरू शिष्य परम्परा से सर्वथा अनभिज्ञ हैं । उस समय शिक्षण कार्य पूर्णतः निःशुल्क था । गुरू को शिष्य से किसी भी प्रकार के आर्थिक लाभ की अपेक्षा ही नही रहती थी । हमारे यहां के ऋषियों मुनियों, तपस्वियों और आचार्यों ने राजकाज तथा उद्योगों और व्यवसायों के माध्यम से जीविकोपार्जन के काम को दूसरों के लिए ही छोड रखा था, स्वयं सम्पूर्ण जीवन केवल ज्ञान दान के कार्य में और वह भी बिना मूल्य होम करने का व्रत स्वीकार किया था । राजाओं के द्वारा आश्रमों को अवश्य मदद मिलती थी लेकिन गुरू को मिलने वाला धन मात्र शिष्य द्वारा शिक्षोपरान्त दी गयी गुरूदक्षिणा ही होता था । विद्या के माध्यम से धन कमाने वाले की घोर निन्दा की गयी है तथा उसे आचार्य जैसे श्रेष्ठ पद मे रहने का अधिकारी ही नही माना गया है -

" यस्यामगः केवल जीविकार्यै,
तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ।"

अर्थात् जो अपनी विद्या का उपयोग केवल पेट की ज्वाला को शान्त करने के लिए करता है , वह व्यक्ति ब्राहमण न होकर ज्ञान की दूकान लगाने वाला बनिया है ।

वर्तमान शैक्षिक जगत इतना दूषित हो गया है कि गोस्वामी तुलसी दास द्वारा कही गयी बात पूर्णतया चरितार्थ हो रही है ।

गुरू शिस बधिर अन्धका लेखा ।
एक न सुनहिं एक न देखा ।"

पिता पुत्र के सम्बन्ध तो दूर वैर भाव निर्मित हो गया है । आए दिन छात्र और अध्यापकों में झगडे होते रहते हैं । आपसी वैमनस्य आम बात हो गयी है । मात्र धनोपार्जन के उद्देश्य से शिक्षक बनने वाले व्यक्ति सदैव अधिकाधिक धनार्जन की उधेडबुन में लगे रहते हैं, मौका लगने पर अपने छात्र से भी धन ऐठने में किसी प्रकार का संकोच नही करते । छात्र भी शिक्षकों का अपमान करने में गर्व का अनुभव करते हैं ।

पं. दीन दयाल जी ने इस दुरावस्था को दूर करने एवं प्राचीन परम्परा के अनुसार गुरूशिष्य सम्बन्धों को चिरस्थायी बनाने के लिए शैक्षिक जगत् के लिए हित चिन्तक " अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद् " नाम संगठन का निर्माण किया । विद्यार्थी परिषद आज भी शैक्षिक वातावरण को स्वच्छ बनाने के लिए शैक्षिक परिवार की परिकल्पना को साकार करने में सतत् प्रयत्नशील है । पं० दीनदयाल जी उपाध्याय की यही परिकल्पना थी कि " विद्यार्थी परिषद् " के माध्यम से यदि आज के छात्र और शिक्षक प्राचीन परम्परा की भाँति गुरू और शिष्य के आध्यात्मिक सम्बन्धों को मधुर बनाऐंगे तो निश्चित ही यह समाज पुनः उन्हे "आचार्य देवोभव" कहकर नतमस्तक हो जाएगा । शिक्षा पुनः अपने खोये हुये गौरव को प्राप्त करेगी, भारत पुनः जगत् गुरू के सर्वोच्च पद पर पदासीन होगा ।

'घ'- स्वतन्त्रता और अनुशासन

शिक्षा प्रक्रिया को सही दिशा मे आगे बढ़ाने के लिए शिक्षा की सर्वांगपूर्ण व्यवस्था अपेक्षित है । बालक शिक्षा प्रक्रिया का प्रमुख अंग होता है उसी के जीवन को सुन्दर और सुदृढ़ बनाने के लिए विद्यालयों के द्वारा शिक्षा की व्यवस्था की जाती है । बालक को भी विद्यालय के नियमों का पूर्णतया पालन करना पड़ता है अन्यथा विद्यालय और बालक दोनो अपने उद्देश्यों की प्राप्ति करने में असफल रह जाते हैं । इस प्रकार सफल शैक्षिक व्यवस्था के लिये अनुशासन की व्यवस्था अनुभव की जाती है । अतः विद्यालय में उपयुक्त अनुशासन व्यवस्था होनी चाहिए और बालकों को भी चाहिए कि अनुशासन में रहकर शिक्षा लाभ प्राप्त करे । इस परिप्रेक्ष्य में शोधकर्ता पंडित दीनदयाल उपाध्याय के अनुशासन सम्बन्धित उन विचारों का अध्ययन करना चाहता है जो स्वतंत्रता की आधार शिला पर प्रस्तावित है ।

> " स्वतंत्रता का शाब्दिक अर्थ है - स्व + तन्त्र अर्थात् अपना शासन ।
> स्वतंत्रता वह स्थिति है जिसमें मनुष्य "स्व" के शासन में रहता है ।"[1]
> इस प्रकार "स्व" से शासित होना ही स्वतन्त्रता है ।

> "अनुशासन का अर्थ बहुत ब्यापक है । इसके अन्तर्गत बाह्य ब्यवस्था , बाह्य ब्यवहार, आन्तरिक प्रेरणा, आत्म नियन्त्रण, आत्म संयम, विनय सभी कुछ आ जाते हैं ।"[2]

इस प्रकार शोधकर्ता इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि स्वतंत्रता और अनुशासन का अर्थ है मनुष्य द्वारा स्वेच्छा से किया गया वह आचरण जो समाज सम्मत हो ।

प्राचीन काल में "गुरूकुलों के छात्रों का जीवन दुरूह अनुशासनों से पूर्ण होता था। सम्पूर्ण शिक्षा काल में ब्रह्मचर्य जीवन ब्यतीत करना पड़ता था । मेखला, मृगचर्म और लम्बे केश धारण

---

1. शिक्षा के दार्शनिक और समाज शास्त्रीय सिद्धान्त
   स्वतन्त्रता और अनुशासन — पृष्ठ - 506
   रमन बिहारी लाल, रस्तोगी पब्लिकेशन शिवाजी रोड , मेरठ ।
2. शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त - स्वतन्त्रता और अनुशासन
   पाठक एवं त्यागी - विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा । — पृष्ठ - 240

करने पड़ते थे । निश्चित दिनचर्या में गुरू की सेवा और भिक्षाटन सम्मलित थे । दण्ड के रूप में समझाना, बुझाना, उपदेश और उपवास की व्यवस्था थी । छड़ी अथवा पतली रस्सी से शारीरिक दण्ड दिया जाता था ।[1] लेकिन गुरू तथा छात्र में पिता-पुत्र जैसे सम्बन्ध होने के कारण यह दण्ड कठोर नही होता था वरन् उनके लाभ और सुधार की भावना से निहित होता था । गुरू हर तरह से अपने शिष्यों का ध्यान रखता था ।

प्राचीन काल की भाँति बौद्ध काल मे भी अनुशासन पर अत्यधिक बल दिया जाता था । छात्र को फूल पत्तियों तोडने, सम्पत्ति रखने, सार्वजनिक स्थानो पर तमाशा देखने, हानिप्रद खेलों में भाग लेने, शरीर को अलंकृत करने, गाली गलौज और झगड़ा का पूर्ण निषेध था । जो छात्र निषिद्ध कार्यो को करते थे उनको दण्ड दिया जाता था । डा0 आर.के.मुकर्जी ने लिखा है, " एक बार संघ के सब सदस्यों को अनुशासनहीनता के अपराध में संघ से निकाल दिया गया था ।"[2] प्राचीन काल की ही भाँति छात्र और शिक्षक के सम्बन्ध पुत्र और पिता के समान थे । इसिलए गुरू अपने शिष्य के किसी भी प्रकार के कष्टो का निवारण करते थे । उसके बीमार हो जाने पर उसकी सेवा तक करते थे ।

मुस्लिम शिक्षा के अन्तर्गत कठोर शारीरिक दण्ड की व्यवस्था थी -

" पाठ याद न होने एवं अपराध होने पर बेत, कोड़े, लात, घूसें, थप्पड़ आदि से शारीरिक दण्ड दिया जाता था । विशेष अपराध करने पर कठोर शारीरिक यातनाएं दी जाती थी । मुर्गा बनाना, उसके ऊपर वजनदार वस्तु रखदेना, पैरो के बल वृक्षो में उल्टा लटकाना, बोरे में किसी कष्ट दायक पशु बिल्ली या चूहे के साथ बन्द कर दिया जाना, हाथ पाँव बाँध कर पेट के बल जमीन में खिसकने के लिए बाध्य करना आदि दण्ड के नियम थे। जो अमानवीय होने के साथ साथ अमनोवैज्ञानिक और शिक्षण सिद्धान्तों के प्रतिकूल थे ।"[3]

---

1. भारतीय शिक्षा की समस्याए — पृष्ठ - 18
   प्राचीन भारतीय शिक्षा - पं. दीनदयाल उपाध्याय
2. तथैव बोद्ध शिक्षा — पृष्ठ - 35
3. तथैव मुस्लिम शिक्षा — पृष्ठ - 64

आधुनिक शिक्षा शस्त्रियों ने दमनात्मक, अनुशासन का पूरी तरह से विरोध किया है । उनका मानना है कि यह सिद्धान्त बालक की मनोबृत्तियों, इच्छाओं और रूचियों को दमन करता है तथा शिक्षक को अनुचित बल प्रयोग की स्वतंत्रता देता है । प्रजातन्त्र में इस प्रकार के अनुशासन को कोई स्थान नही दिया जाना चाहिए । गुरू और शिक्षण का सम्बन्ध प्रेम एवं सहानुभूति पर आधारित होना चाहिए पाशविकता पर नही । बहुत से शिक्षा शास्त्री बच्चे को किसी प्रकार के बन्धन में नहीं रखना चाहते । वे न तो उन्हें निश्चित पाठचर्या में बाँधना चाहते न विद्यालय की सीमाओं में । वे बच्चों को अपनी रूचि, रूझान और आवश्यकता अनुसार स्वतत्रता पूर्वक शिक्षा प्राप्त करने के पक्षधर हैं । स्वंतत्रता से उनका तात्पर्य भी स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की स्वंतत्रता और विकास में बाधा डाले बिना अपना विकास करने के लिए पूर्णतया स्वतंत्र हैं ।

आधुनिक शिक्षा शास्त्री ' स्वतन्त्रता ' और ' अनुशासन ' को एक सिक्के के ही दो पहलू मानते हैं । उनका कहना है कि जिस प्रकार शरीर के बिना आत्मा और आत्मा के बिना शरीर का कोई अर्थ नही हैं उसी प्रकार स्वतन्त्रता के बिना अनुशासन का तथा अनुशासन रहित स्वतन्त्रता का भी कोई अर्थ नहीं है । स्वतन्त्रता पूर्वक स्वेच्छा से ग्रहण किया जाने वाला अनुशासन सच्चा और स्थायी अनुशासन होता है । इसके विपरीत दण्ड के कारण उत्पन्न अनुशासन दण्ड का भय हटते ही समाप्त हो जाता है ।

आज शिक्षा संस्थाओं में ही नही अपितु सारे समाज में अनुशासन हीनता का साम्राज्य स्थापित हो गया है । विद्यार्थी समाज का अंग होता है उसके अनुशासनहीन होने में समाज के रचनात्मक कार्यो की प्रगति अवरूद्ध हो जाती है ।

वर्तमान समय में विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में अनुशासन हीनता की अनेको घटनाएं दिन प्रतिदिन घटती रहती हैं । सत्याग्रह आन्दोलन हड़ताल झगड़े और तोडफोड़ तो आम बात बन गयी हैं । छात्र अनुशासित रहने की अपेक्षा अनुशासन तोड़ने के लिए अधिक उत्सुक रहते हैं ।

विद्यालय समाज का लघु स्वरूप होता है तथा विद्यार्थी समाज का अंग और कल का नही आज का नागरिक है यदि नागरिक अर्थात् विद्यार्थी अनुशासन हीन हो गया तो सम्पूर्ण समाज अनुशासनहीन हो जाएगा अव्यवस्था फैल जाएगी और प्रगति के सभी मार्ग बन्द हो जाएंगे । इस बात को ध्यान में रखते हुए विद्यालय के परिवेश को ऐसा बनाया जाए जिसमें विद्यार्थी आदर्श नागरिक के रूप में अपना वर्तमान् जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा प्राप्त कर सके ।

माध्यमिक शिक्षा आयोग के अनुसार हमें विद्यालय को वास्तविक सामाजिक जीवन सामाजिक गतिविधियों का केन्द्र बनना हैं जहां आदर्श मनुष्य-समुदाय के समान सुन्दर और सहज जीवन की प्रेरणा और प्रणाली दिखाई दें । '[1]

महान् शिक्षा शास्त्री ज्ञानड्यूवी ने भी अनुशासन की स्थापना के लिए सामाजिक जीवन के महत्व पर बल देते हुए कहा है "विद्यालय में अनुशासन का अर्थ सामाजिक अनुशासन हैं।[2]

वह सामाजिक अनुशासन में बालक के प्राकृतिक आवेगो को पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करने के पक्ष में था और बालक के प्राकृतिक आवेगों को विद्यालय की सहयोगी क्रियाओं के माध्यम से अनुशासित करने का समर्थक था । अतः हम कह सकते हैं कि ड्यूबी विद्यालय में सामाजिक एवं सहयोगी क्रियाओं के माध्यम से सामाजिक अनुशासन स्थापित करने का समर्थक है। यह सामाजिक अनुशासन बालक को समाज का एक उपयोगी सदस्य बनाने में सहायक होगा ।

पं. दीनदयाल जी उपाध्याय बालक के अन्दर सामाजिक चेतना का भाव जागृत करना ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मानते हैं। सामाजिक चेतना अर्थात् समाज के प्रति आत्मीयता एवं एकात्मता का भाव उत्पन्न होने से समाज के हित का तथा समाज के प्रति ममत्व का विचार आता है । फिर वह समाज की बुराई को दूर करने एवं भलाई करने के लिए उद्यत् रहता है । अतः हृदय और मष्तिस्क में सामाजिक चेतना विकसित होने से बालक बिना किसी दवाव के स्वतन्त्रता

---

1. माध्यमिक शिक्षा आयोग पृष्ठ-214
2. शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त
   प्रयोजनवादी या प्रयोगवादी विचारक
   जान डयूबी "अनुशासन' - पाठक एवं त्यागी पृष्ठ-264

पूर्वक अपने व्यवहार का नियमन करने लगता है । समाज के हित में अपना हित और समाज के अहित में अहित में अपना अहित मानने लगता हैं । इस तरह अनुशासन तीन तत्वों अन्तः -प्रेरणा, आत्मनियन्त्रण और समाज सम्मत आचरण परआधारित होता हैं ।

पं. दीनदयाल जी ने आत्संयम अर्थात् स्वतन्त्र अनुशासन पर वल देते हुए कहा है " शिक्षा और संस्कार ' से ही समाज के जीवन मूल्य बनते और सुद्रढ होते हैं इन मूल्य का बांध रखने के बाद लोकेच्छा की नदी कभी अपने तटों का अतिक्रमण कर संकट का कारण नही बनेगी ।"[1]

एक स्थान पर उन्होनें यह भी कहा है कि -

"अनुशासन और अहंकार साथ-2 नही चल सकते । अनुशासन के लिये बुद्धि आवश्यक है ।"[2]

जो शिक्षा के द्वारा शुद्ध होती है और मनुष्य को अहंकार रहित बनाती है ।

पं. जी का मत है कि दण्ड या प्रताड़ना के द्वारा नही वरन् आदर्शों की शिक्षा और जिम्मेदी का भाव उत्पन्न करने सें बालक के अन्दर स्वयमेव अनुशासन उत्पन्न हो जाता है अपने व्यवहार का नियमन व्यक्ति द्वारा तब हो सकता है जब व्यक्ति को अपन आदर्शो की लगन हो तथा अपनी जिम्मेदारी का बराबर भाव हो । असंयम और गैरजिम्मेदारी साथ साथ चलते हैं------समाज जितना यह समझता. जाएगा कि राज्य को चलाने की जिम्मेदारी उसकी है उतना ही वह संयमशील बनता जाएगा । "[3]

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि बच्चे को उसकी आन्तरिक इच्छाओं के अनुसार स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करने दिया जाए जिससे उसके अन्दर योग्यता

---

1. राष्ट्र जीवन की दिशा - लोकमत परिष्कार - पं.दीनदयाल उपाध्याय पृष्ठ-84
2. पं.दीनदयाल उपाध्याय, कर्तत्व एवं विचार सामाजिक सक्रियता एवं विचार पृष्ठ-326
3. तथव पृष्ठ-84

बढ़ाने की शक्ति जगे अधिक से अधिक परिश्रम करने की कोशिश करे हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अनुशासन में लाने के लिए दण्ड की अपेक्षा उसे संस्कारित किया जाए उसके ऊपर जिम्मेवारी डाली जाए उसको प्रोत्साहित किया जाएं । उसके बताया जाए कि अनुशासन प्रतिबन्ध नही बल्कि सयम है और सामन्जस्य पूर्ण, "जीवन में संयम की नितान्त आवश्यकता है।" [1]

'ङ'- समीक्षात्मक विचार :-

एडम्स ने शिक्षा के द्विमुखी प्रक्रिया कहते हुए शिक्षक और शिक्षार्थी को ही शिक्षा के अंगों के रूप में स्वीकार किया लेकिन जान ड्यूवी ने शिक्षा को त्रिमुखी प्रक्रिया बताते हुए कहा शिक्षक और शिष्य के अतिरिक्त एक तीसरा अंग भी है 'समाज' जिसके बिना शिक्षा की प्रक्रिया अधूरी रहती है ।

पं. दीनदयाल उपाध्याय ने भी शिक्षा को त्रिमुखी प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया है तथा इसको शिक्षकत्रयी के नाम से रूपायित करते हुए कहा है "शिक्षा केवल शालेय उपक्रम मात्र नही वरन् एक सम्पूर्ण सामाजिक प्रक्रिया है शालेय शिक्षा उसका महत्वपूर्ण भाग होते हुए भी केवल शालेय शिक्षा से समाज सर्वांग रूप से सुशिक्षित नही हो सकता ।"[2]

उनकी शिक्षकत्रयी के अन्तरगत समाज, शिक्षक एवं छात्र सम्मिलित हैं उन्होंने कहा है "शिक्षा की सर्वांगपूर्णता की प्रथम शर्त है संस्कार क्षम समाज ।"[3]

इस प्रकार कहा जा सकत है कि पं. दीनदयाल जी की शिक्षा के तीन अंग है समाज, शिक्षक और छात्र उनके अनुसार "समन्वित शिक्षकत्रयी ही समाज में सर्वागपूर्व शिक्षानीति की प्रत्याभूति ।"[4]

समाज को अत्यधिक शक्तिशाली बनाने के लिए शिक्षा की महती आवश्यकता की उन्हें अनुभूति थी उन्होने कहा है "शिक्षा की तिजनी व्यापक और गहरी व्यवस्था होगी समाज

---

1. राष्ट्र जीवन की दिशा - लोकमत परिष्कार — पृष्ठ - 82
   पं. दीनदयाल उपाध्याय
2. पं. दीनदयाल उपाध्याय - कर्तव्य एवं व्यक्तित्व
   शिक्षा - डा० महेश चन्द्र शर्मा, — पृष्ठ - 310
3. तथैव — पृष्ठ - 313
4. तथैव

उतना ही अधिक पुष्ट और गम्भीर होगा । नई पीढ़ी के जितने लोगों को और जितनी अधिक मात्रा में पिछली ज्ञान निधि प्राप्त होगी उसी पूंजी को लेकर वह जीवन के कार्य क्षेत्र में उतरेगी ।"[1]

समाज को सुदृढ़ बनाने के लिए शिक्षा की, एवं शिक्षा के व्यापक और विविधतापूर्ण योजना के लिए उपाध्याय जी " शिक्षक " की भूमिका को आवश्यक मानते हैं

" एतदर्थ ऐसे लोगों की आवश्यकता हो जाती है जो पीढ़ियों के संचित ज्ञान को आत्मसात् करके सुबोध बना सकें । "[2]

पं. दीनदयाल उपाध्याय शिक्षण संस्थाओं में स्वतन्त्र अनुशासन के पक्षधर दिखाई देते है जैसा कि उनका कहना है कि " इस ज्ञान की छाप जितनी गहरी सुस्पष्ट और सुव्यवस्थित रहेगी उतना ही मानव अपनी जीवन यात्रा में सरलता और शान्ति से पग बढ़ा सकेगा । "[3]

---

1. राष्ट्र चिन्तन "शिक्षा" अध्याय - 14
पं.दीनदयाल उपाध्याय - राष्ट्र धर्म पुस्तक प्रकाशन लखनऊ पृष्ठ-99
2. तथैव
3. तथैव

अध्याय - ६

निष्कर्ष एवं सुझाव

अध्याय - 6

निष्कर्ष एवं सुझाव

पराभाव के काल खण्ड में किसी भी राष्ट्र का जीवन प्रवाह अवरूद्ध हो जाता है। राष्ट्र के घटकों को धर्मभ्रष्ट करने का षडयंत्र रचा जाता है। भौतिक रूप से ही नही वरन् परतंत्र राष्ट्र के घटक मानसिक और आत्मिक रूप से भी गुलाम बन जाते है। उनका आत्म सम्मान नष्ट होने लगता है प्रतिभा कुण्ठित हो जाती है। परतंत्र राष्ट्र की भाषा संस्कृति साहित्य और परम्परा नष्ट होने लगती है। उसके महापुरूषों के प्रति अश्रद्धा निर्माण की जाती है तथा उसके नैतिक मानदंडों को निम्नतर सिद्ध किया जाता है। उसकी जीवन पद्धतियों पर विदेशी जीवन पद्धतियाँ भारी पड़ने लगती है तथा विदेशी आदर्श उसके अपने आदर्शो का स्थान ले लेते हैं। उस राष्ट्र के नागरिक शारीरिक रूप से जिन्दा रहते हुए भी आत्मिक और मानसिक रूप से मृत प्रायः हो जाते हैं। अपनी प्रकृति स्वभाव तथा प्रतिभा के अनुरूप स्वतन्त्रापूर्वक कार्य न कर पाने के कारण प्रगति तो दूर पतन की ओर पहुँचने लग जाते है। इस दयनीय दशा को दूर करने के लिए उस राष्ट्र के नागरिकों को स्वतन्त्रता का आह्वान करना पड़ता है। इसी नियम के अनुसार भारत वर्ष ने भी अंग्रेजी राज्य से मुक्ति प्राप्त कर ली 15 अगस्त 1947 को हमने स्वतंत्रता प्राप्त करते ही उन सभी बाधाओं को दूर कर दिया जो हमारे विकास को अवरूद्ध कर रहीं थी। हमारी आत्मानुभूति का मार्ग प्रशस्त हो गया।

राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के उपरांत आर्थिक,सामाजिक,सांस्कृतिक एवं अध्यात्मिक स्वतन्त्रताका प्रयत्न स्वभाविक होता है। इसी दृष्टि से हमारे राष्ट्र नेताओं एवं विचारकों ने अपने अपने सद्प्रयास प्रारम्भ किए। दो प्रकार की विचारधारायें प्रस्फुटित हो सामने आयी। पहली विचार धारा के अनुसार परतन्त्रता के समय जहाँ हमारे जीवन का प्रवाह रूक गया था वही से हमें चलना प्रारम्भ करना चाहिए। तथा दूसरी विचारधारा ने पश्चिमी जीवन पद्धति को ही प्रगति की

दिशा मानकर चलने का सुझाव प्रस्तुत किया।

पं.दीनदयाल उपाध्याय को उपरोक्त दोनों विचारधारायें पूर्णतः स्वीकार नही थी तथा पूर्णतः अमान्य भी नही थी। इस प्रकार उपरोक्त दोनों विचारधाराओं में उन्हें जो सत्य प्रतीत हुआ उसको स्वीकार भी किया। उनके अनुसार -

"ये दोनों ही प्रकार के विचार सत्य नही है किन्तु,उनको पूर्णतः अमान्य करके चलना ठीक नही होगा उनमें सत्याँश अवश्य है।"[1]

राष्ट्र की भावी दिशा निश्चित करने की दृष्टि से पं. दीनदयाल उपाध्याय ने उपरोक्त दोनो विचार धाराओं की विवेचना करना उचित समझा । विवेचना के उपरान्त उन्होंने पाया कि लौटकर पुनः वहीं से चलना प्रारम्भ करना जहाँ हम रूक गये थे, उचित नही होगा । क्योंकि राष्ट्र न तो कोई निर्जीव वस्तु है न कोई पुस्तक जिसे बुनते या पढ़ते समय जहाँ छोड़ दिया गया वहीं से दुबारा बुनना या पढ़ना प्रारम्भ कर दें । फिर परतन्त्रता के काल खण्ड में भी हम चुप नही बैठे, कुछ न कुछ करते ही रहे है । स्वतन्त्रता के लिए किया गया सफल प्रयास एवं हमारे कर्तब्य का ज्वलंत उदाहरण है, इसलिए लौटकर चलना बुद्धिमानी नही होगी । परिस्थितियों के अनुसार अपने जीवन को ढालने का हमारा प्रयत्न भुलाकर चलना श्रेयष्कर नहीं होगा ।

इसी प्रकार दूसरी विचार धारा के अनुसार जो लोग विदेशी विचारों एवं प्रगति को आधार बनाकर चलना चाहते हैं वह भी भूल कर रहे हैं क्योंकि विदेशी विचार हमारे देश के लिए

---

1. एकात्म मानव दर्शन

एकात्ममानववाद

पं दीनदयाल उपाध्याय, पृष्ठ - 14

पूरी तरह उपयुक्त नही हो सकते । किसी भी देश की पहिचान उसकी अपनी संस्कृति से होती है । पश्चिमी देशों की विचार पद्धतियों में वहाँ की प्रकृति और संस्कृति की छाप है । उनको भारत में लागू करना न तो वैज्ञानिक ही है न विवेकपूर्ण । पश्चिमी विचारधारा तो संघर्ष पर आधारित है, वहाँ राष्ट्रीयता, प्रजातन्त्र, समता या समाजवाद को आदर्शों के रूप में स्वीकार किया गया है । उक्त आदर्श व्यवहार में अपूर्ण एकांगी विभिन्न समस्याओं को एवं संघर्षो को जन्म देने वाले हैं ।

" राष्ट्रीयता दूसरे देशो की राष्ट्रीयता से टकराकर घातक बन जाती है तथा विश्वशान्ति को नष्ट करती है । साथ ही विश्वशान्ति को यदि यथास्थिति का पर्याय मान लिया जाय तो बहुत से राष्ट्र स्वतन्त्र ही नही हो पायेगें । विश्व की एकता और राष्ट्रीयता में टकराव आता है तो कुछ लोग विश्व एकता के लिये राष्ट्रीयता को नष्ट करने की बात कहते हैं तो दूसरे विश्व एकता को स्वप्न जगत की बात बतलाकर अपने राष्ट्र के स्वार्थो को ही सर्वाधिक महत्व देते हैं । दोनो का मेल कैसे बिठाया जाय, इसी प्रकार की समस्या प्रजातन्त्र और समाजवाद के बीच उपस्थित होती है । प्रजातन्त्र में व्यक्ति स्वातन्त्र्य तो है परन्तु उसका विकास पूँजीवादी व्यवस्था के साथ शोषण और केन्द्रीयकरण के साधन के रूप मे हुआ । शोषण मिटाने के लिए समाजवाद लाया गया परन्तु उसने

व्यक्ति की स्वतन्त्रता और गरिमा को ही नष्ट कर दिया ।"[1]

कुल मिलाकर इनमें से प्रत्येक आदर्श एक दूसरे का घातक है , इसलिए पश्चिम भी पूरे आत्मविश्वास के साथ यह नहीं कह सकता कि हमारी विचार धारा हमारा मार्ग निस्संदेह सत्य एवं उपयुक्त है । इसके बाद भी हमारे यहां कुछ ऐसे लोग हैं जो पाश्चयात्य अर्थनीति एवं राजनीति को ही प्रगति की दिशा मानकर भारत के ऊपर थोपना चाहते हैं ।

इस तरह पाश्चात्य विचारधारा की विवेचना करने के बाद उसके अनुयायियों की कड़ी भर्त्सना करते हुए पं. दीनदयाल उपाध्याय ने कहा -

> "अंग्रेजों के जाने के बाद गान्धीजी ज्यादा दिनों तक जिन्दा नहीं रह पाए, तथा राज्यसत्ता जिनके हाथों में आयी वे भारत की भाषा और भावना को न तो समझ पाए और न उसके वह सपने रख पाए जो उसे अपने लगते । अंग्रेज से लड़ते समय हमने चाहे जितना स्वदेशी का नारा लगाया हो किन्तु उसके जाने के बाद हमने सम्पूर्ण जीवन को तथा अपनी समस्याओं को उसी के चश्में से देखा । फलतः हमारी राजनीति, अर्थनीति, समाज व्यवस्था, साहित्य और संस्कृति मे अंग्रेजियत की गहरी छाप है । भारतीयता अगर कहीं दिखती है तो वह ऊपर है हमारी मौलिक धारणाएँ विदेशी हैं ।.......... विभिन्न राजनैतिक दल वे समाजवादी हो या गैर समाजवादी, यूरोप की राजनीतिक विचारधाराओं से ही प्रभावित हैं तथा वे भारत को किसी न किसी देश की अनुकृति बनाना चाहते हैं ।"[2]

उपाध्यायजी की दृष्टि में पश्चिम का अन्धानुकरण करना ' अन्धेननीयमाना यथान्धाःकी' उक्ति को चरितार्थ करना होगा । अतः उन्होनें भारतीय संस्कृति को ही आधार मानकर

---

1. तथैव पृष्ठ 16-17.
2. राष्ट्र चिन्तन 'स्वतंत्रता की साधना और सिद्धि' - पं. दीन दयाल उपाध्याय पृष्ठ - 58.

देश की दिशा निश्चित करने का कार्य किया । उनका दृढ़ विश्वास था कि उधार ली हुई विदेशी विचार धाराओं से हमारे राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति अपना उदात्त स्वरूप नही प्रकट कर सकती । इस स्थिति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारो पुरूषार्थों पर आधारित हिन्दू जीवन पद्धति ही राष्ट्र की संस्कृति को प्रकट करने में सक्षम सिद्ध हो सकती है । उन्होने कहा भी है -

> "इस गौरवमयी संस्कृति की पुनः प्रतिष्ठापना से ही राष्ट्र जीवन में चतुर्दिक् परिव्याप्त विकृतियों का शमन एवं निराकरण हो सकता है।"[1]

'संस्कृति' ही किसी राष्ट्र की पहचान का आधार होती है इसीलिए किसी भी देश की शिक्षा उस देश की संस्कृति पर ही आधारित होती है। संस्कृति के हस्तान्तरण संरक्षण और संवर्द्धन का कार्य शिक्षा ही करती है। अतएव अनेक विद्वानों ने शिक्षा के भारतीयकरण पर जोर दिया है।

प्रो. बलराज मधोक के अनुसार -

> "भारतीयकरण का आशय है भारत और भारतीय संस्कृति के प्रति रागात्मक, भावात्मक सम्बन्ध रखना । अतः किसी व्यक्ति के भारतीयकरण का अर्थ हुआ उसमें संस्कारो द्वारा तथा सजग सामाजिक एवं राजनैतिक प्रयासों द्वारा भारतीयता की भावना भरना ताकि वह भारत से अपना तादात्म्य कर सके और अपने सामाजिक, धार्मिक, भाषायी, राजनीतिक आदि वर्गो से ऊपर भारत के प्रति निष्ठा रखे............ वस्तुतः भारत राष्ट्र के प्रति राष्ट्रीय भावना उज्जीवित करने का ही दूसरा नाम है भारतीयकरण ।"[2]

स्वामी विवेकानन्द ने भी परानुकरण को हेय बताते हुए शिक्षा के भारतीयकरण

---

1. राष्ट्र जीवन की दिशा
   राष्ट्र, प्रकृति और विकृति — पं.दीनदयाल उपाध्याय — पृष्ठ - 77
2. भारतीयकरण - बलराज मधोक

का सुझाव दिया। उन्होने भारतवासियो को ललकारते हुए प्रश्न किया है तथा स्वयं ही उसका समाधान भी प्रस्तुत किया है

"भारत ।
केवल दूसरों की हां मे हां मिलाकर,
दूसरो की इस क्षुद्र नकल के द्वारा,
दुसरो का मुंह ही ताकते रहकर,.....
क्या तू इस पाथेय के सहारे,
सम्यता और महानता के चरम शिखर पर
चढ़ सकेगा ?.........

हमें अपनी प्रकृति के अनुसार विकास करना होगा। विदेशी समाजों द्वारा हम पर बलात् आरोपित कार्य प्रणालियों का अनुगमन करना हमारे लिए निरर्थक है। वह असम्भव भी है।......... जो उनके लिए अमृत है, वही हमारे लिए विष तुल्य हो सकता है । यह पहला पाठ है जिसे हमें स्मरण रखना है .... हम अपनी परम्पराओं के कारण, अपने पीछे सहस्त्रों वर्ष के कर्म -संचय के कारण, अपनी ही प्रबृत्ति के अनुसार आगे बढ़ सकते हैं, अपने जीवन प्रवाह के अनुकूल रहकर ही संगति कर सकते हैं ।" [1]

राष्ट्र धर्म दृष्टा महर्षि अरविन्द ने भी राष्ट्रीय आधार पर देश के लिए शिक्षा की रूपरेखा अपनी पुस्तक 'ए सिस्टम आफ नेशनल एजूकेशन' मे प्रस्तुत करते हुए कहा है --

"हम जिस शिक्षा की खोज में हैं
वह भारतीय आत्मा और आवश्यकता तथा स्वभाव और संस्कृति के उपयुक्त शिक्षा है, केवल ऐसी शिक्षा नही है जो भूतकाल के प्रति ही आस्था रखती हो बल्कि

---

1. उन्तिष्ठ जागृत
पुनूरूत्थान का कार्य आधार और दिशा
स्वामी विवेकानन्द संकलनकर्ता - एकनाथ रानडे पृष्ठ 63, 68

भारत की विकासमान आत्मा के प्रति, उसकी भावी आवश्यकताओं के प्रति उसकी आत्मोत्पत्ति की महानता के प्रति और उसकी शाश्वत आत्मा के प्रति आस्था रखती हैं।.........प्रकृति में सब कही विविधता है और इस विविधता में ही समृद्धि है। अस्तु अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को बनाए रखते हुए भी इस विविधता को मिटाया नही जा सकता । राष्ट्रीय शिक्षा का अर्थ यह नही है कि हम आधुनिक ज्ञान और सत्य की अवहेलना करें बल्कि उसका अर्थ केवल यह है कि जो कुछ भी ज्ञान और सत्य एकत्रित करें उसको राष्ट्रीय जामा पहना दे ताकि वह हमारे अस्तित्व का जीवित अंग बन जाए ।"[1]

वर्तमान समय की एक महान् धार्मिक संस्था 'युग निर्माण योजना' मथुरा के प्रवर्तक श्री राम शर्मा ने भी पाश्चात्य शिक्षा के अन्धानुकरण पर चिन्ता व्यक्त की है तथा राष्ट्रीय समृद्धि के लिए शिक्षा में अपनी भारतीय राष्ट्रीय रीतिनीति के समावेश का सुझाव दिया है --

" सौभाग्य से हमें राजनैतिक स्वतन्त्रता मिल गयी ।....पर काम इतने भर से चलने वाला नही हैं। जिन कारणों से हमें वे दुर्दिन देखने पड़े वे अभी भी ज्यों के ज्यों मौजूद है इन्हें हटाने के प्रबल प्रयत्न करने की आवश्यकता है अन्यथा फिर कोई संकट बाहर या भीतर से खड़ा हो जायगा और अपनी नई स्वाधीनता खतरे में पड़ जायगी । व्यक्ति और समाज की विकृतियों की ओर ध्यान देना ही पड़ेगा और जो अवांछनीय अनुपयुक्त है , उसमें बहुत कुछ ऐसा है, जिसको बदले बिना काम नही चल सकता । साथ ही उन तत्वों का अपनी रीति नीति में समावेश करना पड़ेगा जो प्रगति, शान्ति और समृद्धि के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है । "[2]

---

1. राष्ट्र धर्म दृष्टा श्री अरविन्द
   शिक्षा और समाज - डा0 रामनाथ शर्मा — पृष्ठ 83, 84
   लोकहित प्रकाशन, लखनऊ

2. नैतिक शिक्षा भाग ।
   भूमिका - श्री राम शर्मा, आचार्य — पृष्ठ 4

(क) उपाध्याय जी की शिक्षा के दार्शनिक एवं मनो वैज्ञानिक आधार

पं.दीनदयाल उपाध्याय राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के कार्य कर्ता थे उनके जीवन दर्शन में संघ का ही प्रभाव दृष्टिगोचर है. 1937 में जब वह स्वयं सेवक बने उस समय स्वतंत्रता आन्दोलन जोरों पर था. अनेक क्रान्तिकारी महापुरूषों ने भारतीय समाज को स्वतंत्रता के आन्दोलन में सहभागी बनाने का कार्य किया। इस स्वतंत्रता आन्दोलन की कोख से दो प्रकार की विचार धारायें प्रस्फुटित हुयी जिनको हम तिलकवादी और गोखलेवादी कह सकते है। लोकमान्य तिलक एवं महर्षि अरविन्द भारतीय ज्ञान परम्परा को पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान से श्रेष्ठ मानते थे, हिन्दू जीवन दर्शन पर आधारित 'स्वराज्य' ही उनका अभिमत था, अतः तिलकवादी इस विचार धारा को 'उग्र स्वराज्यवादी' विचारधारा के रूप में माना गया।

दूसरी विचार धारा का प्रतिनिधित्व करते थे गोपाल कृष्ण गोखले और दादाभाई नौरोजी जैसे महापुरूष जो अंग्रेजी राज्य को ही भारत के लिए वरदान मानते थे । वे पश्चिमी ज्ञान विज्ञान एवं व्यवस्था को मानव की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि मानते थे तथा विदेशी अंग्रेज को हटाकर भारतीयों द्वारा संचालित पाश्चात्य व्यवस्थाओं वाला 'सुराज्य' चाहते थे । इस विचारधारा को उदारवादी विचारधारा की संज्ञा प्राप्त हुई । राष्ट्रीय स्वंय संघ के संस्थापक डा. केशव राव बलीराम हेडगेवार भी तिलकवादी कांग्रसी थे । तिलक की मृत्यु के बाद हेडगेवार ने अपने आपको कांग्रेस से अलग करके हिन्दू संगठन 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ' की स्थापना की । पं. दीनदयाल उपाध्याय इसी हिन्दूवादी राष्ट्रवाद के प्रवक्ता बने । इस प्रकार पं. दीन दयाल उपाध्याय तिलकवादी विचारधारा के ज्यादा निकट थे जिसका ध्येय वाक्य था " स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है।" लोकमान्य तिलक के 'कर्मयोगशास्त्र' से प्रेरणा प्राप्त कर श्री बद्री शाह टुलधारिया ने 'दैशिक शास्त्र' नाम से एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें वैदिक साहित्य से लेकर वेदान्त दर्शन तक के साहित्य का विचार दर्शन संकलित है । इस पुस्तक से श्री उपाध्यायजी ने सर्वाधिक ग्रहण किया । श्री उपाध्यायजी ने वेद, उपनिषद, महाभारत, रामायण आदि हिन्दू धर्म ग्रन्थों, कृष्ण, शंकराचार्य, शिवाजी, तुलसीदास, तिलक विवेकानन्द, अरविन्द जैसे महापुरूषों के जीवनादर्शो के आधार पर ही अपने दर्शन का भव्य मन्दिर खड़ा किया ।

पं. दीनदयाल उपाध्याय का तो स्पष्ट मन्तव्य था कि विश्व इस स्थिति में ही नही है जो हमें कुछ दे सके। वह स्वयं चौराहे में खड़े दिक् भ्रमित मानव की तरह है उससे किसी भी प्रकार के मार्ग दर्शन की अपेक्षा करना ही निरर्थक होगी। फिर भी हमें समस्त मानव जगत् के ज्ञान में जो सत्य है उसे स्वीकार करना पड़ेगा और असत्य का त्याग करना पड़ेगा। अपने ज्ञान और व्यवहार को युग के अनुसार परमार्जित करना होगा तथा आधुनिक एवं पाश्चात्य ज्ञान और सत्य को राष्ट्रीयता के साँचे में ढाल कर प्रयोग करने की विधि विकसित करनी होगी।

> "हमें धर्मराज्य, लोक तन्त्र, सामाजिक समानता और आर्थिक विकेन्द्रीकरण को अपना लक्ष्य बनाना होगा। इन सबका सम्मिलित निष्र्कष ही हमें ऐसा जीवन दर्शन उपलब्ध करा सकेगा, जो आज के समस्त झंझावातों में हमें सुरक्षा प्रदान कर सके। आप इसे किसी भी नाम से पुकारिये हिन्दुत्ववाद मानवतावाद अथवा अन्य कोई भी नयावाद किन्तु यही एक मेव मार्ग भारत की आत्मा के अनुरूप होगा। सम्भव है विभ्रान्ति के चौराहे पर खड़े विश्व के लिए भी यह मार्ग दर्शन का काम कर सके"।[1]

अन्ततः शोधकर्ता इस निष्कर्ष पर पहुँचा है अनेक भारतीय मनीषियों एवं विचारकों ने राष्ट्र की भावी दिशा सुनिश्चित करने के लिए महत्वपूर्ण चिन्तन प्रस्तुत करने का पुण्य कार्य किया है । पं. दीनदयाल उपाध्याय जी भी उन्ही महापुरूषों में एक आधुनिक राष्ट्रीय चिन्तक तथा अग्रगण्य महामानव है जिनके मार्गदर्शन में चलकर निश्चित ही यह राष्ट्र परम वैभव को प्राप्त करने में समर्थ सिद्ध हो सकेगा । शोधकर्ता द्वारा उनके शिक्षा सम्बन्धी तथ्यों को निम्नतः वर्गीकृत करके प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है ।

---

1. राष्ट्र जीवन की दिशा
   दोउन राह न पाई — पं. दीनदयाल उपाध्याय — पृष्ठ - 144, 45.

। अयोग्यः पुरूषः नास्ति योजकस्तमदुर्लभः ।

की उक्ति को ध्यान में रखकर "राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ " ने एक एक व्यक्ति को मनोवैज्ञानिक ढ़ंग से जोड़कर अद्वितीय हिन्दू संगठन खड़ा करने का दुष्कर कार्य किया है । स्वयं सेवकों के अन्दर ध्येयनिष्ठा, अनुशासन प्रियता श्रमशीलता एवं राष्ट्रीयता के गुणों का मनोवैज्ञानिक ढंग से विकास किया जाता है । दुर्बल से दुर्बल व्यक्ति भी संगठन के नाते बहुत ही शक्तिशाली सिद्ध हो सकता है । यह संघ की मनोवैज्ञानिक परख है । अतएव श्री उपाध्याय जी ने व्यक्ति व्यक्ति को अपने निकट लाने का मनोविज्ञान राष्ट्रीय स्वयं संघ से ही प्राप्त किया और एक कुशल संगठन के रूप में अपनी पहचान बनाई ।अस्तु शोधकर्ता का मानना है कि 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और भारतीय हिन्दू संस्कृति ही पं. दीनदयाल उपाध्याय के "चिन्तन" का दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक आधार है ।

(ख) मानवीय दृष्टिकोण

उपाध्याय जी का सम्पूर्ण चिन्तन उनकी शिक्षा उनके मानवीय दृष्टिकोण की ही परिणित है । एकात्म मानव दर्शन में एकात्म मानव का पूर्ण मानव का संकलित विचार हुआ है । भारतीय संस्कृति के अनुसार मनुष्य शरीर मन, बुद्धि और आत्मा का समुच्चय है । अतः उसकी सभी प्रकार की क्षुधाओं को तृप्त करने के लिये चार पुरूषार्थों धर्म, अर्थ काम और मोक्ष की व्यवस्था की गयी है। इन्हीं चारों पुरूषार्थों से युक्त मानव ही उपाध्याय जी की शिक्षा का केन्द्र बिन्दु है। श्री उपाध्याय जी ने परिवार जाति राष्ट्र और सम्पूर्ण मानव समाज से मानव के सम्बन्धों का वर्णन किया है। मानव मानव के बीच मधुर सम्बन्धों तथा व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन के सभी अंगों का विचार उपाध्याय जी ने अपने चिन्तन में किया है। पश्चिम में मनुष्य का खण्डशः विचार किया गया है। किसी ने उसे राजनीतिक प्राणी और किसी ने उसे सामाजिक प्राणी की संज्ञा दी है। कार्ल मार्क्स ने तो मनुष्य को मात्र रोटीमय ही बना दिया है तथा "कमाने वाला खाायेगा" का नारा प्रस्तुत किया। लेकिन उपाध्याय जी के अनुसार जो कमाने में सक्षम नही है उन्हें भी भोजन प्राप्त होना चाहिए। 'कमाने वाला खिलायेगा' तथा 'जो जन्मा सो खायेगा' का नारा दिया है। यह उनका मानवीय दृष्टिकोण ही है कि बच्चे रोगी और अपाहिज सभी प्रकार के मनुष्यों की चिन्ता समाज को करनी चाहिए. उपाध्याय जी के अनुसार सभी मनुष्यों के हाथों को काम और पेट को रोटी मिलना चाहिए। अर्थव्यवस्था की दृष्टि से यन्त्रों का उपयोग मानव के श्रम को सरलीकृत करने के लिए तथा उसकी उत्पादन क्षमता को बढ़ाने के लिए होना चाहिए यह उपाध्याय जी का दृष्टिकोण है। यन्त्रों द्वारा मानव का स्थान ग्रहण कर उसे बेरोजगार बनाना उपाध्याय जी को ठीक प्रतीत नही होता। श्री उपाध्याय जी ने पूँजीवादी एवं समाजवादी दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं को मानव के लिए कल्याणकारी नही माना क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था ने मानव को स्वार्थी अर्थपरायण संघर्षशील एवं मत्स्य न्याय-प्रवण प्राणी माना है तथा समाजवादी व्यवस्था ने मानव को व्यवस्थाओं और परिस्थितियों का दास अकिंचन एवं अनास्थामय प्राणी माना है। अस्तु उक्त दोनों व्यवस्थाओं को उपाध्याय जी ने अमानवीय करार दिया है। उनका कहना भी है कि:-

"मनुष्य केवल भौतिक आवश्यकताओं का समुच्चय मात्र नही उसकी कुछ आध्यात्मिक आवश्यकतायें भी है। जो जीवन पद्धति मानव जीवन के इस आध्यात्मिक पहलू की उपेक्षा करती हो वह कदापि पूर्ण नही हो सकती। यहाँ हमें इसका स्मरण रखना होगा कि भौतिक उन्नति के साथ आध्यात्मिक प्रगति की कल्पना केवल हवाई उडान ही नही है मानव की गरिमा को सुरक्षित रखते हुए समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने का दायित्व भी निभाना ही होगा।"[1]

श्री उपाध्याय जी द्वारा किया गया आह्वान उनके मानवीय दृष्टिकोण का परिचायक है:-

"हमें मानव को पुनः उसके स्थान पर प्रतिष्ठित करना होगा,उसकी गरिमा का उसे ज्ञान करना होगा, उसकी शक्तियों को उसे जगाना होगा तथा उसे देवत्व की प्राप्ति हेतु पुरूषार्थशील बनना होगा।"[2]

शोधकर्ता के अनुसार उपाध्याय जी सच्चे अर्थों में मानवता के पुजारी थे। उनकी भावना उनकी कामना उनके उत्कृष्ट मानवीय दृष्टि का ही रूपान्तरण है-

"हम ऐसे भारत का निर्माण करेंगे ....जिसमें जन्मा मानव अपने व्यक्तित्व का विकास करता हुआ सम्पूर्ण मानवता ही नही अपितु सृष्टि के साथ एकात्मता का साक्षात्कार कर 'नर से नारायण' बनने में समर्थ हो सकेगा ।"[3]

---

1. राष्ट्र जीवन की दिशा
   दोउन राह न पाई — पं. दीन दयाल उपाध्याय — पृष्ठ 144
2. एकात्म मानवदर्शन
   राष्ट्रीय जीवन के अनुकूल अर्थरचना — पं0 दीन दयाल उपाध्याय — पृष्ठ 72
3. तथैव — पृष्ठ 76

ग - तत्वमीमांसीय दृष्टिकोण

तत्वों की विवेचना ही तत्वमीमांसा है। शोध कर्ता ने पं.दीन दयाल उपाध्याय के चिन्तन को वर्गीकृत करने के उपरांत पाया है कि श्री उपाध्याय जी ने सनातन तत्वों के साथ राष्ट्रीय तत्वों, समाजिक तत्वों तथा धर्म के तत्वों का विस्तृत विवेचन किया है।

सनातन तत्वों के अन्तरगत ब्रह्म, जीव, आत्मा पुरूष एवं प्रकृति को उपाध्याय जी ने 'एकात्म' जीवन के तत्वों के रूप में व्याख्यायित किया है। व्यक्ति को शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा इन चारों तत्वों का समुच्च बताया है। उपाध्याय जी के ऊपर कुछ लोगों ने यह आरोप भी लगाया है कि उन्होने 'आत्मा' तत्व का विचार आवश्यकता से अधिक किया है। लेकिन इसका उत्तर देते हुए उन्होने कहा है-

> "आत्मा का विचार अवश्य करते है किन्तु यह सत्य नही है कि शरीर मन और बुद्धि का विचार नही किया। अन्य लोगों ने तो केवल शरीर का विचार किया। इसीलिए आत्मा का विचार हमारी विशेषता हो गयी ।[1]"

उपाध्याय जी ने 'धर्म' को एक अत्यन्त/व्यापक एवं जीवन से घनिष्ठ सम्बंध रखने वाला तत्व बताते हुए कहा है कि -

> "धर्म तो एक ब्यापक तत्व है। वह जीवन के सभी पहलुओं से सम्बन्ध रखने वाला तत्व है।"

उपाध्याय जी ने धर्म के तत्वों की विवेचना करते हुए इनकों सनातन एवं सर्वब्यापी तथा देश काल और परिस्थिति सापेक्ष बताया है ।तात्विक आधार पर बने नियमों को धार्मिक बताते हुए कहा है-

---

1. एकात्म मानव दर्शन

   एकात्ममानववाद　　　पं. दीन दयाल उपाध्याय　पृष्ठ 25

"नियमों की सम्पूर्ण संहिता और उसके तात्विक आधार का नाम धर्म है।"[1]

उपाध्याय जी ने "राष्ट्र " को भी मनुष्य की भांति चार तत्वों देश, संकल्प, धर्म और आर्दश का समुच्चय बताया है।'राष्ट्र' के विधायक तत्वों की विवेचना करते हुए उन्होने कहा है कि -

"राष्ट्र के लिए चारबातों की आवश्यकता होती है। प्रथम भूमि और जन जिसे हम "देश" कहते है दूसरी सबकी इच्छा शक्ति याने सामूहिक जीवन का संकल्प तीसरी एक व्यवस्था जिसे नियम या संविधान कह सकते है और सबसे उपयुक्त शब्द जिसके लिए हमारे यहाँ प्रयुक्त हुआ है वह है धर्म और चौथा है जीवन दर्शन"।[2]

उपाध्याय जी ने 'चिति'तत्व की विशुद्ध व्याख्या प्रस्तुत की है उन्होने व्यक्ति की आत्मा की तरह ही राष्ट्र की आत्मा को'चिति ' कहा है।'चिति' तत्व की यह विशुद्ध व्याख्या एवं उपरोक्त तत्वों की विवेचना शोध कर्ता की दृष्टि में उनके तत्व मीमांसीय दृष्टिकोण की परिचायक है ।

---

1. तथैव पृष्ठ 45
2. पं0 दीन दयाल उपाध्याय व्यक्तिदर्शन राष्ट्र के विधयकतत्व पृष्ठ 162
   सम्पादक कमल किशोर गोयनका
   पं0 दीन दयाल शोध संस्थान, रानी झाँसी मार्ग, नई दिल्ली

घ - <u>ज्ञान मीमांसीय दृष्टिकोण</u>

ज्ञान की विवेचना या पूर्वानुभव ही ज्ञान की मीमांसा है । इसी आधार पर श्री उपाध्याय जी द्वारा प्रणीत् शिक्षा में उनके ज्ञान मीमांसीय दृष्टिकोण के अध्ययन करने का प्रयास किया है ।

श्री उपाध्याय जी ने मनुष्य के लिए करने योग्य चार प्रकार के पुरूषार्थों का वर्णन किया है, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन पुरूषार्थों में उन्होंने धर्म को आधारभूत पुरूषार्थ माना है । उनका कहना भी है कि धर्म हमारा प्राण है धर्म गया कि प्राण गए । धर्म पुरूषार्थ का उन्होंने विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि 'बुद्धि','राष्ट्र की परम्पराएँ', यज्ञभाव, और 'ज्ञान' या 'शिक्षा' इन चार का समुच्चय धर्म पुरूषार्थ है । इस प्रकार उन्होंने "ज्ञान" को धर्म पुरूषार्थ का अंग माना है । अतएव उनका कहना है कि हमारा धर्म है नियमों का पालन करना और नियम भी जो मनमाने न बने हों । ज्ञानपूर्वक और पूर्वानुभव के आधार पर निर्मित हों । जैसाकि उन्होंने कहा है -

"ये नियम मनमाने नहीं हो सकते , उनसे उस सत्ता की धारणा होनी चाहिए जिसके लिए वे बने हैं तथा दूसरी सत्ता के अविरोधी तथा पोषक होने चाहिए।"[1]

उनके एक कथन के द्वारा ही शोधकर्ता ने उनके ज्ञान मीमांसीय दृष्टिकोण को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है -

"कुछ लोगों का कहना है कि राष्ट्र मानवता का विरोधी है । इसका कारण बताया जाता है कि विश्व में इतने कितने ही राष्ट्र हैं जिन्होंने मानव का अहित किया किन्तु क्या किसी वस्तु के दुरूपयोग से ही वस्तु खराब हो जाती है ? आग से मकान जल गए तो क्या यह बुद्धिमानी होगी कि आग का उपयोग करना ही

---

1. एकात्म मानव दर्शन
सृष्टि समष्टि में समरसता — पृष्ठ 45
पं0 दीनदयाल उपाध्याय

छोड़ दिया जाए। यह दृष्टिकोण ठीक नहीं कहा जा सकता। हमें विवेक से काम लेना होगा । यह सही है कि कुछ राष्ट्र ऐसे हैं जिन्होंने मानवता के लिए संकट पैदा किया है । जिन राष्ट्रों ने मानव के लिए संकट पैदा किया वैसा ही परिणाम हमारी राष्ट्रीयता से भी, यह निष्कर्ष ही गलत है ।......भारत की राष्ट्रीयता का सहस्रों शताब्दियों का इतिहास इस तथ्य की पुष्टि करता है । ....भारत के लम्बे इतिहास में मानव को पीड़ा पहुँचाने का उल्लेख करने वाला एक भी पृष्ठ नहीं है । भारत का यदि कोई इतिहास है तो वह समस्त विश्व की मंगल कामना का ही है ।"[1]

उपरोक्त कथन में उनकी ज्ञानपूर्ण तर्क-वितर्क की क्षमता तथा देश-विदेश के इतिहास का ज्ञान और देश विदेश की राष्ट्रीयता का पूर्वानुभव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है अतः शोधकर्ता निर्विवाद रूप से यह कह सकता है कि श्री उपाध्याय जी ने अपनी प्रस्तुति में ज्ञान मीमांसीय दृष्टिकोण को अपनाया है ।

---

1. राष्ट्र जीवन की दिशा
   संगठन का आधार - राष्ट्रवाद — पृष्ठ 105, 7, 8
   पं. दीनदयाल उपाध्याय

(ड.)- उपाध्याय जी की शैक्षिक विचारधारा आदर्शवादी संदर्भ में

आदर्शवाद वह दर्शन है जो शरीर की अपेक्षा 'मनस्' को अधिक महत्व देता है । यह अत्यन्त प्राचीनतम् विचारधारा है जो केवल विचारों को ही सत्य मानती है । इसके अनुसार विचारों के अलावा या विचारों से परे कुछ भी सत्य नहीं है । भौतिक संसार की अपेक्षा आध्यात्मिक संसार को अधिक महत्व देती है । भौतिक जगत् को नश्वर परिवर्तनशील एवं असत्य मानती है ।

आदर्शवाद मनुष्य के आध्यात्मिक पक्ष पर अधिक महत्व देता है क्योंकि आदर्शवादियों के अनुसार आध्यात्मिक मूल्य, मनुष्य और जीवन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू है । चिरन्तन सत्य तथा आदर्शों की प्रतिष्ठा और उनकी प्राप्ति ही आदर्शवाद का लक्ष्य है । सत्यम् शिवम् सुन्दरम् आध्यात्मिक मूल्य हैं । सर्वोत्कृष्ट ज्ञान आत्मा का ज्ञान तथा विविधता में एकता का दर्शन ही आध्यात्मवाद की विशेषता है ।

भारतीय आदर्शवाद का लक्ष्य है " ब्रह्म " का साक्षात्कार् अर्थात् "मोक्ष"। तथा ब्रह्म के साक्षातकार का मार्ग है आत्मज्ञान । इसलिए हमारे यहां उसी को "शिक्षा" माना गया है जो आत्मा का साक्षात्कार कराने में समर्थ हो । वही विद्या मानी गयी जो मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करे । शेष सब अविद्या मानीं गयीं ।

आदर्शवाद की उपरोक्त सूक्ष्म विवेचना के आधार पर, शोधकर्ता श्री उपाध्याय जी की शैक्षिक विचार धारा का निरीक्षण करना चाहता है और यह निष्कर्ष निकालना चाहता है कि क्या उनकी शैक्षिक विचारधारा मे आदर्शवाद परिलक्षित होता है या नही ?

शोधकर्ता के अनुसार भारतीय संस्कृति, धर्म, वेद, उपनिषद, स्मृतियाँ, रामायण, महाभारत और दैशिक शास्त्र ही उपाध्याय जी की विचारधारा के मुख्य स्त्रोत हैं। उन्होने ' मानव '

च - उपाध्याय जी की विचारधारा प्रयोजनवादी संदर्भ में

शोधकर्ता पं दीनदयाल उपाध्याय की विचारधारा को प्रयोजनवादी सिद्धांतों की कसौटी में परखना चाहता है । अतएव प्रयोजनवाद की व्याख्या करते हुए श्री उपाध्याय जी के विचारों में प्रयोजनवादी तथ्यों को खोजने का प्रयास करेगा ।

भारतीय विद्वानों ने उपयोगिता व्यवहार और क्रिया को ही सत्य माना है, तथा स्पष्ट किया है कि जिस सत्य से प्राणियों का मंगल सिद्ध नहीं होता वह सत्य वास्तविक सत्य कहलाने का अधिकारी नहीं है । महाभारत के अनुसार :-

"यद्भूताहितमत्यर्थमितत् सत्यं मतंमम्"

अर्थात् जो प्राणियों का अत्यधिक हित करने वाला है वही सत्य है । तथा

"यदेवार्थ क्रियाकारी तदेव सत्"

जो वस्तु प्रयोजन की क्रिया करने वाली है, वही परमार्थ रूप से सत्य है ।[1]

प्रयोजनवाद की उपरोक्त व्याख्या के अनुसार श्री उपाध्याय जी स्पष्टतः प्रयोजनवादी ही दिखाई देते हैं । राष्ट्र का कल्याण एवं राष्ट्र की स्वतंत्रता उपाध्याय जी का मुख्य प्रयोजन है अतः इस प्रयोजन को पूरा करने वाले असत्य को भी वे सत्य से बड़ा मानते हैं । उनके अनुसार :-

"अपने राष्ट्र का कल्याण और उसकी स्वतंत्रता ही सबसे बड़ा सत्य है ।"[2]

राष्ट्र के कल्याण और राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए कुछ भी करने के लिए उद्यत रहना उनके प्रयोजनवादी होने के ही लक्षण हैं -

"भगवान् कृष्ण ने महाभारत में शस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा की थी फिर भी जब अवसर ऐसा ही आ गया कि उन्हें शस्त्र ग्रहण करने पड़े तो उन्होंने आगा पीछा नहीं किया ।"[3]

---

1. शिक्षा दर्शन - शिक्षा में व्यवहारिकतावाद
   राम शुक्ल पाण्डेय — पृष्ठ 221
2. सम्राट चन्द्र गुप्त - पं0 दीन दयाल उपाध्याय — पृष्ठ-29
3. राष्ट्र जीवन की दिशा - मैं और हम — पृष्ठ - 28

अर्थात् प्रतिज्ञा भंग करके भी राष्ट्र रक्षा या समष्टि का हित करना उपाध्यायजी उचित मानते हैं । उनका यह कथन कि -

" राष्ट्र कार्य को साधने के लिए जो कुछ आ पड़े, करना ही उचित है । सच झूठ सबकी कसौटी समष्टि का हित है ।"[1]

– व्यवहारिकता से ओत प्रोत है ।

देश की आवश्यकतानुसार 'सम्राट' बनना एवं उसी के लिये भिक्षुक बनकर उसके प्रयोजन को सिद्ध करने का जो सुझाव उपाध्यायजी ने चाणक्य के रूप में चन्द्रगुप्त को दिया है वह पूर्णतः प्रयोजनवादी ही है । प्रयोजनवादी विचारधारा में परम्पराओं एवं रूढ़ियों की उपेक्षा की जाती है व्यक्ति और समाज दोनो का ध्यान रखा जाता है तथा कोरे सिद्धान्तों की अपेक्षा व्यवहारिकता को उपयुक्त माना जाता है ।

पं दीनदयाल उपाध्याय भी रूढ़ियों परम्पराओं एवं अन्धविश्वासों के विरूद्ध है। अपने देश में प्रचलित रूढ़ियों को मिटाने के साथ साथ विदेशी रूढ़ियों के अन्धानुकरण पर उन्होने आश्चर्य प्रकट किया है तथा इस दृष्टि कोण को अविवेकपूर्ण माना है। व्यक्ति और समाज दोनों के परस्पर. सम्बन्ध को ही उन्होने संस्कृति की संज्ञा दी है। कोरे किताबी ज्ञान को उन्होंने शिक्षा नही वरन् शिक्षा से उनका तात्पर्य है 'मानव' का सर्वांगीण विकास एवं देवत्व की प्राप्ति है ।

इस प्रकार उपरोक्त अध्ययन के आधार पर शोधकर्ता ने यह निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया है कि श्री उपाध्याय जी ने राष्ट्रीय प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए 'शिक्षा'को साधन के रूप में स्वीकार किया है। छोटे मोटे प्रयोजन के लिए सिद्धान्तों से समझौता करना उनकी आदत नही है। वरन् उच्च प्रयोजन जैसे राष्ट्र की स्वतन्त्रा एवं राष्ट्र के कल्याण के लिए वे कुछ भी करने के समर्थक हैं। अस्तु उपाध्याय जी आदर्शवादी विचारक ही नहीं किन्तु प्रयोजन वादी विचार धारा के आदर्श प्रस्तोता भी है ।

---

1. तथैव पं0 दीन दयाल उपाध्याय पृष्ठ - 29

को ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति एवं आत्मज्ञान को सर्वोत्कृष्ट ज्ञान तथा ब्रह्म के साक्षात्कार या मोक्ष को चरम् उद्देश्य माना है । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही मनुष्य के चार पुरूषार्थों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन किया है ।

अपनी शैक्षिक विचार धारा में उन्होनें भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता को अधिक महत्व प्रदान किया है । मानव के अन्दर दया, ममता, बन्धुता, परोपकार और उदारता जैसे सर्वश्रेष्ठ गुण आध्यात्मिकता के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं । ऐसा उनका सुझाव है । मानव के लिए प्राप्त मूल्य उन्होनें सत्यं, शिवम्, सुन्दरम् बताया है । विविधता में दैवी एकता के सिद्धान्त का अपने ढंग से प्रतिपादन किया है । राष्ट्र, धर्म, दर्शन, संस्कृति, आत्मा और 'ब्रह्म' उनकी दार्शनिक अभिधारणायें हैं । स्वामी विवकानन्द, रवीन्द्र नाथ टैगोर, महर्षि अरविन्द और लोकमान्य तिलक, परमपूज्य डा0 केशव राव बलिराम हेडगेवार और परमपूज्य माधव राव सदाशिव राव गोलवलकर "गुरूजी" जैसे आदर्शवादी विचारक उनके आदर्श हैं ।

इस प्रकार शोधकर्ता की दृष्टि में पं0 दीनदयाल उपाध्याय की उपरोक्त विचारधारा पूर्णतः आदर्शवादी है । अतएव, शोधकर्ता निर्विवाद रूप से यह स्वीकार करता है कि श्री उपाध्याय जी तत्वतः आदर्शवादी विचारक थे और उनकी शैक्षिक विचारधारा में आदर्शवाद पूर्णतः परिलक्षित होता है ।

छ - उपाध्यायजी की शिक्षा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण -

शोधकर्ता की दृष्टि में श्री उपाध्यायजी की 'शिक्षा' मनोवैज्ञानिक तथ्यों से परिपूर्ण है । उन्होनें मनुष्य की भौतिक उन्नति के साथ साथ उसकी आध्यात्मिक उन्नति पर विशेष बल दिया है । " मानवीय मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य की मूल प्रकृति आध्यात्मिक है ।"[1] अतएव उपाध्यायजी शरीर के विकास के साथ मन , बुद्धि और आत्मा अर्थात् आध्यात्मिक विकास के पक्षधर दिखाई पड़ते हैं । आधुनिक शिक्षा में मानव की इस आध्यात्मिक प्रकृति की घोर उपेक्षा हुई है । इसीलिए मानव विकास की असीम सम्भावनाओं से वंचित होता जा रहा है । अतः उपाध्याय जी ने आध्यात्मिक तत्वों को अपनी शिक्षा में समाविष्ट करके मानव को ऊँचा उठाने का सफल प्रयास किया है । उनका कहना है कि -

> "आधुनिक मनोविज्ञान बताता है कि किस प्रकार मानव की प्रकृति और भावों की अवहेलना से व्यक्ति के जीवन में अनेकरोग पैदा हो जाते हैं । ऐसा व्यक्ति प्रायः उदासीन एवं अनमना रहता है । उसकी कर्मशक्ति क्षीण हो जाती है अथवा विकृत होकर विषयगामिनी बन जाती है ।"[2]

उपाध्यायजी ने माना है कि आध्यात्मिक प्रकृति के कारण ही मानव के अन्दर कला, संस्कृति, सदाचार, दया, धर्म, नैतिकता और उदारता के गुणों का विकास होता है इसलिए शिक्षा के द्वारा मनोवैज्ञानिक ढंग से मनुष्य के इन गुणों को पुष्ट बनाने का कार्य किया जाना चाहिए । ऐसा न किए जाने पर उन्होनें मानस के विकृत होने एवं धर्म के क्षीण होने की संभावना व्यक्त की है ।

> "भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार 'संस्कार सिद्धान्त' शिक्षा का मूलाधार है । संस्कारों के आधार पर ही शिक्षा के द्वारा बालक का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास होता है । अधिगम की सम्पूर्ण क्रिया इस संस्कार सिद्धान्त पर ही आधारित है ।"[3]

---

1. भारतीय इतिहास के मूल तत्व, शिक्षा के भारतीय मनोवैज्ञानिक आधार
   लज्जाराम तोमर पृष्ठ - 52
2. एकात्म मानव दर्शन
   राष्ट्रवाद की सही कल्पना - पं0 दीन दयाल उपाध्याय पृष्ठ - 5
3. भारतीय शिक्षा के मूल तत्व
   शिक्षा के भारतीय मनोवैज्ञानिक आधार - लज्जाराम तोमर पृष्ठ - 62

श्री उपाध्यायजी ने भी 'संस्कार' प्रक्रिया पर जोर दिया है । उन्होनें स्वीकार किया है कि जन्मतः मनुष्य पशुवत् होता है, संस्कारित होने के उपरान्त ही वह 'सामाजिक' बनता है । उनका मानना है कि संस्कारों के द्वारा ही समाज के जीवन मूल्य बनते और सुदृढ़ होते हैं । अतः जनता सुसंस्कृत करने का महत्वपूर्ण कार्य शिक्षा के द्वारा किया जाना चाहिए ।

"व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास शिक्षा और मनोविज्ञान का मूल विषय है ।"[1]

उपाध्यायजी ने व्यक्तित्व निर्माण के लिए सद्कर्मो एवं संस्कारों की आवश्यकता पर बल दिया है । 'योगः कर्मसु कौशलम्" के आधार पर योग, व्यायाम, संध्या उपासना और सेवा के द्वारा कार्यक्षम और यशस्वी व्यक्तित्व के निर्माण का सुझाव उन्होनें दिय है । व्यक्तिगत भिन्नता, सामूहिक मन एवं समाज के मनोविज्ञान को उपाध्याय जी ने स्वीकार किया है ।

मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने का सुझाव उनके मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का ही परिचायक है क्योंकि अन्य भाषाओं की अपेक्षा मातृभाषा के माध्यम से बालक सहजरूप में सरलतापूर्वक ज्ञान प्राप्त कर सकता है । उनके व्यष्टि और समष्टि, सामञ्जस्यपूर्ण समाज व्यवस्था तथा राष्ट्र की आत्मा 'चिति' नामक लेख कोटिशः भारतीयों को मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रभावित करने में सफल सिद्ध हुए हैं ।

अस्तु उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उनकी 'शिक्षा' पूर्णतः 'मनोवैज्ञानिक' है ।

---

1. तथैव पृष्ठ - 63

ज - उपाध्याय जी का वैज्ञानिक विश्लेषण -

पं0 दीन दयाल उपाध्याय महान् दार्शनिक थे और दार्शनिक मूलतः वैज्ञानिक ही होता है । इस नाते उपाध्यायजी एक वैज्ञानिक थे । भारतीय संस्कृतिवादी होने के साथ साथ उपाध्यायजी पुरातनवादी नही थे । वे संस्कृति का संरक्षण मात्र करने वालों में से नही थे वरन् संस्कृति को गति प्रदान कर सजीव बनाने वाले युगदृष्टा थे । रूढियों परम्पराओं और अन्ध विश्वासों के पूर्णतः विरोधी लेकिन पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान को आंख बन्द करके स्वीकर करने के समर्थक भी नही थे । मानव द्वारा अर्जित सम्पूर्ण ज्ञान विज्ञान का संकलित विचार करके अपने ज्ञान और व्यवहार को युगानुकूल तथा विदेशी ज्ञान और व्यवहार को स्वदेशानुकूल ढालकर स्वीकार करने का सुझाव उन्होनें हमें दिया है । डार्विन द्वारा प्रतिपादित मत्स्य न्याय के सिद्धान्त को उन्होनें पूरी तरह से अस्वीकार कर दिया है, तथा इसके विरोध में भारतीय संस्कृति के अनुरूप 'परस्परपूरकता' का सिद्धान्त हमारे समक्ष प्रस्तुत किया है ।

सम्पूर्ण सृष्टि की अनेकता में उन्होने एकता का सूत्र निकाला तथा 'अनेकता में एकता' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । यह उनका वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही कहा जाएगा । उनके अनुसार -

> " जीवन में अनेकता अथवा विविधता है किन्तु उसके मूल में निहित एकता को खोज निकालने का हमने सदैव प्रयत्न किया है । यह प्रयत्न पूर्णतः वैज्ञानिक है । विज्ञान वेत्ता का प्रयत्न रहता है कि वह जगत् में दिखाई देने वाली अव्यवस्था में से व्यवस्था ढूँढ निकाले, उसके नियमों का पता लगाए तदनुसार व्यवहार के नियम बनाए ।"[1]

मानव विज्ञान के साथ साथ उन्होनें वनस्पति विज्ञान का भी प्रतिपादन किया है तथा बताया है कि प्राणियों और वनस्पतियों के बीच 'परस्परावलम्बन क सिद्धान्त' कार्य करता है जिससे यह संसार ठीक ढंग से चलत रहता है ।

---

1. एकात्म मानवदर्शन
   एकात्ममानववाद - पं0 दीन दयाल उपाध्याय पृष्ठ - 18

भारतीय जीवन के भौतिक दृष्टि से सम्पन्न बनाने के लिए उन्होनें भौतिक साधनों की आवश्यकता का अनुभव किया है लेकिन मशीनों के प्रयोग के कारण मानव के बेरोजगार होने वाले खतरों से भी सावधान करने का कार्य किया है । उन्होनें बताया है कि पश्चिम में यन्त्रों का निर्माण इसलिए किया गया है क्योंकि वहाँ मानवश्रम की कमी है । उन यन्त्रों को बिना बिचारे आयात करना अवैज्ञानिक होगा । इस सम्बन्ध में उनका मत पूर्णतः वैज्ञानिक है -

> " यन्त्र देश-काल-परिस्थिति निष्पेक्ष नही सापेक्ष है । विज्ञान की आधुनिकतम् प्रगति की वह उपज है किन्तु प्रतिनिधि नहीं । ज्ञान किसी देश विशेष की बपौती नही' उसका प्रयोग प्रत्येक देश अपनी परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुसार करता है । हमारी मशीन हमारी आर्थिक आवश्यकताओं के अनुकूल ही नही, अपितु हमारे सांस्कृतिक एवं राजनीतिक जीवन-मूल्यों की पोषक नहीं तो कम से कम अविरोधी अवश्य होनी चाहिए।"[1]

उपाध्याय जी ने अपने देश की प्रगति के लिए उपयुक्त यन्त्रों के निर्माण का सुझाव दिया है । विज्ञान को प्रगति का लक्षण औरर विकास के लिए आवश्यक बनाते हुए अपने देश में प्राद्योगिकी के विकास पर भी बल दिया है तथा जोरदार शब्दो में यह घोषणा भी की है -

> "विज्ञान किसी देश की बपौती नहीं वह हमारे भी अभ्युदय का साधन बनेगा।"[2]

उपरोक्त विश्लेषण के बाद शोधकर्त्ता का मानना है कि पं. दीनदयाल उपाध्याय एक महान् चिंतक, कर्मयोगी, दार्शनिक, तत्ववेत्ता और विज्ञानवेत्ता थे । उन्होनें संघर्ष के स्थान पर

---

1. एकात्म मानवदर्शन
   एकात्म मानववाद - पं0 दीन दयाल उपाध्याय — पृष्ठ - 66
2. भारतीय जनसंघ, सिद्धान्त और नीतियाँ
   पं0 दीन दयाल उपाध्याय — पृष्ठ - 4

" परस्पर पूरकता " तथा परस्परावलम्बन और विविधता के मूल में निहित "एकता" का सिद्धान्त प्रस्तुत करके मानव जीवन को सुखी और समृद्धिशाली बनाने का आजीवन प्रयास किया ।

झ - उपाध्यायजी के शिक्षा दर्शन के सबलपक्ष

शोधकर्ता ने उपाध्यायजी की शिक्षा के दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक आधारों को प्रस्तुत करते हुए उनके मानवीय, तत्वमीमांसीय तथा ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण को स्पष्ट करने का प्रयास किया है । इसके साथ नकी शिक्षा का वैज्ञानिक विश्लेषण भी किया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि उपध्यायजी दार्शनिक होने के साथ सथ "वैज्ञानिक" प्रतिभा के भी धनी थे ।

श्री उपाध्यायजी की शिक्षा एकात्म मानवदर्शन पर आधारित भारतीय संस्कृति का संरक्षण और संवर्द्धन करते हुए राष्ट्र के भौतिक एवं आध्यात्मिक समृद्धि का मार्ग प्रशस्त करने वाली शिक्षा के रूप में हमारे सामने उपस्थित होती है । शोधकर्ता के अनुसार उनके शिक्षा की कुछ प्रमुख विशेषताएँ हैं जिन्हें शोधकर्ता के द्वारा सबल पक्ष के रूप मे प्रस्तुत करने क विचार किया गया है ।

। - भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति का महत्व

उपाध्यायजी के अनुसार भारतीय सभ्यता का पुण्य-प्रवाह आदि काल से चला आ रहा है । महापुरूषों के जीवन और यश की स्मृतियाँ उनके आदर्श उनका चिन्तन आज भी राष्ट्र के लिए अमूल्य संम्पत्ति और शक्ति का स्त्रोत है । हमारे देश के हमारे ही पूर्वजों ने 'कृणवन्तों विश्वमार्यम्" का आह्वान किया था । भारतीय संस्कृति एकात्मवादी है 'आत्माहं सर्व भूतेषु' को स्वीकारने वाली तथा मानव मात्र के कल्याण का ही नही वरन् मानवेत्तर प्राणियों और वनस्पतियों तक के कल्याण का मार्ग दर्शन करने वाली है। इसी कारण से श्री उपाध्यायजी ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति को अपनी चिन्तनधारा में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है । उन्होंने स्पष्ट करते हुए कहा

है । अन्य संस्कृतियों में मानव के एक एक पक्षों का ही विचार किया है । किसी ने उसे राजनैतिक प्राणी, किसी ने सामाजिक प्राणी और किसी ने आर्थिक तथा धनलोलुप प्राणी के रूप में परिभाषित किया है लेकिन भारतीय संस्कृति ने मनुष्य को शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक तथा आत्मिक प्राणी के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान की है । उसके चतुर्विध सुखों की प्राप्ति के लिए चतुर्थ पुरूषार्थों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की व्यवस्था भी दी है । उपाध्याय जी ने तो संस्कृति के संरक्षण, संवर्धन एवं हस्तान्तरण को ही 'शिक्षा' की संज्ञा दी है । अतः शोधकर्ता की दृष्टि में उपाध्याय जी ने अपनी चिन्तनधारा के द्वारा भारतीय सभ्यता और संस्कृति को पुनप्रतिष्ठितकरने का पुण्य कार्य किया है ।

2 - एकीकरण की भावना -

सामाजिक एकता एवं राष्ट्रीय एकता उपाध्याय जी के प्रिय विषय रहे हैं । अपनी विचारधारा के द्वारा उपाध्याय जी सदैव हिन्दुओं के अन्दर एकता का भाव जागृत करने का आग्रह करते हुए दिखाई पड़ते हैं । उन्होने कहा है कि व्यक्ति का अलग अलग रहना असंघटित रहना सके विनाश का कारण बनता है तथा संघ जीवन या सामुदायिक जीवन जीना अमरत्व प्राप्त करने के समान होता है । राष्ट्र की संग्रठित शक्ति के द्वारा ही प्रगति संभव है । इसलिए उन्होने सुझाव दिया, व्यक्तियों को व्यक्तिशः गुणवान् शक्तिवान् तो बनना ही चाहिए लेकिन व्यक्तिवाद छोड़कर उसे संघ शक्ति की आराधना करनी चाहिए ।' एकता का भाव लेकर जग उठे यह राष्ट्र सारा ' उनकी कामना थी और आजीवन वे इसी मंत्र का जाप करते रहे । यही उनकी शिक्षा भी है । यही उनका सुझाव और यही एक मात्र उनकी आकांक्षा ।

3 - मातृभाषा की उपयोगिता -

अपनी चिन्तन धारा में उपाध्याय जी ने मातृभाषा की उपयोगिता को सिद्ध किया हैं । उन्होने कहा हैं कि मातृभाषा ज्ञान प्राप्त करने का माध्यम मात्र नही है परन्तु अपने

' अन्दर ' राष्ट्रजीवन का इतिहास संजोए रहती है। मातृभाषा अभिव्यक्ति एव अधिगम का सहज एवं सरल माध्यम तो है ही इसकी एक एक शब्द, वाक्य रचना, मुहावरे लोकोक्तियां पिछले मानव समाज की अनुभूतियां अपने आप में ज्ञान का भण्डार हैं । फिर यह अपनी मां की भाषा है मातृभूमि की भाषा है इसलिए मातृभाषा का स्थान प्रदान किया जाए यह उपाध्याय जी की मांग भी रही है । स्वतन्त्रता के बाद सम्पूर्ण शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा को ही स्वीकार किया जाए यह उनका प्रयास रहा है । अंग्रेजी को तो वे गुलामी का चिन्ह तथा भारत के शोषकों की भाषा मानते थे । उपाध्याय जी का यह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण था कि मातृभाषा ही शिक्षा का माध्यम हो जिससे सभी लोग सरलता पूर्वक शिक्षा प्राप्त कर सकें । विशेष रूप से प्राथमिक शिक्षा तो मातृभाषा में ही होनी चाहिए यह उनकी उत्कट इच्छा थी और उनका प्रयास था ।

4 -राष्ट्रीय चरित्र का निमार्ण : - ::

राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में शिक्षा महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है । जन साधारण को शिक्षित किये बिना राष्ट्रीयता की धारा प्रवाहित नही हो सकती । इसीलिए दीनदयाल उपाध्याय मैले, कुचैले अनपढ़ ओर सीधे सादे लोगों को नारायण की संज्ञा देते हुए उनकी सेवा करने का सुझाव प्रस्तुत किया । उन्होने कहा कि जब हम इनके बच्चों और स्त्रियों को शिक्षित कर देगे भारतीय जीवन दर्शन का ज्ञान प्रदान कर देंगे तभी इनके अन्दर राष्ट्रीयता का भाव जागृत होगा ।

राष्ट्रीय संस्कृति के अनुकूल आचार व्यवहार ही राष्ट्रीय चरित्र है । भारतीय संस्कृति में भोग के स्थान पर त्याग भौतिक समृद्धता की अपेक्षा आध्यात्मिक समृद्धता एवं सम्राटों की और लक्ष्मी पुत्रों की अपेक्षा निस्पृह कर्मयोगियों और सन्यासियों को अधिक सम्मान प्राप्त हैं । हमारे साधु सन्यासी समस्त मोंहो को छोड़कर देश और समाज के लिए अपना जीवन व्यतीत करते थे। देश को राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाते थे । उनके त्याग परिश्रम और सेवा के परिणाम स्वरूप सम्पूर्ण भारत में उज्ज्वल राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण हुआ । पंडित दीनदयाल उपाध्याय शिक्षा के द्वारा परिश्रम त्याग और बलिदान का पाठ पढ़ाना चाहते थे । भगवान् राम का उदाहरण प्रस्तुत करते हुऐ उन्होने बताया

कि राम को सोने की लंका की अपेक्षा अयोध्या अधिक रूचिकर लगी । शिवाजी का उदाहरण देकर उन्होने बताया कि शिवाजी राजा जयसिंह को मुगलों का साथ छोड़ देने पर सारा राज्य देने के लिए तैयार थे । उपाध्याय जी ने स्वार्थ और लोलुपता को राष्ट्रीय चरित्र के लिए कलंक बताया और कहा कि स्वार्थी व्यक्ति देश तक को बेचने के लिए तैयार हो जाता है । इस प्रकार श्री उपाध्याय जी ने राष्ट्र के पूननिर्माण के साथ साथ राष्ट्रीय चरित्र निमार्ण का पुनीत कार्य किया ।

5 - हिन्दूराष्ट्र की अवधारणा -

भारतीय संस्कृति में उद्धृत है कि-

हिमालयं समारम्भ यावदिन्दुसरोवरम्

तं देव निर्मितम् देशम् हिन्दुस्थानं प्रचक्षते । '

हिमालय से लेकर ' हिन्दमहासागर ' तक फैला हुआ देव निर्मित यह देश हिन्दुस्थान है । सांस्कृतिक संगठन राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की प्रार्थना में भी कहा गया है कि यह हिन्दुराष्ट्र है और यहां के निवासी हिन्दुराष्ट्र के ही अंग हैं अर्थात् हिन्दु हैं । राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के आधार पर अपना बैचारिक महत्व खड़ा करने वाले पं. दीनदयाल उपाध्याय ने भारत को ' हिन्दुराष्ट्र' के रूप में परिभाषित किया है । उन्होने कहा है कि भारत प्राचीन राष्ट्र है भारतीय संस्कृति हिन्दु संस्कृति हैं हैं । संस्कृति ही राष्ट्र की नियामक शक्ति होती है इस प्रकार भारत हिन्दु राष्ट्र है । अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए उपाध्याय जी ने कहा कि जिस तरह से रेखा गणित और न्याय में कुछ बाते स्वयं सिद्ध होती हैं तथा जैसे मैं मनुष्य हूँ यह स्वयं सिद्ध है इसको किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है उसी तरह यह स्वयं सिद्ध है कि भारत हिन्दु राष्ट्र हैं । अपनी साहित्यिक कृति जगद् गुरू शकराचार्य में उपाध्याय जी ने शकराचार्य के मुख से बोद्धों को सम्बोधित करते हुए कहलवाया है कि आप इस पुण्यभूमि हिन्दुस्थान की सन्तान है तथा प्राचीन हिन्दु जीवनादर्शों को मानने वाले हैं राम और कृष्ण आपके भी पुर्वज है इस नाते आप भी हिन्दु हैं । उपाध्याय जी के विचारानुसार भारत तभी

तक भारत है जब तक यहां हिन्दु हैं उनके अनुसार हिन्दु कोई मजहब नही वरन् हिन्दु तो राष्ट्रीयता है । हिन्दु और हिन्दुस्थान एक दूसरे से जुड़े हैं । इस प्रकार जो हिन्दुस्थान को पुण्य भूमि मातृ भूमि माने यहां के पूर्वजों को अपना पूर्वज माने इसकी विजय और पराजय को अपनी विजय और पराजय माने वह हिन्दु है ।

उपाध्याय जी ने कहा है कि पराजय के कालखण्ड में भी हमारी हिन्दुत्व की भावना और हिन्दु राष्ट्रवाद का भाव समाप्त नही हुआ और यही कारण है कि आठवीं शताब्दी में अरब से उठी आंधी ने यूनान मिश्र स्पेन और रोम तथा फारस आदि बड़े बड़े राष्ट्रो को मिटा दिया लेकिन हमारा बाल बांका तक न कर पायी । हिन्दु शब्द के उच्चारण करने से ही एक हिन्दु का दूसरे हिन्दु के साथ रक्तिम संबन्ध स्थापित हो जाता है और यही संगठित हिन्दुशक्ति किसी भी कठिनाई का सामना करने में समर्थ सिद्ध हो जाती है ।

श्री उपाध्याय जी ने हिन्दु राष्ट्रीयता का आह्वान करते हुए कहा है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारो पुरूषार्थो पर आधारित हिन्दु जीवनादर्श हमें किसी भी संकट से उबार सकते हैं। अतः हिन्दु राष्ट्रवाद ही एकमेव मार्ग है जो भारत की आत्मा के अनुकूल होगा और भारतीय जनता के हृदय में नवीन उत्साह संचारित करेगा ।

6 - सहशिक्षा -

श्री उपाध्याय जी ने शिक्षा को ' संस्कार ' प्रक्रिया के रूप में पभिषित किया है । सामञ्जस्य पूर्ण समाज व्यवस्था के लिए बालक और बालिकाओं दोनो को समान रूप से संस्कारित किए जाने का सुझाव दिया है । उन्होने सुझाव देते हुए कहा है कि " भेद के आधार पर कोई व्यवस्था नही चल सकती भेद भावना सृष्टि के नियमों के विपरीत है । वह विनाश का कारण बनेगी रचना का नही । "[1]

अतः उपाध्याय जी ने राष्ट्र की पुनर्रचना के लिए बालक और बालिकाओं में भेद को दूर करते हुए

समान रूप से शिक्षित करने की आवश्यकता पर बल दिया है । उन्होने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि जब तक छात्राओं के लिए हमारे देश में पर्याप्त विद्यालयों की व्यवस्था नही हो जाती तब तक छात्रों के साथ ही छात्राओं को भी शिक्षित किया जाना चाहिए । प्राथमिक स्तर तक बालक और बालिकाओं को साथ साथ शिक्षित करने के पक्षधर थे क्योंकि उनका मानना था कि सहशिक्षा से बालक और बालिकाएं एक दूसरे को अच्छी तरह से समझने में सक्षम हो जाएंगे । बालिकाओं में पुरूषोचित गुणों, त्याग, बलिदान, और साहस तथा वीरता, का विकास होगा तथा बालकों में स्त्रियोचित गुणों दया, क्षमा, स्नेह, ममता और उदारता का विकास होगा जिससे समाज में समरसता का वातावरण स्थापित होगा । उपाध्याय जी के कथनानुसार परिवार में कन्धे से कन्धा मिलाकर पुरूषों साथ कष्ट उठाने में महिलाओं की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है । वे समाज का आधा भाग होती हैं इसलिए उनसें राजनीति में भी सहभागिता प्रदान की जानी चाहिए । इस प्रकार उपाध्याय जी नए भारत के निर्माण में महिलाओं की बराबर की भागीदारी चाहते थे तथा उन्होने महिला मोर्चा का गठन करके महिलाओं के सहभाग को बढ़ाने का कार्य किया । यह उनकी विचारधारा का सबल पक्ष है ।

7 - नारी शिक्षा -

श्री उपाध्याय जी ने माता को बालक की प्रथम गुरू माना है और कहा है कि यदि वह स्वयं शिक्षित न हुई तो बालक को केसे शिक्षित कर पायेगी। इसलिए बालक के भविष्य का निर्माण करने के लिए घर की नारी का शिक्षित होना परम्आवश्यक है।उन्होनें सुझाव दिया है कि नारी नर का अर्द्धांग होती है पति की सह धर्मचारिणी होती है इसलिए उसके शिक्षित होने से ही परिवार-व्यवस्था सुचारूरूप से चल सकती है।उपाध्याय जी ने स्त्री और पुरूष को एक ही रथ के दो पहियों की संज्ञा दी है अर्थात् परिवार रूपी गाड़ी को आगे चलाने में दोनों की समान जिम्मेदारी बतायी है इसलिए पुरूष के साथ स्त्री को भी समान रूप से शिक्षित और संस्कारित करने पर बल दिया है।श्री उपाध्याय जी ने अपने एकात्म मानव दर्शन में ग्रहस्थाश्रम या परिवार को महत्वपूर्ण विभाग के रूप

में प्रस्तुत किया है तथा कहा है कि गृहस्थाश्रम मनुष्य को वास्तविक मनुष्य बनाने की संस्था है । यह संस्था जितनी स्वस्थ्य और कार्यक्षम होगी समाज में उतनी ही सुन्दर सामञ्जस्यपूर्ण व्यवस्था निर्मित होगी । इस प्रकार से श्री उपाध्याय जी ने अपनी चिन्तन धारा में नारी को पुरूष के ही समान स्थान प्रदान किया है औ उसके शिक्षित होने पर ही परिवार के शिक्षा की निर्भरता बतायी है । नारी का अशिक्षित होना आधा राष्ट्र अशिक्षित होना कहा है । अशिक्षित और अज्ञानी राष्ट्र प्रगति की दौड़ में पीछे रह जाया करते हैं इसलिए राष्ट्र की अशिक्षा को दूर करने के लिए नारी को शिक्षित करना राष्ट्रीय आवश्यकता है । यह उनके विचार थे जिनको शोध कर्ता ने सबल पक्ष के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

8. अर्थकरी शिक्षा

श्री उपाध्याय जी ने अपनी विचारधारा में अर्थकरी शिक्षा या व्यवसायिक शिक्षा की व्यवस्था प्रस्तुत की है । उन्होंने कहा है कि मनुष्य को पेट के साथ साथ हाथ भी मिले है इसलिए पेट को भरने के लिए हाथों को काम चाहिए जिससे रोटी कमाई जा सके । अपने पेट के साथ परिवार का भरण पोषण किया जा सके और अर्थ पुरूषार्थ की साधना हो सके । उन्होंने बताया है कि मनुष्य को अपने कर्तव्य का निर्वाह करने में सक्षम बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए । अर्थात् मनुष्य को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए कि वह अपनी न्यूनतम भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके । रोटी कपड़ा और मकान की उपयुक्त व्यवस्था कर सके । उपाध्याय जी ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि शिक्षा के द्वारा मनुष्य के अन्दर धन कमाने की क्षमता उत्पन्न होती है, तथा जो शिक्षा मनुष्य को उसकी न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के योग्य न बना सके वह शिक्षा निरर्थक है उपाध्याय जी के मतानुसार 'प्रत्येक को काम' अर्थव्यवस्था का उद्देश्य होना चाहिएह । काम प्राप्त करने के लिए मनुष्य को व्यवसायिक शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए । इंजीनियरिंग, औद्योगिक एवं प्रोद्योगिक तथा तकनीकी शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए इसके साथ साथ यह भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि मनुष्य धनलोलुप प्राणी मात्र बनकर न रह जाये इसलिए इसे 'अर्थायाम्' की शिक्षा दी जानी चाहिए । 'अर्थायाम्' अर्थात् न अर्थ का अभाव न अर्थ का प्रभाव । क्योंकि अर्थाभाव चोरी जैसी दुष्प्रवृत्ति को जन्म देता है तथा अर्थ की अधिकता विलासिता की प्रवृत्ति को जिससे समाज व्यवस्था

को दूषित होने का खतरा बना रहता है । अस्तु शोधकर्ता का यह मन्तव्य है कि श्री उपाध्याय जी ने अध्यात्मिक समृद्धि के साथ साथ भौतिक समृद्धि का भी पूर्ण विचार किया है और भौतिक सुखों की प्राप्ति के लिए अर्थकरी शिक्षा की, व्यवस्था का सुझाव दिया है । यह सुझाव उनकी शिक्षा के सबल पक्षों में से एक है ।

9. **मानवीयता के प्रेरक**

उपाध्याय जी की शिक्षा का अध्ययन करने पर वे हमें मानवीयता के प्रेरक के रूप में दिखाई पड़ते है । उनकी सम्पूर्ण चिन्तन धारा मानवता की प्रेरणा पुंज है । उन्होंने कहा है कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन की क्रियायें मनुष्य और पशु दोनों में एक समान होती है लेकिन शिक्षा और संस्कारों द्वारा मनुष्य के अन्दर श्रेष्ठ मानवीय गुणों का विकास किया जाता है यही गुण मनुष्य को पशुत्व से ऊपर उठाते है । 'मानव' ही श्री उपाध्याय जी के एकात्म मानव दर्शन का केन्द्र बिन्दु है । उन्होंने कहा है कि ईर्ष्या, द्वेष, बैर, स्वार्थ, कटुता, ऊँच नीच भेदभाव औ छुआ छूत आदि दुर्गुणों से ग्रस्त मानव अपने आप को खोता जा रहा है । शिक्षा के द्वारा उसके अन्दर सदाचार, सहिष्णुता, सहकारिता, दया, उदारता औ परोपकार जैसे श्रेष्ठ मानवीयगुणों का विकसित किया जाना चाहिए जिससे कि वह परिवार समाज राष्ट्र और सम्पूर्ण मानवता के साथ एकात्मा का अनुभव कर सके । इस प्रकार से श्री उपाध्याय जी ने 'वसुधैव कुटुम्बकम' का भाव जागृत करने का प्रयत्न किया । आत्मान प्रतिकूलानि परेषामन समाचरेत् की शिक्षा दीयत् पिण्डे तत् ब्रहमाण्डे' के सूत्र का पुनः प्रतिपादन किया । और एकात्म मानवता के आधार पर स्वदेशी भुवननयम् की परिकल्पना को साकार करने का आवाहन किया । श्री उपाध्याय जी ने भविष्यवाणी करते हुए कहा है कि 'एकात्म मानव दर्शन पर आधारित शिक्षा के द्वारा - हम ऐसे मानव का निर्माण करेंगे जो अपने व्यक्तित्व का विकास करता हुआ सम्पूर्ण मानवता ही नहीं अपितु सृष्टि के साथ एकात्मता का साक्षात्कार कर नर से 'नर से नारायण' बनने में समर्थ हो सकेगा ।

उपाध्याय जी के शिक्षा के निर्बल पक्ष

पं0 दीनदयाल उपाध्याय प्रणीत शिक्षा के द्वारा निश्चित रूप से राष्ट्र के परम वैभव की प्राप्ति हो सकती है भारत पुनः जगतगुरू के सर्वोच्च पद पर पदासीन हो सकता है लेकिन पं0 जी की शिक्षा की कुछ दुर्बलतायें भी है जिसके कारण पं0 जी पर्याप्त विवादास्पद रहे है । शोधकर्ता ने निरपेक्ष भाव से उनके निर्बल पक्ष को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है ।

1. पं0 जी को " एकात्ममानवाद ' अति व्यापक एवं क्लिष्ट है जिसको पूरी तरह से समझ पना और आत्मसात करपाना साधारण बुद्धि वाले मनुष्य के परे है

2. धर्म संस्कृति राष्ट्रीयता और हिन्दुत्व की भावनाओं का समावेश शोधकर्ता को आवश्यकता से अधिक प्रतीत होता हैं

3. सांस्कृतिक राष्ट्र अवधारणा की हिन्दु राष्ट्रवाद व्याख्या ने उनको अधिक विवादास्पद ही बनाया है ।[1]

4. उपाध्याय जी के आर्थिक विचार अधिक उपयुक्त होते हुये भी वास्तविकता से कुछ परे जैसे प्रतीत होते हैं । अपार धन की तृष्णा स्वामित्व की भूख पूँजीवाद ललक अमर्यादित उत्थान असंतुलित प्राकृतिक दोहन जैसे मानवीय सहज स्वार्थो को संस्कारों के माध्यम से नियंत्रण करना कठिन कार्य है ।

5. हिन्दू मुस्लिम संदर्भ में पं0 जी की सोच अग्रतावादी कही जा सकती है भारतीय मानस ने इस सोच को स्वीकार नहीं किया है और इसी कारण से पं0 जी पर्याप्त विवाद के विषय बने रहते तथा उन्हें साम्प्रदयिक संगठन के नेता के नाते जाना पहचाना गया ।

6. "संस्कृति" उपाध्याय की प्रिय अवधारणा है । संस्कृति शब्द का प्रयोग इनने व्यापक अर्थ में हुआ है कि उसकी ठीक ठीक परिभाषा करना कठिन है ।

7. पं. जी का हिन्दुत्व वादी तथा राष्ट्रवादी मन पश्चिम के विचारों के खिलाफ ते उसकी बुराइयों के कारण था ही लेकिन उसकी विदेशियत के कारण ज्यादा था । अतएव पं. परिश्चम की विकृति के प्रति ज्यादा सावधान व मुखर हो गये उन्होंने अतिवादी होकर, पश्चिम के पूर्ण विचार के ही मानवीय विकृति में से उत्पन्न विचार घोषित कर दिया ।

8. पं. जी की समाज परिवर्तन की सौम्य प्रक्रिया लोगों को बहुत कम पसन्द आती है । संस्कारित करने के मन्दगति वाले काम से लोगों को किसी चमत्कार की आशा नहीं दिखाई पड़ी ।

9. मातृ भाषा, हिन्दी के अतिरिक्त किसी भी विदेशी भाषा को स्वीकार न करने की दृढ़ता को लोगों ने उनकी हठवादिता मानी है ।

10. उनका प्रेरणा राष्ट्रवाद बैश्विक धारा के साथ एकरस होने में बाधक है । यही कारण है कि उन्होंने भारतीयता का मण्डन एवं पाश्चात्य का खण्डन अतिवादी होकर किया है ।

---

[1] तथैव पृष्ठ 355

ठ - पं0 दीनदयाल उपाध्याय एवं पं0 जवाहरलाल नेहरू का संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन -

हिन्दु-मुस्लिम एकता एवं मिश्रित संस्कृति तथा मिश्रित राष्ट्रीयता को राजनीति का आधार मानकर चलने वाले सन्तापक्ष के नेता देश के प्रथम प्रधान मंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू और हिन्दुत्व को राष्ट्रीयत्व हिन्दु राष्ट्रीयता को ही भारतीय राष्ट्रीयता मानने वाले विपक्ष के नेता पं. दीनदयाल उपाध्याय के मध्य सूक्ष्म तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास शोधकर्ता द्वारा किया गया है । शोधकर्ता के अनुसार लोकतन्त्र के इतिहास में दोनो की भूमिकाएं अमर हैं।

1- पं जवाहर लाल नेहरू का कहना था कि " स्वतन्त्र भारत का राजा न हिन्दू का होगा न मुसलमान का न इसाई का ।"[1] अर्थात् नेहरू जी हिन्दू-मुस्लिम एकता और मिश्रित राष्ट्रीयता के पोषक थे ।

पं0 दीन दयाल उपाध्याय हिन्दू मुस्लिम एकता के नाम पर मुस्लिम तुष्टीकरण को राष्ट्र विघातक मानते थे । उनका कहना था कि - " यदि हम एकता चाहते हैं तो भारतीय राष्ट्रीयता जो हिन्दी राष्ट्रीयता है तथा भारतीय संस्कृति जो हिन्दू संस्कृति है, का दर्शन करें उसे मानदण्ड मान कर चले, भागीरथी की इस पुण्य धारा में सभी प्रवाहों का संगम होने दें ।"[2]

2- पं0 नेहरू समाजवाद के समर्थक थे तथा भारत में समाजवादी लोकतन्त्र की या लोकतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना चाहते थे ।

पं0 दीनदयाल उपाध्याय समाजवादी प्रवृत्ति को जो समतावादी है, उसको तो वांछनीय मानते हैं लेकिन उस समाजवाद जिसका अर्थ है "राज्य के हाथ में समस्त शक्ति का केन्द्रीयकरण" के प्रबल विरोधी है । दीनदयाल उपाध्याय के अनुसार "प्रजातंत्र और समाजवाद एक साथ चल ही नही सकते । जैसे शेर बकरी का एक घाट पानी

---

1. राष्ट्र धर्म जनवरी-फरवरी 1950 पृष्ठ - 12
2. राष्ट्र चिन्तन, 'अखण्ड भारत - साध्य और साधन ' पं0 दीन दयाल उपाध्याय पृष्ठ - 36

पीना असम्भव है । समाजवादी बन्दूक और गोली का पहला शिकार निश्चित रूप से कोई लोकतन्त्रवादी ही होगा ।" इस प्रकार दीनदयाल जी "मानव्य" एवं उसके स्वातन्त्र्य के पक्षपाती हैं ।

3- पं नेहरू साम्यवाद के अनुयायी थे । कांग्रेस कम्युनिष्ट गठजोड़ से उनकी साम्यवादी विचारधारा स्पष्ट परिलक्षित होती है ।

पं. दीनदयाल उपाध्याय नेहरू जी के साम्यवादी प्रेम को देश के लिए घातक मानते थे । चीन के ऊपर विश्वास करने का मुख्य कारण साम्यवादी प्रेम ही था जिससे नेहरू जी ने धोखा खाया और भारत को चीनी आक्रमण का सामना करना पड़ा ।

4- पं. नेहरू कट्टर' सेक्युलर ' अर्थात् धर्म निरपेक्षता वादी थे । इस नाते मुसलमानों को संतुष्ट रखने का सदैव प्रयास करते रहे ।

पं. दीनदयाल उपाध्याय ' सेक्युलर ' और ' धर्मनिरपेक्षता ' शब्द तक के विरोधी थे । उनका कहना था कि धर्मनिरपेक्षता का अर्थ सर्वधर्मसमभाव तो ठीक है लेकिन मुसलमानों को अल्पसंख्यक के नाते विशेष सुविधा देना नितान्त गलत है । इस प्रकार नेहरू के इस सेक्युलरवाद को दीनदयाल जी ' साम्प्रदायिकता' को बढावा देना मानते थे ।

5- पं. नेहरू सहिष्णु'अन्तर्राष्ट्रीयतावादी' नेता के नाते हमारे सामने उपस्थित होते हैं । कश्मीर के प्रश्न पर जनता चाहती थी सम्पूर्ण कश्मीर की मुक्ति एवं भारत के साथ एकीकरण लेकिन नेहरू जी ने सहिष्णु प्रवृत्ति और अन्तर्राष्ट्रीयता वाद के कारण समझौता वादी दृष्टिकोण अपनाया । गोवा मुक्ति के लिए उन्होनें शान्ति पूर्वक वार्ता को ही महत्व दिया तथा बलप्रयोग न करने की घोषणा की । पूर्वी बंगाल में हुए अत्याचारों से हिन्दु बौखला गए लेकिन नेहरूजी ने शान्तिपूर्वक समझौता किया । चीनी आक्रमण के बाद भी पं. नेहरू ने आक्रांताओं के हटाने के लिए बलप्रयोग न करने

की घोषणा की तथा ' पंचशील ' के सिद्धान्तों का अनुपालन किया ।

पं. दीनदयाल उपाध्याय जयिष्णु राष्ट्रवाद के पोषक तथा पराक्रम वादी प्रखर राष्ट्रवाद के प्रवक्ता थे । उनका कहना था कि सहिष्णुता की प्रवृत्ति पर इतना जोर दिया जाने लगा है कि जयिष्णुता का भाव ओझल होता जा रहा है । दुनियां की हर जाति के सामने झुकते जाना ही ' सहिष्णुता ' है ! आत्मरक्षार्थ भी हम युद्ध करने के लिए तैयार नही हैं ।

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघसमाज में ' जयिष्णु प्रवृत्ति ' उत्पन्न करने का कार्य करता है इसीलिए दीनदयाल जी ने ' सहिष्णुता वादियों ' को ललकारते हुए कहा है "बिना जयिष्णुता की भावना के न तो कोई समाज जिन्दा रह सकता है न वह अपने जीवन का विकास ही कर सकता है ।"[1]

6- पं. नेहरू धर्मविहीन राज्य की स्थापना करना चाहते थे जबकि पं. दीनदयाल जी का मन्तव्य था कि ' अत्याचारी धर्मविहीन राज्य को नष्ट करके धर्मराज्य की स्थापना करना ही हमारे देश का चिरन्तन आर्दश है । '[2]

7- पं. नेहरू द्रुतगति से भारत का आर्थिक विकास कर के दुनिया की प्रगति की दौड़ में शामिल होना चाहते थे इसलिए मशीनों एवं बड़े कारखानों के पक्षधर थे ।

पं. दीनदयाल जी सहज गति के पक्षधर थे क्रमिक विकास को टिकाऊ तथा कम समस्याऐं पैदा करने वाला मानते थे । ' सबको काम ' उनकी वरीयता थी ।

8- पं. नेहरू पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति को विकास का द्योतक मानते थे ।

श्री उपाध्याय भारतीय संस्कृति के प्रति अटूट श्रद्धा रखते थे । तथा भारतीय संस्कृति को ही भारत का आधार माना ।

---

1. पांञ्चजन्य विजयादशमी विशेषांक सं0 2006 पृष्ठ - 2

2. पाञ्चजन्य सं0 2008

9- पं0 नेहरू अंग्रेजी भाषा के हिमायती थे तथा अंग्रेजी को अन्य भारतीय भाषाओं के समान स्थापित करना चाहते थे।

पं0 दीनदयाल उपाध्याय 'अंग्रेजी' को मानसिक दासता का चिन्ह मानते थे । उनका विचार था कि "अंग्रेजी के माध्यम से पश्चिम की नकल करके हम विश्व को जो कुछ दे सकते हैं उससे कई गुना मूल्यवान योगदान हम अपनी भाषाओं के द्वारा दे सकते हैं ।"[1]

10- पं0 नेहरू अन्तराष्ट्रयतावादी, मानववादी, सेक्युलरवादी, धर्मनिरपेक्षतावादी, अल्पसख्यकवादी, पाश्चात्यवादी, समाजवादी और साम्यवादी विचारधाराओं से ओतप्रोत मिश्रित संस्कृति के संरक्षक के नाते भारत को विश्व के अन्य देशों की बराबरी पर खड़ा करने वाले महानायक थे ।

दूसरी ओर पं0 दीनदयाल उपाध्याय एक महान् आदर्शवादी, अध्यात्मवादी, हिन्दूवादी, प्रखर राष्ट्रभक्त, भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता, महान् धार्मिक तथा एकात्ममानववादी विचारक थे । उनके बारे में स्वयं पं0 नेहरू का मन्तव्य इस प्रकार था -

"वे मातृभूमि की अखण्डता और एकता के पुजारी थे । जनसंघ में रहते हुए भी उन्होंने सदैव देश हित को दलीय हितों से ऊँचा स्थान दिया था ।"[2]

उपरोक्त दोनों महापुरूषों के संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन के उपरान्त शोधकर्ता इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि दोनों में वैचारिक मतभिन्नता होते हुए भी किसी प्रकार का आपसी मनोमालिन्य नहीं था तथा दोनों में एक साम्य अवश्य था कि दोनों राष्ट्र के लिए जिए राष्ट्र के लिए मरे । अपनी अपनी विचारधारा के अनुसार देश का मार्गदर्शन किया । राष्ट्र सदैव उन दोनों हुतात्माओं का चिर ऋणी रहेगा ।

---

1. पोलिटिकल डायरी स्वभाषा और सुभाषा
   पं.दीन दयाल उपाध्याय — पृष्ठ - 91
2. दीनदयाल उपाध्याय व्यक्ति दर्शन
   कमल किशोर गोयनका — पृष्ठ - 42
   दीनदयाल शोध संस्थान, नई दिल्ली ।

ङ- "अग्रिम अध्ययन के लिए सुझाव"

1. पं0 दीनदयाल उपाध्याय और स्वामी विवेकानंद के शैक्षिक विचारों का तुलनात्मक अध्ययन'
2. 'भारतीय संस्कृति पर आधारित राष्ट्रीय शिक्षा'
3. 'एकात्ममानववाद और भारतीय शिक्षा'
4. 'शिक्षा का आधार-प्रखर राष्ट्रवाद'
5. "'राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और धर्माधारित शिक्षा'–
एक अध्ययन"

उपसंहार:-

पं0 दीनदयाल उपाध्याय धवल चरित्रवाले राजनेता एवं विचारक थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक तथा भारतीय जनसंघ के महामंत्री तथा अध्यक्ष के रूप में उन्होंने राष्ट्र की अविराम सेवा की। महान् राष्ट्रवादी, पराक्रमवादी और हिन्दुत्ववादी चिंतक थे। एकात्ममानववाद उनके भारतीय चिंतन का ही परिणाम है जो राष्ट्र का ही नहीं आज सम्पूर्ण मानवता का मार्गदर्शन करने में सक्षम सिद्ध हो रहा है।

प0 दीनदयाल उपाध्याय पश्चिम की सभी विचारधाराओं को अपूर्ण एकांगी एवं प्रतिक्रियावादी मानते थे। पश्चिम द्वारा मानव को रोटी कपड़ा और मकान की आवश्यकताओं वाला प्राणी निरूपित किये जाने को वे असंगत तथा 'राजनीतिक प्राणी' 'सामाजिक प्राणी' या आर्थिक प्राणी की संज्ञा को एकांगी मानते थे। उन्होंने माना है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ही मानव की व्याष्ट व समष्टिगत आवश्यकता है। इन चारों पुरूषार्थों के अनुसार ही हमारी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक विचारधाराओं को विकसित किया जाना चाहिए। इसी चिन्तन से ही उनका 'एकात्म मानववाद' प्रकट हुआ।

पं. दीनदयाल जी एक सन्त राजनेता थे । शिक्षा संस्कार एवं धर्म उनकी प्रमुख अभिधारणायें हैं । वे लोकतन्त्र के लिए लोकमत परिष्कार को आवश्यक मानने वाले, अर्थशास्त्र नियंत्रित उद्योग के विरोधी, एवं धर्म नियंत्रित अर्थ के पक्षधर थे । समाज को नियंत्रित करने वाली शक्ति राजनीति में नही होती वरन् संस्कृति में होती है उनका ऐसा मन्तव्य था इसी लिए ' संस्कृति ' उनका प्रिय विषय बनी । अतः वे नेता कम सांस्कृतिक और शैक्षिक कार्यकर्ता ज्यादा थे । उनका ध्यान राजनीति की अपेक्षा संगठनिक शक्ति को बढ़ाने वैचारिक चिंतन पर अधिक था ।

प्रमुख विरोधी दल के नेता के नाते उन्होने शासन की त्रुटियों को असंदिग्ध रूप से प्रकट करने का कार्य अवश्य किया लेकिन उनके अन्दर किसी के प्रति कटुता नही थी । उनके लेखो और वाणी में सौम्य था चेहरे पर सदैव भावपूर्ण निश्छल मुस्कान खेलती रहती थी । उनके इसी स्वभाव ने उन्हें ' अजात शत्रु ' बनाया ।

वर्तमान भारत में चारो ओर ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, रिश्वत, लोलुपता, बेइमानी अत्याचार, अनाचार, भ्ष्टाचार और घोटालों का बोलबाला है । राष्ट्र का सब प्रकार से पतन होता जा रहा है । अनेकानेक समस्याएं जैसे महंगाई बेरोजगारी, जातिवाद, आतंकवाद और अलगाववाद। देश की दुरावस्था को देखकर किसी भी राष्ट्रवादी व्यक्ति का चिन्तित होना स्वाभाविक है । इसी परिप्रेक्ष्य में शोध-कर्ता ने भी उपरोक्त सभी समस्याओं के कारण को खोजने का प्रयास किया तो पाया कि वैचारिक शून्यता या शैक्षिक अराजकता ही उपरोक्त सभी समस्याओं की जननी है । इन समस्याओं के निदान के लिए ऐसी विचारधारा या शिक्षा की आवश्यकता है, जो इस दुरावस्था को भेद सके । अतः शोध-कर्ता की दृष्टि निष्पृह कर्मयोगी, अनाशक्त राजनेता एवं भारतीय सांस्कृतिक चिन्तन धारा के वाहक पं. दीनदयाल उपाध्याय पर पड़ी, और उनके द्वारा प्रणीत् ' एकात्ममान-व-दर्शन ' वर्तमान दुरावस्था को दूर करने में सक्षम प्रतीत हुआ । इसलिए शोधकर्ता ने पं. दीनदयाल उपाध्याय के विचारों को एकत्र करके प्रस्तुत करने का लघुप्रयास किया है । शोध-कर्ता को विश्वास भी है कि यदि पंड़ित दीनदयाल उपाध्याय के विचारों के अनुसार शिक्षा पद्धति का निर्माण किया गया तो निश्चित ही भारत अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करेगा । और जगद्-गुरू के पद पर पुनः पदासीन होता हुआ ' परम वैभव ' के शिखर तक पहुंच जाएगा ।

अलोचना तो सभी की होती है मर्यादा पुरूषोत्तम भगवान राम की भी आलोचना हुई फिर दीनदयाल जी आलोचना से कैसे बच सकते थे लेकिन उनका एकात्ममानव दर्शनभारत के गर्भनाल से जुड़ा हुआ ऐसा वैचारिक दर्शन है जो भारत को ही नहीं अपितु दिग्भ्रमित विश्व मानव को पाथेय बन कर सदैव मार्गदर्शन करता रहेगा ऐसा शोधकर्ता का विश्वास है ।

इति

संदर्भ ग्रन्थ मालिका

अग्निहोत्री डा0 रवीन्द्र - 'भारतीय शिक्षा की वर्तमान समस्याएं' रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर

आचार्य श्री राम शर्मा - 'नैतिक शिक्षा' (प्रथम भाग) युग निर्माण योजना, मथुरा ।
- 'युग की मांग प्रतिभा परिष्कार' (भाग-1) युग निर्माण योजना गायत्री, गायत्री तपोभूमि, मथुरा

अदावल डा0 सुबोध, 'शिक्षा के सिद्धांत' बिनोद पुस्तक मन्दिर आगरा

अवस्थी, ब्रह्मदत्त -'राष्ट्रवाद,' लोकहित प्रकाशन लखनऊ 4

उपाध्याय, दीनदयाल, - 'सम्राट चन्द्रगुप्त' लोकहित प्रकाशन राजेन्द्र नगर लखनऊ-4
- 'जगद्गुरू शंकराचार्य' लोकहित प्रकाशन लखनऊ 4
- 'राष्ट्र जीवन की दिशा' सम्पादक,- रामशंकर अग्निहोत्री भानुप्रताप शुक्ल, लोकहित प्रकाशन लखनऊ
- 'राष्ट्र चिन्तन,' राष्ट्रधर्म- पुस्तक प्रकाशन लखनऊ
- 'पोलिटिकल डायरी' सुरूचि प्रकाशन, केशव कुन्ज नई दिल्ली-110055
- 'एकात्म मानव दर्शन' (दीनदयाल गुरूजी, ठेंगड़ी) सुरूचि प्रकाशन केशव कुन्ज नई दिल्ली 110055

- 'भारतीय अर्थनीति -विकास की एक दिशा,'
  लोकहित प्रकाशन लखनऊ 4
- 'भारतीय जनसंघ, सिद्धांत और नीतियाँ'
  लोकहित प्रकाशन लखनऊ 4

ओशो, भगवान् रजनीश
- 'शिक्षा में क्रांति'
- 'शिक्षा नए प्रयोग'
- 'शिक्षा और विद्रोह'
- 'शिक्षा और दर्शन'
- 'नयी क्रांति की रूपरेखा'
- प्रकाशित द्वारा डायमण्ड पाकेट बुक्स
- 'नए भारत की खोज'
  साधना पाकेट बुक्स
  39 यू0ए0 बैंग्लोरोड
  दिल्ली-7

कपिल, हंसकुमार
- 'अनुसंधान विधियाँ'
  हरप्रसाद भार्गव, प्रकाशक
  4/230 कचहरी घाट आगरा 4

कुलकर्णी शरद् अनन्त
- "पं0 दीनदयाल उपाध्याय, विचारदर्शन" (खण्ड 4)
  "एकात्म अर्थनीति," अनुवादक-मोरेश्वर तपस्वी
  सुरूचि प्रकाशन झंडेवाला नई दिल्ली 110055

केलकर, भालचंद्र कृष्णाजी
- "पण्डित दीनदयाल उपाध्याय"
  -विचार दर्शन (खण्ड 3)
  'राजनीतिक चिन्तन'
  अनुवादक-मोरेश्वर तपस्वी
  सुरूचि प्रकाशन झण्डेवाला नयी दिल्ली 110055

गुप्त रामबाबू	-'भारतीय शिक्षा का इतिहास' सामाजिक विज्ञान प्रकाशन, कानपुर
गोयनका कमल किशोर सम्पादक	-'पंडित दीनदयाल उपाध्याय व्यक्ति दर्शन' दीनदयाल शोध संस्थान रानी झाँसी मार्ग नई दिल्ली- 55
गोस्वामी तुलसीदास	-'रामचरित मानस' गीता प्रेस गोरखपुर
गोलवरकर माधवराव सदाशिवराव	-'विचार नवनीत' लोकहित प्रकाशन लखनऊ 4
चतुर्वेदी आचार्य सीताराम	-'शिक्षा प्रणालियाँ और उनके प्रवर्तक' प्रकाशक नन्द किशोर एण्ड संस पोस्ट बाक्स नं0 17 चौक वाराणसी
जोग बलवन्त नारायण	-'पण्डित दीनदयाल उपाध्याय विचारदर्शन' खण्ड-6 'राजनीति राष्ट्र के लिए' अनुवादक मोरेश्वर तपस्वी सुरुचि प्रकाशन झण्डेवाला, नई दिल्ली- 110055
ठेंगड़ी दन्तोपन्त	-'राष्ट्र' सम्पादक भानुप्रताप शुक्ल जानकी प्रकाशन नई दिल्ली

- 'एकात्म मानववाद-एक अध्ययन'
लोकहित प्रकाशन राजेन्द्र नगर
लखनऊ 226004

- 'पं0 दीनदयाल उपाध्याय'
विचार दर्शन खण्ड ।
तत्व जिज्ञासा
अनुवादक मोरेश्वर तपस्वी
सुरूचि प्रकाशन झण्डेवाला
नई दिल्ली-110055

तोमर लज्जाराम - 'भारतीय शिक्षा के मूल तत्व'
सुरूचि प्रकाशन केशव कुन्ज
झण्डेवाला नई दिल्ली- 110055

दुबे सत्यनारायण शरतेन्दु - 'शिक्षा का विज्ञान तथा तथा तकनीकी'
साहित्य प्रकाशन आगरा

देवधर विश्वनाथ नारायण - 'पंडित दीनदयाल उपाध्याय'
विचार दर्शन खण्ड 7
'व्यक्ति दर्शन'
अनुवादक
मोरेश्वर तपस्वी
सुरूचि प्रकाशन झण्डेवाला
नई दिल्ली-110055

नेने विनायक दामोदर - 'पण्डित दीनदयाल उपाध्याय'
विचार दर्शन खण्ड 2
'एकात्म मानव दर्शन'
अनुवादक मोरेश्वर तपस्वी
सुरूचि प्रकाशन झण्डेवाला
नई दिल्ली 110055

पाण्डेय रामशकल - 'शिक्षा दर्शन'
विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा ।
- विश्व के श्रेष्ठ शिक्षाशास्त्री
विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा ।

पाठक एवं त्यागी - 'शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त'
विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा ।

पाठक पी.डी. - 'भारतीय शिक्षा की समस्याएं'
विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा ।

भाई योगेन्द्र जीत - 'शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार'
रिसर्च, नई दिल्ली ।

भिषीकर चन्द्रशेखर परमानन्द - 'पं. दीनदयाल उपाध्याय विचार दर्शन'
खण्ड - 5 राष्ट्र की अवधारणा
अनुवादक मोरेश्वर तपस्वी
सुरूचि प्रकाशन झण्डेवाला,
नई दिल्ली - 110055

मधोक बलराज - 'भारतीयकरण'
राजपाल एण्ड सन्स, नई दिल्ली ।

महामहोपाध्याय बालशास्त्री हरदास - 'वैदिक राष्ट्र दर्शन'
अनुवादक कु.सी.सुदर्शन
सुरूचि साहित्य केशव कुञ्ज,
झण्डेवाला, नई दिल्ली ।

मिश्रा गणेश मूर्ति - 'शिक्षाशोध'
स्वातन्त्र्योत्तर उत्तर प्रदेश में उच्च शिक्षा
का विकास 1950-1975
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी ।

लाल रमन बिहारी — 'शिक्षण कला एवं तकनीकी'
'शिक्षा के दार्शनिक सिद्धान्त'
रस्तोगी पब्लिकेशन
शिवाजी रोड मेरठ-250002

वर्मा, डा. वैद्यनाथ प्रसाद — 'विश्व के महान शिक्षा शास्त्री'
बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी पटना-3

वर्मा, जवाहर लाल — 'शिक्षा शोध-'महामना मदन मोहन मालवीय के शैक्षिक विचार।'
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय,झाँसी।

व्यास महर्षि वेद — 'श्रीमद् भगवतगीता'
गीता प्रेस गोरखपुर।

विवेकानन्द स्वामी — 'स्वाधीन भारत। जय हो।'
श्री राम कृष्ण आश्रम कानपुर।

-'भारतीय व्याख्यान
प्रकाशक स्वामी व्योपरूपानन्द
अध्यक्ष राम कृष्ण मठ
धन्तोली नागपुर-440012

-'उन्तिष्ठ जाग्रत' संकलन कर्ता, एकतानाथ रानडे
अनुवादक देवेन्द्र स्वरूप अग्रवाल
लोक हित प्रकाशन'संस्कृत भवन'
राजेन्द्र नगर,लखनऊ

-'विश्व में हिन्दू चेतना के प्रर्वतक स्वामी विवेकानन्द'
संकलन कर्ता राम लाल
शरद प्रकाशन माधव भवन
जयपुर हाउस ,आगरा।

-'भारत का भविष्य'
-'शिकागो में स्वामी विवेकानन्द'
राम कृष्ण मठ नागपुर।

सक्सेना डा. सरोज - 'विद्यालय प्रशासन एवं स्वास्थ्य शिक्षा' साहित्य प्रकाशन, आगरा

सरस्वती महर्षि दयानन्द - 'सत्यार्थ प्रकाश' आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट 455, खारी बावली, नई दिल्ली - 6

सारस्वत डा. मालती - 'शिक्षा मनोविज्ञान की रूपरेखा' आलोक प्रकाशन लखनऊ, इलाहाबाद ।

शर्मा डा. महेशचन्द्र - 'पं. दीनदयाल उपाध्याय - कर्तृत्व एवं विचार' बसुधा पब्लिकेशन प्रा. लि. 810 अरूणाचल 19 वाराखम्भा मार्ग, नई दिल्ली 110001

शर्मा डा. रामनाथ -'शिक्षा दर्शन' रस्तोगी प्रकाशन मेरठ

- 'राष्ट्र धर्मदृष्टा-श्री अरविन्द्र' लोकहित प्रकाशन लखनऊ - 4

शोध साहित्य (रिसर्च जनरल्स)

'शैक्षिक प्रगति विशेषांक' 1976

'शिक्षा प्रणाली विशेषांक' 1977

'बाल समस्या विशेषांक' 1980

'शैक्षिक तकनीकी विशेषांक' 1986

'नई शिक्षा नीति'

आधार एवं क्रियान्वयन 1988

पत्र दैनिक एवं साप्ताहिक पत्र

'दैनिक जागरण'

'दैनिक भास्कर' (झाँसी संस्करण)

'अमर उजाला (कानपुर)

'पाञ्चजन्य' (साप्ताहिक)

(दिल्ली)

पत्रिकाएं

राष्ट्रधर्म (मासिक) एवं पं.दी.द.उ. रजत जयन्ती विशेषांक संस्मृति अंक अक्टूबर 1996

राष्ट्र देय (पाक्षिक)

समग्र दृष्टि (स्मारिका)

विद्या लोक (वार्षिक)

उत्तर प्रदेश 'संदेश' (मासिक)

पं.दीन दयाल उपाध्याय विशेषांक)

सितम्बर 1991 अंक 9

पथ संकेत (पाक्षिक)

'पञ्जिकायें

एकात्मता स्त्रोत्रम्	(लोक हित प्रकाशन,लखनऊ-4)
एकात्मा के पुजारी	-दीनदयाल उपाध्याय
	(लेखक-' भाऊ राव देवरस)
	शिव कुमार अस्थाना
दीन दयाल उपाध्याय की वाणी	संकलन कर्ता कृष्णा नन्द सागर
	जागृति प्रकाशन नोएडा
शिक्षा में राष्ट्रीय बोध	विद्या भारती(संकलन)
	(दैनिक स्वदेश से आभार)
	(लोक हित प्रकाशन राजेन्द्र नगर,लखनऊ)
राष्ट्रीय एकता और समरसता	डा. वा. मो. आठले
	लोक हित प्रकाशन लखनऊ
लोकतंत्र के पुरोधा	पं. दीन दयाल उपाध्याय,
	सूचना एवं जन सम्पर्क विभाग लखनऊ .
	लिमिटेड 1991
डंकल प्रस्ताव अर्थात् गुलामी का दस्तावेज,	दन्तोपंत हेंगृडी
	प्रकाशक स्वदेशी जागरण मंच,नई दिल्ली
राष्ट्रीय सुरक्षा का व्यापक संदर्भ	लाल कृष्ण अडवानी
	स्वदेशी जागरण मंच,नई दिल्ली
देश प्रेम की साकार अभिव्यक्ति	स्वदेशी, लेखक-दंतोपंत हेगृडडी स्वदेशी जागरण मंच
	नई दिल्ली
तीसरा विकल्प	लेखक दंतोपंत ठेंगडी
	स्वदेशी मंच जागरण नई दिल्ली
आर्थिक गुलामी से भारत को बचाने का कारगर उपाय:	
-स्वदेशी एक सार्थक विकल्प	एस गुरू मूर्ति
	स्वदेशी जागरण मंच
	नई दिल्ली।